योग प्रयोग अयोग

(विक्रम विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोध प्रबंध के आधार पर)

डॉ. साध्वी मुक्तिप्रभा

एम. ए., पी-एच. डी.

प्रकाशक

उमरावमल चोरड़िया, जयपुर

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

योग प्रयोग अयोग

योग प्रयोग अयोग . प्रकाशन वर्ष : १९९३ वि स २०५०, प्रकाशक . प्राकृत भारती अकादमी एव उमरावमल चोरडिया अध्यक्ष : अ भा श्वे स्थानकवासी जैन कान्फ्रेन्स (राजस्थान सभाग) १३, तख्ते शाही रोड, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, जयपुर फोन : ५६१९४३ . ५६३७०४ प्राप्ति स्थान : जैन पुस्तक मन्दिर, भारती भवन, चौडा रास्ता, जयपुर मुद्रण व्यवस्था . प्रेमचन्द जैन, प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस, १/११, साहित्य कुञ्ज, आगरा-२ लागत मात्र मूल्य : एक सौ रुपये मात्र।

द्वितीय संस्करण १९९५

प्रेमचन्द जैन द्वारा प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस,
१/११, साहित्य कुञ्ज महात्मा गाँधी मार्ग, आगरा–२ मे मुद्रित
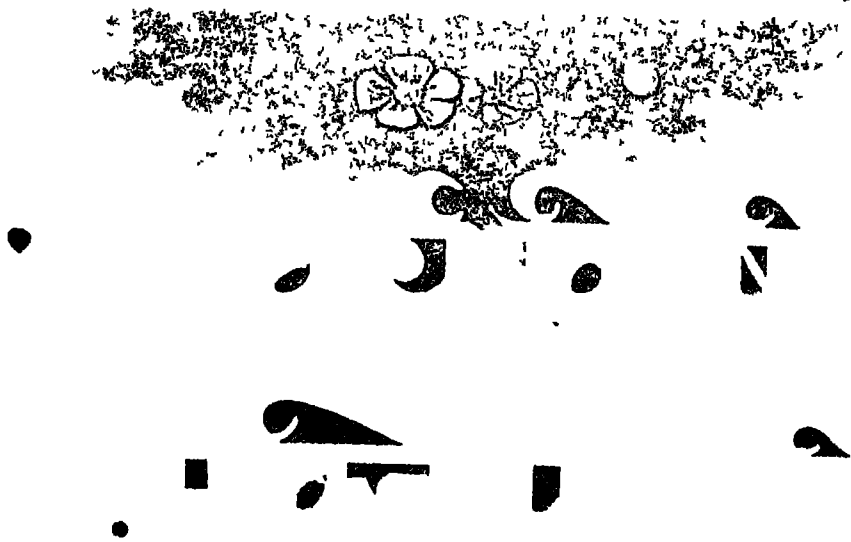
ओ महायोगी, परम प्रयोगी, सदा अयोगी,
आदिश्वर !
योगो मे विराम ! प्रयोगो के परिणाम ! अयोगों में अविराम
आपको शतकोटि प्रणाम !
प्रभु ! आप,
अयोगी हो पर योग के सिद्धिमय सेतु हो,
जन जन के अन्त करण के कल्याणमय केतु हो !
पूज्य हो पूजा के पुण्यमय प्रकरण हो
योग-प्रयोग-अयोग रूप अनुभूति के अवतरण हो।
प्रभु !
तेरा ही तुझको अर्पण करती हूँ।
मेरे शुभ योग-अयोग के भावो का,
तेरे पुण्यमय प्रयोगो के स्रावों का,
चरणो मे समर्पण करती हूँ।

— तेरी मुक्तिप्रभा

योग शब्द का साधना के क्षेत्र मे प्रचलित अर्थ है--साधना की विशिष्ट पद्धति जिससे आत्मा का उत्कर्ष हो और परम ध्येय की प्राप्ति हो।

जैन दर्शन मे "योग" शब्द एक अन्य अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। वहॉ आत्मा से कर्मों के आबद्ध होने को योग कहा है।

इस अर्थ भेद के कारण यह भ्रान्ति उत्पन्न होती रही है कि जैनो का योग से विरोध है। किन्तु वास्तव मे तो जैन दर्शन एक साधना बहुल दर्शन है और उसमें योग-साधना का महत्त्व प्रत्येक बिन्दु पर है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे साध्वी श्री मुक्ति प्रभाजी ने योग-साधना से सबधित जैन वागमय मे से यथा सम्भव सम्पूर्ण सामग्री सकलित कर उसका सैद्धान्तिक, प्रायोगिक तथा आध्यात्मिक दृष्टियो से विश्लेषण किया है। साथ ही इसमे आधुनिक वैज्ञानिक खोज से प्राप्त सूचनाओ का भी सुन्दर समन्वय किया है।

प्राकृत भारती योग-साधना विषयक ग्रन्थों की शृखला मे हेम चन्द्राचार्य के योगशास्त्र के अग्रेजी अनुवाद के पश्चात् यह महत्त्वपूर्ण शोध ग्रन्थ अपने पाठको के समक्ष पुष्प 84 के रूप मे प्रस्तुत कर रही है। आशा है पाठको, विशेषकर साधना मे रुचि रखने वाले को यह चिन्तन-मनन को प्रेरित करेगी।

साध्वी जी ने वर्ष 1981 मे डॉ बी बी रायनाडे के निदेर्शन मे विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन को शोध ग्रन्थ की प्रस्तुति की थी।

हम साध्वी श्री मुक्ति प्रभाजी के प्रति आभार प्रकट करते हैं कि उन्होने प्रकाशन का अवसर प्राकृत भारती को प्रदान किया।

उमरावमल चोरड़िया	म. विनय सागर	देवेन्द्र राज मेहता
अध्यक्ष	निदेशक	सचिव
अ भा श्वे स्था जैन कॉन्फ्रेन्स	प्राकृत भारती अकादमी	प्राकृत भारती अकादमी
(राजस्थान)	(जयपुर)	(जयपुर)

आशीर्वचन

भारतीय सस्कृति मे योग का अत्यधिक महत्त्व रहा है। अतीत काल से ही भारत से मूर्धन्य मनीषिगण योग पर चिन्तन, मनन और विश्लेषण करते रहे हैं, क्योकि योग से मानव जीवन पूर्ण विकसित होता है। मानव-जीवन मे शरीर और आत्मा इन दोनो की प्रधानता है। शरीर स्थूल है और आत्मा सूक्ष्म है। पौष्टिक और पथ्यकारी पदार्थो के सेवन से तथा उचित व्यायाम आदि से शरीर पुष्ट और विकसित होता है, किन्तु आत्मा का विकास योग से होता है। योग से काम, क्रोध, मद, मोह आदि विकृतियाँ नष्ट होती हैं। आत्मा की जो अनन्त शक्तियाँ आवृत हैं वे योग से अनावृत होती हैं और आत्मा की ज्योति जगमगाने लगती है।

आत्मा-विकास के लिए योग एक प्रमुख साधन है। उसका सही अर्थ क्या है ? उसकी क्या परम्परा है ? उसके सबध मे चिन्तक क्या चिन्तन करते हैं ? और उनका किस प्रकार योगदान रहा है ? आदि प्रश्नो पर यहाँ पर विचार किया जा रहा है।

योग शब्द "युज्" धातु और "घञ्" प्रत्यय मिलने से बनता है। "युज्" धातु दो हैं, जिनमे से एक का अर्थ है—सयोजित करना, जोड़ना और दूसरी का अर्थ है मन की स्थिरता, समाधि। प्रश्न यह है कि भारतीय योग दर्शन मे इन दोनो अर्थों मे से किसे अपनाया गया है ? उत्तर मे निवेदन है कि कितने ही विज्ञो ने "योग" का जोडने के अर्थ मे प्रयोग किया है तो कितने ही विज्ञो ने समाधि के अर्थ मे। आचार्य पतजलि ने "चित्तवृत्ति के निरोध को योग" कहा है। आचार्य हरिभद्र ने जिससे आत्मा की विशुद्धि होती है, कर्म-मल नष्ट होता है और मोक्ष के साथ सयोग होता है, उसे योग कहा है। उपाध्याय यशोविजय जी ने भी योग की वही परिभाषा की है। बौद्ध चिन्तको ने योग का अर्थ समाधि किया है।

योग के बाह्य और आभ्यन्तर ये दो रूप हैं। साधना मे चित्त का एकाग्र होना या स्थिरचित्त होना यह योग का बाह्य रूप है। अहभाव, ममत्वभाव आदि मनोविकारो का न होना—योग का आभ्यन्तर रूप है। कोई प्रयत्न से चित्त को एकाग्र भी कर ले पर अहभाव और ममभाव प्रभृत्ति मनोविकारो का परित्याग नही करता है तो उसे योग की सिद्धि प्राप्त नही हो सकती। यह केवल व्यावहारिक योग साधना है, किन्तु पारमार्थिक या भावयोग साधना नही है। अहंकार और ममकार से रहित समत्वभाव की साधना को ही गीताकार ने सच्चा योग कहा है।

वैदिक परम्परा का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है। उसमे आधिभौतिक और आधिदैविक वर्णन ही मुख्य रूप से हुआ है। ऋग्वेद में योग शब्द का व्यवहार अनेक स्थलो पर हुआ है। किन्तु वहाँ पर योग का अर्थ ध्यान और समाधि नही है, पर योग का अर्थ जोडना, मिलाना और सयोग करना है। उपनिषदो मे भी जो उपनिषद् बहुत ही प्राचीन है, उनमे भी आध्यात्मिक अर्थ मे योग शब्द व्यवहृत नही हुआ है, किन्तु उत्तरकालीन कठोपनिषद, श्वेताश्वतर उपनिषद आदि में आध्यात्मिक अर्थ मे योग शब्द का प्रयोग हुआ है। गीता मे कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने योग का खासा अच्छा निरूपण किया है।

योगवासिष्ठ ने भी योग पर विस्तार से चर्चा की है। ब्रह्मसूत्र मे भी योग पर खण्डन और मण्डन की दृष्टि से चिन्तन किया गया है। किन्तु महर्षि पतजलि ने योग पर जितना व्यवस्थित रूप से लिखा उतना व्यवस्थित रूप से अन्य वैदिक विद्वान नही लिख सके। वह बहुत ही स्पष्ट तथा सरल है, निष्पक्षभाव से लिखा हुआ है। प्रारम्भ से अन्त तक की साधना का एक साथ सकलन आकलन है। पातजल योग सूत्र की तीन मुख्य विशेषताएँ हैं—

प्रथम, वह ग्रन्थ बहुत ही सक्षेप मे लिखा गया है। दूसरी विशेषता, विषय की पूर्ण स्पष्टता है और तीसरी विशेषता, अनुभव की प्रधानता है। प्रस्तुत ग्रन्थ चार पाद मे विभक्त है। प्रथम पाद का नाम समाधि है, द्वितीय का नाम साधन है, तृतीय का नाम विभूति है और चतुर्थ का नाम कैवल्य पाद है। प्रथम पाद मे मुख्य रूप से योग का स्वरूप, उसके साधन तथा चित्त को स्थिर बनाने के उपायो का वर्णन है। द्वितीय पाद मे क्रिया योग, योग के अग, उनका फल, और हेय, हेतु, हान और हानोपाय इन चतुर्व्यूह का वर्णन है। तृतीय पाद मे योग की विभूतियो का विश्लेषण है। चतुर्थ पाद मे परिणामवाद की स्थापना, विज्ञानवाद का निराकरण और कैवल्य अवस्था के स्वरूप का चित्रण है।

भागवत पुराण मे भी योग पर विस्तार से लिखा गया है। तात्रिक सम्प्रदाय वालो ने भी योग को तन्त्र मे स्थान दिया है। अनेक तन्त्र ग्रन्थो मे योग का विश्लेषण उपलब्ध होता है। महानिर्वाणतन्त्र और षट्चक्र निरूपण मे योग पर विस्तार से प्रकाश डाला है। मध्यकाल मे तो योग पर जन-मानस का अत्यधिक आकर्षण बढा जिसके फलस्वरूप योग का एक पृथक सम्प्रदाय बना जो हठयोग के नाम से विश्रुत है। जिसमे आसन, मुद्रा, प्राणायाम प्रभृति योग के बाह्य अगो पर विशेष बल दिया गया। हठयोग-प्रदीपिका, शिव-सहिता, घेरण्ड-संहिता गोरक्षा-पद्धति, गोरक्ष-शतक, योग तारावली, बिन्दुयोग, योग-बीज, योग-कल्पद्रुम आदि मुख्य ग्रन्थ है। इन ग्रन्थो मे

आसन, बन्ध, मुद्रा षट्कर्म कुम्भक, पूरक, रेचक आदि बाह्य अगो का विस्तार से विश्लेषण किया है। घेरण्ड सहिता मे तो आसनो की सख्या अत्यधिक बढ गई है।

गीर्वाण गिरा मे ही नही अपितु प्रान्तीय भाषाओ मे भी योग पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये है। मराठी भाषा मे गीता पर ज्ञानदेव रचित ज्ञानेश्वरी टीका मे योग का सुन्दर वर्णन है। कबीर का बीजक ग्रन्थ योग का श्रेष्ठ ग्रन्थ है।

बौद्ध परम्परा मे योग के लिए समाधि और ध्यान शब्द का प्रयोग मिलता है। बुद्ध ने अष्टागिक मार्ग को अत्यधिक महत्व दिया है। बोधित्व प्राप्त करने के पूर्व श्वासोच्छ्वास निरोध की साधना प्रारभ की थी। किन्तु समाधि प्राप्त न होने से उसका परित्याग कर अष्टागिक मार्ग को अपनाया। अष्टागिक मार्ग मे समाधि के ऊपर विशेष बल दिया गया है। समाधि या निर्वाण प्राप्त करने के लिए ध्यान के साथ अनित्य भावना को भी महत्व दिया है। तथागत बुद्ध ने कहा– "भिक्षो ! रूप अनित्य है, वेदना अनित्य है, सज्ञा अनित्य है, सस्कार अनित्य है, विज्ञान अनित्य है। जो अनित्य है वह दु खप्रद है। जो दु खप्रद है वह अनात्मक है। जो अनात्मक है वह मेरा नहीं। वह मैं नही हूँ। इस तरह ससार के अनित्य स्वरूप को देखना चाहिए।"

जैन आगम साहित्य में योग शब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु योग शब्द का अर्थ जिस प्रकार वैदिक और बौद्ध परम्परा मे हुआ है, उस अर्थ मे योग शब्द का प्रयोग नही हुआ है। वहाँ योग शब्द का प्रयोग मन, वचन, काया की प्रवृत्ति के लिए हुआ है। वैदिक और बौद्ध परम्परा मे जिस अर्थ को योग शब्द व्यक्त करता है, उस अर्थ को जैन परम्परा मे तप और ध्यान व्यक्त करते हैं।

ध्यान का अर्थ – मन, वचन और काया के योगो को आत्म चिन्तन मे केन्द्रित करना। ध्यान मे तन, मन और वचन को स्थिर करना होता है। केवल सास लेने की छूट रहती है, सास के अतिरिक्त सभी शारीरिक क्रियाओ को रोकना अनिवार्य है। सर्वप्रथम शरीर की विभिन्न क्रियाओ को रोका जाता है। वचन को नियन्त्रित किया जाता है, और उसके पश्चात् मन को आत्म-स्वरूप में एकाग्र किया जाता है। प्रस्तुत साधना को हम द्रव्य-साधना और भाव-साधना कह सकते हैं। तन और वचन की साधना द्रव्य साधना और मन की साधना भाव साधना है।

जैन परम्परा मे हठयोग को स्थान नही दिया गया है और न प्राणायाम को आवश्यक माना है। हठयोग के द्वारा जो नियत्रण किया जाता है, उससे स्थायी लाभ नहीं होता, न आत्म-शुद्धि होती है और न मुक्ति ही प्राप्त होती है। स्थानाग, समवायाग, भगवती, उत्तराध्ययन आदि आगम साहित्य मे ध्यान लक्षण और उनके

प्रभेदो पर प्रकाश डाला है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यक निर्युक्ति मे ध्यान पर विशद् विवेचन किया है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र मे ध्यान पर चिन्तन किया है। किन्तु उनका चिन्तन आगम से पृथक नहीं है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने "ध्यानशतक" की रचना की। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण जैन ध्यान पद्धति के मर्मज्ञ ज्ञाता थे, उन्होंने ध्यान की गहराई मे जाकर जो अनुभव का अमृत प्राप्त किया उसे इस ग्रन्थ मे उद्धृत किया है।

आचार्य हरिभद्र ने जैन-योग पद्धति मे नूतन परिवर्तन किया, उन्होने योग बिन्दु, योगदृष्टि – समुच्चय, योगविंशिका, योगशतक और षोडशक प्रभृति अनेक ग्रथो का निर्माण किया। इन ग्रन्थो मे जैन परम्परा के अनुसार योग साधना का विश्लेषण करके ही सतुष्ट नही हुए, अपितु पातजल योगसूत्र मे वर्णित योग साधना और उनकी विशेष परिभाषाओ के साथ जैन योग साधना की तुलना की है और उसमे रहे हुए साम्य को बताने का प्रयास किया है।

आचार्य हरिभद्र के योग ग्रन्थो की निम्न विशेषताएँ है

1 कौन साधक योग का अधिकारी है और कौन योग का अनधिकारी है।

2 योग का अधिकार प्राप्त करने के लिए पहले की जो तैयारी अपेक्षित है, उस पर चिन्तन किया है ?

3 योग्यता के आधार पर साधको का विभिन्न दृष्टि से विभाग किया है और उनके स्वरूप और अनुष्ठान का भी प्रतिपादन किया गया है।

4 योग साधना के भेद प्रभेदो और साधन का वर्णन है।

योगबिन्दु मे योग के अधिकारी के अपुनर्बन्धक, सम्यक्दृष्टि, देशविरति और सर्वविरति से चार विभाग किए और योग की भूमिका पर विचार करते हए अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता, वृत्तिसक्षय ये पाच प्रकार बताये। योगदृष्टि समुच्चय मे ओधदृष्टि और योगदृष्टि पर चिन्तन किया है। इस ग्रन्थ मे योग के अधिकारियो को तीन विभागो मे विभक्त किया है। प्रथम भेद मे प्रारम्भिक अवस्था से विकास की अन्तिम अवस्था तक की भूमिकाओ के कर्म मल के तारतम्य की दृष्टि से मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा – ये आठ विभाग किए हैं। ये आठ विभाग पातजल योग सूत्र के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि तथा बौद्ध परम्परा के खेद, उद्वेग आदि अष्ट पृथक् जन चित्त दोषपरिहर और अद्वेष, जिज्ञासा आदि अष्ट योग गुणो को प्रकट करने के आधार पर किए गए है। योग शतक मे योग के निश्चय और व्यवहार–ये दो भेद किए गए है। योगविंशिका मे

धर्म साधना के लिए की जाने वाली क्रियाओ को योग कहा है और योग की स्थान, ऊर्जा, अर्थ, आलम्बन और अनालम्बन ये पॉच भूमिकाएँ बतायी हैं ।

आचार्य हरिभद्र के पश्चात् जैन योग के इतिहास के जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं– आचार्य हेमचन्द्र जिन्होने योगशास्त्र नामक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ का निर्माण किया है। इस ग्रन्थ मे पातजल योग सूत्र के अष्टाग योग की तरह श्रमण तथा श्रावक जीवन की आचार साधना को जैन आगम–साहित्य के प्रकाश मे व्यक्त किया है। इसमे आसन, प्राणायाम आदि का भी वर्णन है। पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानो का भी वर्णन किया है और मन की विक्षुप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन इन चार दशाओ का भी वर्णन किया है जो आचार्य की अपनी मौलिक देन है।

आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् आचार्य शुभचन्द्र का नाम आता है। ज्ञानार्णव उनकी महत्त्वपूर्ण रचना है। सर्ग 29 से 42 तक मे प्राणायाम और ध्यान के स्वरूप और भेदो का वर्णन किया है। प्राणायाम आदि से प्राप्त होने वाली लब्धियो पर परकाय–प्रवेश आदि के फल पर चिन्तन करने के पश्चात् प्राणायाम को मोक्ष रूप साध्यसिद्धि के लिए अनावश्यक और अनर्थकारी बताया है।

उसके पश्चात् उपाध्याय यशोविजय जी का नाम आता है, वे सत्योपासक थे। उन्होने अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, योगावतार बत्तीसी, पातजल योग सूत्र वृत्ति, योगविशिकाटीका, योग दृष्टिनी सज्झाय आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे है। अध्यात्मसार ग्रथ के योगाधिकार और ध्यानाधिकार प्रकरण मे गीता और पातजल योगसूत्र का उपयोग करके भी जैन परम्परा मे विश्रुत ध्यान के अवविध भेदो का समन्वयात्मक वर्णन किया है। अध्यात्मोपनिषद् में शास्त्रयोग, ज्ञानयोग, क्रियायोग और साम्ययोग के सबध मे चिन्तन करते हुए योगवासिष्ठ और तैत्तिरीय उपनिषद् के महत्वपूर्ण उद्धरण देकर जैनदर्शन के साथ तुलना की है। योगावतार बत्तीसी में पातजल योग सूत्र मे जो योग-साधना का वर्णन है, उसका जैन दृष्टि से विवेचन किया है और हरिभद्र के योग विशिका और षोडशक पर महत्त्वपूर्ण टीकाऍं लिखकर उसके रहस्यो को उद्घाटित किया है, जैनदर्शन की दृष्टि से पातजल योगसूत्र पर भी एक लघुवृत्ति लिखी है। इस तरह यशोविजयजी के ग्रन्थो मे मध्यस्थ भावना, गुण-ग्राहकता व समन्वयक दृष्टि स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

परम विदुषी साध्वीरत्न महासती श्री मुक्ति प्रभाजी म का "शोध प्रबन्ध" योग– प्रयोग – अयोग मेरे सामने है। प्रस्तुत ग्रथ रत्न उन्होने पी एच डी उपाधि के लिए तैयार किया है। इस मे शोधार्थी महासती जी की प्रबल प्रतिभा के सदर्शन होते हैं। उन्होने प्रमाणपुरस्सर सभी पहलुओ पर विस्तार से चिन्तन किया है। उनका प्रस्तुत

चिन्तन आगम और आगमेत्तर साहित्य पर अवलम्बित है, तो साथ ही आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य मे भी उन्होने प्रस्तुत ग्रथ मे जो चिन्तन का नवनीत प्रस्तुत किया है, वह प्रबुद्ध पाठको के लिए बहुत ही उपयोगी है। महासतीजी ने अनेक प्रमाणो एव प्रयोगो के आधार पर आध्यात्मिक ऊर्जा के रूप मे योग का विशद प्रतिपादन किया है। वहीं पर शरीर-विज्ञान की दृष्टि से योग के प्रयोगो पर विज्ञान सम्मत तथा अनुभव गम्य विवेचन भी प्रस्तुत किया है। योग से शरीर मे रासायनिक परिवर्तन एव लेश्या आदि भावो का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण महासती जी की गहरी अनुसधान दृष्टि का परिचय देता है।

मनोयोग के विविध पहलुओ पर सूक्ष्म चिन्तन करते हुए तनाव मुक्ति के प्रासगिक विषय पर महासती जी के अनुभूत प्रयोग तथा तनाव रहित स्थिति की प्राप्ति का सुन्दर स्वरूप भी प्रतिपादित किया है।

मुझे विश्वास है कि महासती जी का यह चिन्तन, चिन्तन के लिए ही नही है अपितु जीवन के लिए भी ग्राह्य है। हमे किस प्रकार मन, वचन, काया के योगो का निरुधन करना चाहिए और किस प्रकार साधना के पथ पर सुदृढ कदम बढाने चाहिए इसका सुन्दर विश्लेषण हुआ है।

हमे सात्विक गौरव है कि हमारे सघ मे ऐसी परम् विदुषी साध्वी, जिनका तलस्पर्शी आगमो का अध्ययन है और साथ ही अन्य धर्मदर्शनो एव आधुनिक मनोविज्ञान का भी अध्ययन है, और जिन्होने अध्ययन के बल पर ही नही अपितु अनुभूति के बल पर प्रस्तुत ग्रथ का लेखन किया है। आधुनिक भौतिकवाद के युग मे मानव इधर-उधर भटक रहा है, भौतिकवाद की चकाचौंध मे वह अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो चुका है, ऐसी विकट वेला मे प्रस्तुत ग्रथ प्रकाश-स्तम्भ की तरह उपयोगी सिद्ध होगा ? यह ग्रथ भारती भण्डार मे श्री की अभिवृद्धि करेगा। इसी मगल मनीषा के साथ हार्दिक आशीर्वाद।

— आचार्य देवेन्द्र मुनि

शान्ति सदन (जैन स्थानक)
भीलवाडा।

सक्रियता से निष्क्रियता, गतिशीलता से स्थिरता, अनित्यता से नित्यता और योग से अयोग की भेद रेखा है प्रयोग। जीवन से सम्बन्धित कोई भी घटना मे घटित हो जाना पर्याप्त नही है किन्तु घटित घटना से जुड जाने पर पृथक् कैसे होना महत्त्व रखता है। घटित घटना से जुड जाना योग है और घटना से पृथक् हो जाना अयोग है किन्तु रूपान्तरण का माध्यम है प्रयोग।

योग

शरीर, मन और वाणी का परस्पर समन्वय परमाणुओ की एक अद्भुत सरचना है। दृश्यमान शरीर स्थूल है। स्थूल शरीर से वाणी सूक्ष्म है और वाणी से मन सूक्ष्म है।

प्रयोग

जड-चैतन्य का अभेदिकरण भेदविज्ञान प्रयोग से होता है जैसे–दूध मे घी विद्यमान है। किन्तु जैसे दूध से दही, दही से मक्खन और मक्खन से घी का प्रयोगात्मक रूप से निर्माण होता है वैसे ही शरीर मे आत्मा विद्यमान है , प्रयोगात्मक रूप से ही दोनो का पृथक्करण होता है।

अयोग

पृथक्करण दो स्वरूप मे विद्यमान है–अनुभूति और प्राप्ति। देह होने पर भी देहातीत दशा अनुभूतिपरक है और देहातीत सिद्धावस्था प्राप्तिपरक है।

इस प्रकार योग सर्व सामान्य किसी भी दृष्टि विशेष का माध्यम या परिचायक नहीं है किन्तु रूपातरण की प्रयोगात्मक प्रक्रिया है। जिस साधक ने योग को प्रयोग की कसौटी पर कसा है उसके लिए योग अयोग की प्राप्ति का परम उपाय, मुक्ति की उपलब्धि का महत्त्वपूर्ण साधन और आत्मा से परमात्मा बनने का अपूर्व आनन्द रूप धाम है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के मुख्य दो उद्देश्य हैं–प्रथम आगम और साहित्य का अध्ययन कर निज अनुभूति से उसका अनुसधान पाना तथा उपलब्ध अनुशीलन से योग विधि का प्रयोग दर्शाना।

द्वितीय उद्देश्य है—वर्तमान युग मे प्रचलित भ्रम का निवारण कि जैनो के पास योग नही है। किन्तु जैन साहित्य के विशाल वाङ्मय मे दृष्टिपात करते ही वर्तमानकालीन इस प्रचलित मान्यता की अछूती भूमि का स्पर्श होता है कि आगम साहित्य से लेकर अठारहवी शताब्दि तक के समग्र जैन साहित्य मे विविध योग साधना का स्वरूप उपलब्ध है। हॉ, इतना अवश्य है कि जैनों की योगविधि अत्यधिक गूढ, रहस्यात्मक और मार्मिक रही है। साथ-साथ गुरु गर्भित होने से अनेक प्रक्रियाओ का अभाव हो गया है। तथापि जड-चैतन्य का विवेक, ज्ञान, ध्यान, सयम और समाधि से प्राप्त चित्त की एकाग्रता, एकाग्रता से वृत्तिओ का निरोध और मन, वचन, काया के परिवर्तन का प्रायोगिक विश्लेषण प्राप्त होता है।

साहित्य सम्बन्धी योग विषयक मे तात्त्विक और अतात्त्विक उपाय, ज्ञान-दर्शन और चारित्र का सम्यक बोध और अधिकार प्रक्रियात्मक रूप से पाया जाता है। अनेक साहित्यो मे ग्रन्थिभेद की गूढात्मकता स्पष्ट नजर आती है जिससे साधक यौगिक रूपान्तरण करने मे समर्थ हो सकता है। इतिहास साक्षी है कि योग अनादि है तथापि मानवीय धरातल पर अवतरित योगियो का जन्म जहॉ से प्राप्त होता है वहॉ से योग का प्रारम्भ मान लो तो जैन दर्शन में योग ऋषभदेव भगवान् से माना गया है। भगवान् ऋषभदेव जैन तीर्थंकरो मे प्रथम तीर्थंकर है। कालगणना के अनुसार वे असख्य वर्ष पूर्व थे। अत जैन दर्शन के अनुसार वे आद्ययोगी है और उन्ही से परम्परागत योग मार्ग का प्रवर्तन हुआ है।

जैनो के अतिम तीर्थंकर परमात्मा महावीर के तत्त्वावधान में योग प्रक्रिया को दर्शाने का माध्यम आचाराग सूत्र आदि आगम मे प्राप्त होता है। जैसे—स्वय परमात्मा का ध्यान तत्सम्बन्धी विविध आसन, आहार, निद्रा आदि प्रयोगो के दिग्दर्शन के लिए आचाराग प्रमाण है।

आचाराग सूत्र की भाति सूत्रकृताग, स्थानाग, भगवती सूत्र आदि मे भी प्रकीर्णक रूप मे भावना, आसन, ध्यान, व्रत, नियम, सवर-समाधि आदि का वर्णन उपलब्ध होता है। उत्तराध्यन सूत्र के २८वे अध्ययन मे मुक्तिमार्ग का सक्षिप्त किन्तु सुव्यवस्थित शोधन प्रक्रिया का प्रतिपादन किया गया है। इसी सूत्र के २९, ३० एव ३२वें अध्याय मे इन्द्रिय-विजय, मनोविजय, मन-स्थिरता और मन-सम्बन्धी विविधताओं के परिणाम आदि का विशिष्ट स्वरूप नियोजित है।

आगम साहित्य के अतिरिक्त निर्युक्ति साहित्य म भी साधना की प्रक्रियाओं के विपुल स्वरूप का दर्शन होता है। आवश्यक निर्युक्ति के कायोत्सर्ग अध्ययन मे भी यौगिक प्रक्रियाओं का सुनियोजित रूप और आत्म-दर्शन का विशिष्ट सुप्रयोग वर्णित

है। निर्युक्तिकार भद्रबाहुस्वामी का रचना काल विक्रम की चौथी पाचवी शताव्दी माना जाता है। इन्ही भद्रबाहुस्वामी ने बारह वर्षीय महाप्राण ध्यान की साधना की थी। जैन इतिहास मे ऐसे अनेक साधको की "सर्वसवरयोगसाधना" नामक साधको का उल्लेख भी प्राप्त होता है।

सूत्रकृताग निर्युक्ति मे समाधि का निरूपण, स्थानागवृत्ति मे ध्यान सम्बन्धी विवेचन, बृहत्कल्पनिर्युक्ति, वृहत्कल्पभाष्य, व्यवहार निर्युक्ति, व्यवहार भाष्य, आदि मे श्रमण- श्रमणियो का योग पक्रियात्मक आचार प्रणाली का विस्तृत विवरण मिलता है। इन आगमो मे वर्णित साध्वाचार का अध्ययन करने से स्पष्ट परिज्ञात होता है कि पाच महाव्रत, समिति, गुप्ति, तप, ध्यान, स्वाध्याय कायोत्सर्ग आदि जो योग के मुख्य अग हैं, उनको श्रमण-साधना का प्राण माना है।

द्वितीय विभाग मे यौगिक उपलब्धि से वीर्य, लेश्या, वन्ध, ब्रह्मचर्य और वृत्तियो का निरोध क्रम रूप उपाय की अनुभूति का आनन्द प्रस्तुत किया गया है।

जैन दर्शन के आद्य साहित्य योगी कुदकुदाचार्य (विक्रम की प्रथम शताब्दी) रचित अष्ट पाहुड, नियमसार, समयसार, प्रवचनसार इत्यादि ग्रन्थो मे पारिमार्जित स्वरूप मे योग प्रक्रियाओं का तात्त्विक बोध प्राप्त होता है। वीर्य, लेश्या, वन्ध आदि का मार्गदर्शन कराने वाला तात्त्विक, साहित्यिक और सैद्धान्तिक योग प्रक्रियाओ का श्रेय तत्त्वार्थ सूत्र का निर्माता उमास्वाति [वि स २-३ शताब्दी] को मिला। तत्त्वार्थ सूत्र पर टीका, वृत्ति, भाष्य, वार्तिक आदि का निर्माण हुआ है जिसमे योग का विषय पर्याप्त मात्रा मे परिलक्षित होता है।

इस द्वितीय विभाग मे अष्टाग योग का जो प्रतिपादन हुआ है वह जैन पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती सभी साहित्यो से वेष्टित है। क्योकि पाच महाव्रत--यम ३२ (बत्तीस) योग सग्रह--नियम, कायाक्लेश--आसन, भाव प्राणायाम-प्राणायाम, प्रतिसलीनता-प्रत्याहार, धारणा, ध्यान कायोत्सर्ग-समाधि स्थान-स्थान पर प्राप्त होते हैं।

तृतीय विभाग मे योग के स्वरूप का विश्लेषण किया गया है। साधना की फल-श्रुति सम्यक्ज्ञान है, बीज फलित होने के लिए उपयुक्त भूमि आवश्यक है, वैसे ही सद्प्रवृत्ति को फलित होने के लिए सम्यक्ज्ञान की आवश्यकता अनिवार्य है। सवर योग ही उर्वराभूमि है, कर्म-आवरणो से मुक्त होने के लिए शुद्धोपयोग के बीज वपन करने होगे।

भक्ति मे शक्ति है समर्पण के भाव पैदा करने की और कर्मो के बन्धनों को तोडने की फलत कर्मयोग से साधक योगी हो सकता है और बन्धनो से मुक्त होकर अयोगी भी हो सकता है।

साधु जीवन आचार सहिता का प्राण है। अत आज्ञायोग में प्रायश्चित और पश्चात्ताप आदि रूप मे पाप वृत्तियो के ह्रास हेतु आदेश निर्देश आदि विशुद्ध अनुष्ठानो का निर्देश प्राप्त होता है।

भाव आवश्यक में स्थित योगी व्यवहार से परे होकर अध्यात्म में लीन रहता है। अध्यात्म योगी धारणा ध्यान और कायोत्सर्ग जो आवश्यक योग है, उसी मे सलग्न रहता है। फलत साधक समभाव मे स्थिर, वीतराग भाव मे लीन होता हुआ गुरुवर्यो के वदन आदि प्रवृत्ति मे प्रवर्तमान होता है। दोषो की आलोचना करके ममत्व से मुक्त और आहारादि की आसक्ति से अनासक्त हो जाता है।

इस प्रबन्ध के चतुर्थ विभाग मे योग का विकास क्रम और पचम विभाग मे योग के भेद-प्रभेद की समस्या और समाधान दिया गया है। विक्रम की चौथी, पाचवी शताब्दी मे विरचित पूज्यपाद स्वामी ने आत्मा का विकासक्रम विशेष रूप से दर्शाया है। छठी शताब्दी के जिनभद्रगणी के ध्यान शतक मे ध्यान एकाग्रता से होने वाले लाभ और हानि का स्वतन्त्र चिन्तन परिलक्षित होता है।

विक्रम की आठवीं शताब्दी से जैन योग मे हृदयस्पर्शी, मार्मिक, तात्त्विक तथा क्रान्तिकारी साहित्य का जन्म हुआ। उन साहित्यो के सर्जन मे सर्वोपरि स्थान है हरिभद्रसूरि का। उन्होंने आगमिक परम्परा की वर्णन शैली में काल के प्रभावानुसार एव लोकरुचि के अनुरूप अपने साहित्य मे एक नया मोड लिया। उन्होने नूतन परिभाषाओ का परिमार्जित रूप प्रस्तुत करके जैन योग साहित्य मे अभिनव युग का निर्माण किया। उनकी शतमुखी प्रतिभा का स्रोत शोध प्रबन्ध के चतुर्थ और पचम विभाग मे प्रवहमान हुआ है।

आचार्यश्री के योगविषयक ग्रथो में योग बिन्दु, योगदृष्टि-समुच्चय, योगशतक, योगविंशिका और षोडशक आदि का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। आचार्यश्री ने परम्परागत जो आध्यात्मिक विकास क्रम है उसी का योग रूप मे वर्णन किया है, पर उसमे उन्होने जो शैली रखी है वह अभी तक उपलब्ध योगविषयक साहित्य मे किसी भी ग्रन्थ मे परिलक्षित नही होती है। उनके ग्रथो मे अनेक स्थान पर अनेक[१] दर्शनो के योगियो का नाम निर्देश पाया जाता है तथा अनेक[२] अन्य ग्रन्थो का भी उल्लेख पाया जाता है।

---

१ गोपेन्द्र—योगबिन्दु श्लोक २००
कालातीत—योगबिन्दु श्लोक ३००

२ पतजली, भदन्तभास्कर, बन्धु भगवदन्तवादी—योगदृष्टिसमुच्चय—श्लोक १ टीका

जीवन की सबसे बडी उपलब्धि है – अध्यात्म योग। अध्यात्म योग की अवधि जैसे-जैसे विशुद्ध होती जाती है, भावना योग भावित होता जाता है, भावना जब अनुभव और साक्षात्कार का रूप धारण करती है तो ध्यानयोग का प्रारम्भ हो जाता है।

ध्यानयोग की जागृति समत्वयोग और वृत्ति सक्षययोग को सफल करने मे समर्थ है।

महापुराण मे योग का विश्लेषण अनेक स्थान पर पाया जाता है जिसका श्रेय नवीं शताब्दी के आचार्य जिनसेन को मिला है।

ग्यारहवीं शताब्दी मे तत्वानुशासन जैसे महान योग और ध्यान सम्बन्धी ग्रथ का निर्माण करने वाले आचार्य रामसेन हुए है। उन्होने ध्यान द्वारा व्यवहार तथा निश्चय दोनो प्रकार का मोक्षमार्ग सिद्ध किया है। इसी समय के शुभचन्द्राचार्य ने ज्ञानार्णव मे योगमार्ग का निरूपण किया है, इस ग्रन्थ मे काल का प्रभाव स्थान-स्थान पर दृश्यमान होता है जैसे जैन-योग को अष्टाग योग, हठयोग, तन्त्रयोग आदि से समानता कहां और कैसे है सिद्ध किया है। आगम रूप धर्मध्यान को पिडस्थ पदस्थ रूपस्थ और रूपातीत चार आयाम मे वर्गीकृत करके दर्शाया है। इस वर्गीकरण पर तन्त्रशास्त्र का प्रभाव अधिक रहा हो ऐसा परिलक्षित होता है।

इसी ग्यारहवी शताब्दी मे सोमदेव सूरीकृत योगसार ग्रथ की महान उपलब्धि जैन शासन को प्राप्त हुई है। यशस्तिलक चम्पू के अनेक कल्पो मे योगविषयक चर्चा प्राप्त होती है। अत ग्यारहवी शताब्दी मे ध्यान से पूर्व धारणा पद्धति का स्वरूप किस रूप से सिद्ध किया जा सकता है, इस विषय का प्रतिपादन किया है।

योग विषय ग्रन्थ मे आचार्य हेमचन्द्र का स्थान हरिभद्रसूरी की तरह सर्वत्र प्रसिद्ध है। बारहवीं शताब्दी मे उन्होने योगशास्त्र ग्रथ का निर्माण करके जैन दर्शन मे योग को सम्पूर्ण साधना पद्धति मे प्रयोगात्मक किया है अत योग का मार्ग योगशास्त्र से विविध रूप मे प्राप्त हो सकता है। हेमचन्द्राचार्य स्वय महान योगी थे वे घटों तक कुंभक मे प्रवचन देते थे। कुछ ही मिनट मे ग्रन्थो का निर्माण करते थे ; ये ध्यान का प्रभाव है।

चक्रस्थान पर कमल, मातृका और मन्त्र का ध्यान इनका प्रमुख विषय रहा है।

तेरहवीं शताब्दी मे अध्यात्मयोगी प आशाधर ने अध्यात्म रहस्य ग्रथ की रचना की है। इसमे ग्रन्थकार ने आध्यात्मिक रहस्यो का सुव्यवस्थित रूप से उद्घाटन किया है।

मुनि सुन्दरसूरी कृत अध्यात्म कल्पद्रुम पन्द्रहवी शताब्दी का ग्रन्थ है जिसमे आत्मा सम्बन्धी व्यावहारिक और आचरणीय अनेक अनुष्ठान का दिग्दर्शन कराया है।

अठारहवीं शताब्दी मे विनयविजयजी ने और उपाध्याय यशोविजयजी ने योग की सरिता प्रबल धारा से प्रवाहित की है। उन्होने योगविषयक अनेक ग्रन्थो की रचना करके योग मार्ग का विविध रूपता से पथ प्रदर्शित किया है।

अध्यात्म उपनिषद् ग्रन्थ मे आपने शास्त्रयोग, ज्ञानयोग, क्रियायोग और साम्ययोग के सम्बन्ध में बहुमुखी चर्चा, वार्ता, विचारणा प्रस्तुत करके जैन दर्शन का तात्त्विक योग प्रतिपादित किया है।

योगावतार बत्तीसी मे आपने मुख्यतया पातञ्जल योग सूत्र मे वर्णित योग-साधना का जैन प्रक्रिया के अनुसार विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त उपाध्याय जी ने हरिभद्रसूरी जी कृत योगविंशिका एव षोडशक पर टीकाएँ लिखकर उसमें अन्तर्निहित गूढतत्त्वो का उद्घाटन किया है। उन्होने पातञ्जल योगसूत्र पर जैन सिद्धान्त के अनुसार जो कलम उठाई है वह अत्यधिक प्रशसनीय है। वृत्ति अल्पकाय होने पर भी उसमे उन्होने अनेक स्थानो पर साख्य विचारधारा का जैन विचारधारा के साथ साम्य भी दर्शाया है और अनेक स्थानो पर युक्ति एव तर्क के साथ प्रतिपादन भी किया है।

शारीरिक समस्याएँ, मानसिक तनाव और वैचारिक भिन्नता के युग में यौगिक अनुभव प्राप्त करना विशेष आवश्यक है। तनावग्रस्त मानव सुख, शान्ति और आनन्द की उपलब्धि तो चाहता है किन्तु ज्ञानवत् आचरण का अभाव होने से मजिल से पतित होना स्वाभाविक है। प्राकृतिक और अर्जित शक्ति को उजागर करने के लिए योग का अनुभव साधक के लिए स्थायी उपाय है। ऐसा सोचकर योग विषयक ग्रंथों का गहराई से परिशीलन किया और जैन योग के जिज्ञासु समस्त साधना पद्धति का सहज ही ज्ञान प्राप्त करे इसी हेतु से शोध प्रबन्ध का निर्माण हुआ।

गुरुकृपा और दृढ श्रद्धा से क्या नही हो सकता है ? इसी भावना से मैंने शोध प्रबन्ध का कार्य सन् १९७५ में प्रारम्भ किया। गभीर विषय, साध्वी जीवन, ग्रंथो का अभाव, पुस्तकालयो में पैदल जाना इत्यादि अनेक कठिनाइयो के उपरांत भी यह प्रबन्ध पूर्ण हो सका यह निश्चय ही गुरुकृपा का प्रतिफल है।

योग याने जुड जाना मेरी चेतना भी जुड गई राष्ट्र सत, जैन जगत के भूषण १००८ आचार्य प्रवर आनन्द ऋषि जी म सा की पुण्यमयी प्रेरणा से। जन-जन के हृदयेश्वर ! राजयोगी की अन्त करणपूर्वक भावना ने मुझे परम योगी आदिनाथ के साथ जोडकर अयोग के अनुशीलन के प्रति आकर्षित किया। आज आत्म-आनन्द

शताब्दी वर्ष में प्रेरणा को साकार रूप मिले यह भी आचार्यप्रवर के अनुग्रह की साक्षात् परिणति है।

मेरे अचेतन मन के रहस्यो को अनावृत्त कर नये सन्दर्भो को सदा प्रस्तुत करने वाले मेरे गुरुयुगल आत्मार्थी श्री मोहन ऋषि जी म सा प्रवर्तक श्री विनय ऋषि जी म स , परम वत्सला मातृस्वरूपा गुरुमाता शासन चन्द्रिका श्री उज्ज्वल कुमारी जी म स को प्रणाम करती हूँ। साथ ही रत्नो मे एक रत्नसम पू माणिक कुवर जी म स तथा प्रज्ञाशील प्रभाकुवर जी म स के चरणो मे भाव-पुष्प अर्पण करती हूँ जो इस परिणति के मूल स्रोत रहे है। इन विभूतियो द्वारा मेरी अनुभूति को अभिव्यक्ति मिली। निराकार चेतना मे योग साकार हुआ, योग का प्रयोग से अनुबन्ध हुआ, अयोग के अनुशीलन का सम्बन्ध हुआ।

मेरे धन्यवाद के पात्र सदा सर्वदा सहयोगिनी साध्वीरत्ना श्री दिव्यप्रभा जी एव अनुपमा जी, तथा बोम्बे कादावाडी, कादीवली आदि श्री सघ गीरीशभाई, किशोरभाई कोठारी, प्रताप भाई मेहता आदि की सहृदय आभारी हूँ।

साधना ही जिनका जीवन था ऐसे विरक्त साधक ससारी पिता चन्दुलाल भाई और माता सुशीलादेवी की ज्योति से मेरी साधना की ज्योति प्रज्ज्वलित हुई और मेरा साधना पथ प्रशस्त बना।

शोध प्रबन्ध की सम्पन्नता (१९८१) मे पूर्ण हो चुकी थी किन्तु अनुयोग प्रवर्तक मुनिश्री कन्हैयालाल जी "कमल" का अनुयोग का महाशोध कार्य प्रारम्भ होने से अनेक सघो का—व्यक्तियो का और विद्वदगणो का अति आग्रह होने पर भी प्रकाशन हेतु मैं विरक्त रही। किन्तु फिर भी युग की माग ने आज पुन प्रकाशन हेतु कदम उठाया अत मैं रोक ना पाई। "जैन दर्शन मे योग एक समालोचनात्मक अध्ययन" नामक मेरा शोध प्रबन्ध ७३९ पृ का महाविस्तृत रूप होने से उसे "योग प्रयोग अयोग" नामक २५७ पृ मे समाविष्ठ करने का मैंने साहस किया है। हो सके इतना विषय को न्याय दिया है तदपि ——परमात्मा की कृपा से प्रस्तुत ग्रथ मे किसी भी प्रकार की त्रुटि रही हो तो श्रुतदेव से क्षमा चाहती हूँ।

आज याद भरी प्रीत मे विश्राम के धाम को प्रणाम कर कलम को विराम देती हूँ और मगल कामना करती हूँ कि परमयोगी आदिश्वर की अयोग साधना, आचार्य की प्रयोग प्रेरणा और परम गुरुवरो की योग चेतना रूप पुण्यबल आप सभी के अयोग मार्ग का विमोचन एव सयोजन करे।

— साध्वी मुक्तिप्रभा

साध्वी मुक्तिप्रभा के पी-एच. डी. शोध प्रबन्ध का परीक्षक प्रतिवेदन

जैन परम्परा में योग [जैन दर्शन मे योग : एक समालोचनात्मक अध्ययन] पर साध्वी मुक्तिप्रभा द्वारा लिखित वस्तुतः उत्कृष्ट शोधप्रबन्ध के अवलोकन से मुझे अत्यधिक प्रसन्नता हुई है। यह कृति प्रायः संस्कृत; प्राकृत भाषाओ और मूल-ग्रन्थो से परवर्ती काल के जनभाषामय जैन साहित्य में प्राप्त जैन योग के प्रामाणिक मूलग्रन्थो पर आधारित है। योग के अभ्यास और सिद्धान्त की व्यवस्थित व्याख्या के रूप मे प्रस्तुत शोधकृति एक अत्यधिक साहसिक कार्य और अद्‌भुत परिश्रम की परिणति है, जिसको अप्रकम्प्य आस्था और पूर्ण समर्पित भावना के साथ लेखिका ने सम्पन्न किया है। इस बृहदाकार ग्रन्थ के पृष्ठ आध्यात्मिकता की सुगंन्ध से ओतप्रोत हैं। यह कृति प्रतिपद स्वयं की दृष्टि और योग्य शोध निर्देशक डॉ. रायनाडे के अनुसार निष्पादित साध्वी मुक्तिप्रभा के गहन अध्यात्मपरिष्कृत चिन्तन को अभिव्यक्त करती है। दार्शनिक लेखन के रूप मे विचारणीय यह कृति अत्यधिक उच्च् कोटि की है और प्रकाशित होने पर यह कृति प्रत्येक दर्शनशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थालय मे आदरणीय स्थान के योग्य होगी। मै इस शोधकृति से इतना अधिक प्रभावित हुआ हूँ कि इसके अंग्रेजी मे अनुवाद तथा हिन्दी और अग्रेजी दोनों रूपो मे प्रकाशन अतिशीघ्र करने हेतु अनुशंसा करता हूँ। भारतीय दर्शन तथा सस्कृति के क्षेत्र मे यह महान् अवदान है और केवल भारत मे ही नहीं, पश्चिम मे भी प्रख्यापन के योग्य है। दुर्बोध विषय की ऐसी निर्व्याज, यथार्थ और वैदुष्यमय व्याख्या विरल ही प्राप्त होती है।

अवबोध की गहनता के अभाव से रहित यह शोधकृति विवरणो की दृष्टि से व्यापक है। जैन योग के गुह्य सिद्धान्तो और रहस्यमय अभ्यासानुभव मे दीक्षित हुए बिना कोई व्यक्ति ऐसे अद्‌भुत प्रबन्ध का प्रणयन नही कर सकता। वैदिक परम्परा के योग के साथ तुलनाएँ अत्यधिक उचित और उपकारक हैं। वे दोनो परम्पराओ मे योग के उन्मुक्त मानस से किये गये ग्रहण से अवच्छिन्न हैं। साध्वी मुक्तिप्रभा ने अपनी विचारधारा को कही भी जैन योगानुशासन के धार्मिक रूढ़ि से उत्प्रेरित मूल्याकन मे प्रवाहित होने नही दिया है। उन्होंने भारतीय योग को अधिक आयत फलक पर चित्रित करते हुए उसकी परिधि का बृहण किया है। यह शोधकृति इस आशय से एक मौलिक ग्रन्थ है कि उनके द्वारा अधीन और परामृष्ट वाङ्‌मय के बारे में प्रस्तुत व्याख्या जैनयोग के मूल्यांकन के लिये प्रत्यग्र दृष्टिकोण को उद्‌घाटित करती है। अध्येय विषय का उनके द्वारा किया गया मूल्यांकन आलोचनात्मक है। उनकी विश्लेषणशक्ति

सुतीक्ष्ण है और निर्णय का आशय परिपुष्ट। उनकी शोधकृति पाठक में उत्पन्न करती है एक अभिनव अवधान - वह अवधान जो जैन रहस्यवादी और दिव्य पुरुषो की युगयुगीन समृद्ध सांस्कृतिक सम्पदा से सम्बद्ध है। साध्वी मुक्तिप्रभा ने जैन योग की निधियो को अनावृत करते हुए भारतीय योग की अवधारणा को परिबृंहित किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थसूची और सन्दर्भात्मक विवरण उनके वैदुष्य को स्पष्टतया प्रख्यापित करते हैं। प्रतिपाद्य विषय की साहित्यिक प्रस्तुति भारतीय विश्वविद्यालयों की शोध कृतियो के स्तर के अत्यधिक अनुरूप है। साध्वी मुक्तिप्रभा हिन्दी में यथार्थता और सामर्थ्य के साथ लेखन करती हैं।

साध्वी मुक्तिप्रभा को विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन की पी-एच.डी. उपाधि प्रदान करने का जो सौभाग्य मिला है वह विक्रम विश्वविद्यालय के लिए गौरव का विषय है। मेरा विश्वास है कि विषय के अनुरूप विक्रम विश्वविद्यालय इसका मूल्याकन विशेष रूप से कर सकता है। इस कार्य के लिये विषय के समीक्षकों द्वारा जैन यौगिक सिद्धान्त और साधना से सम्बन्धित जैन अध्ययन के क्षेत्र मे एक अग्रणी साहसिक कृत्य के रूप मे प्रशंसा की जायेगी।

कुल सचिव
11-8-82

Ph. D. REPORT OF SADHVI MUKTIPRABHA

Title of Thesis जैन दर्शन मे एक समालोचनात्मक अध्ययन

Report

साध्वी मुक्ति प्रभा द्वारा पी-एच डी उपाधि हेतु प्रस्तुत **जैन दर्शन में योग : एक समालोचनात्मक अध्ययन** नामक शोध प्रबन्ध एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। ७३९ पृष्ठो का यह वृहत ग्रन्थ जैन योग के विविध पक्षो का विस्तार पूर्वक अध्ययन करता है। यह शोध ग्रन्थ बारह अध्यायो मे विभक्त है। प्रथम अध्याय मे योग का अर्थ, उसका विकास, उसकी प्राप्ति के परम उपाय आदि पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे अध्याय मे विभिन्न दृष्टियो से योग का विश्लेषण किया गया है। तीसरे अध्याय मे योग और वीर्य, योग और समाधि, योग और ब्रह्मचर्य, योग और बन्ध, अनुष्ठान आदि पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। चौथे अध्याय मे जैन योग का स्वरूप विश्लेषण करते हुए विदुषी लेखिका ने सवरयोग, आवश्यक योग, ज्ञान योग, कर्मयोग, भक्तियोग, आज्ञायोग आदि का विश्लेषण तथा विधिवत निरुपण किया है। आत्मा का विकास क्रम शीर्षक पाचवे अध्याय मे लेखिका ने बहिरात्मा, अतरात्मा तथा परमात्मा के स्वरूप आदि का मार्मिक विश्लेषण तथा अध्ययन किया है। छठे अध्याय मे गुणस्थान के अर्थ तथा विभिन्न गुणस्थानों का विस्तारपूर्वक आधिकारिक विवेचन हुआ है। सातवे अध्याय मे योग, भावना योग, ध्यान योग आदि का गभीर तथा विशद विवेचन किया गया है। आठवे, नवे तथा दसवे अध्यायो मे योग दृष्टियो से अयोग दर्शन, योगविशिका में योग स्वरूप तथा उपाध्याय यशोविजय जी की दृष्टि से जैन योग का महत्त्व का क्रमश वैदुष्यपूर्ण तथा विस्तृत अध्ययन प्राप्त होता है। ग्यारहवे अध्याय मे विविध जैन योग शक्तियो की विशेषता मे जय योग, मत्र योग, कुडलिनी योग, षट चक्र, गुरूकृपा आदि पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है। बारहवा अध्याय जैन योग के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो पर विस्तार से प्रकाश डालता है अन्त मे एक विस्तृत ग्रन्थ सूची एव महत्वपूर्ण चित्र दिये गये हैं।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि साध्वी लेखिका ने जैन योग से सम्बन्धित विपुल साहित्य का मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया है। योग के स्वरूप, उसके उद्देश्य आदि के विषय मे लेखिका की दृष्टि सूक्ष्म तथा गभीर है। लेखन की शैली तथा स्तर पर्याप्त सतोषजनक है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध विक्रम विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित पी-एच डी उपाधि से सम्बन्धित नियमो का सपूर्ण रूप से पूरा करता है।

अत मैं सस्तुति करता हूँ कि साध्वी मुक्ति प्रभा को पी एच डी उपाधि प्रदान की जाय ।

मेरी दृष्टि से लेखिका की मौखिक परीक्षा की आवश्यकता नहीं है ।

Examiner

19.11.81

(विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन द्वारा प्रदत्त परीक्षक प्रतिवेदन क्रमाक 2)

अर्हम

जैन दर्शन में योग एक समालोचनात्मक अध्ययन विषय पर लिखित शोध प्रबन्ध मैने पढा। मै अपनी पूर्व धारणा के अनुसार ऐसा ही समझता था कि योगाश्रमों में आसन, प्राणायाम आदि प्रेक्टिकल रूप में करवाये जाते हैं इसका विषद विवेचन इस कृति मे होगा किन्तु जैसे ही शोध प्रबन्ध मे योग की रासायनिक प्रक्रिया प्रयोग और परिवर्तन के रूप में पढा तुरंत ही मैं अपने आपको भीतर ढूँढने लगा और एकाएंक मुझमें परिवर्तन हो गया। पढते-पढते मै उस क्षितिज तक पहुँच गया जहॉ अन्तर उद्‌भूत आनंद ही आनंद था। मै आज दिन तक जिस विषय मे अज्ञात और अबूझ रहा वह यहॉं आकर ज्ञेय और स्पष्ट हो गया। समय ने कैसे करवट बदल दी इसका अनुभव प्रत्यक्ष हुआ और मै मन ही मन साध्वीजी के प्रति श्रद्धा विनत हो गया। क्योकि साध्वीजी ने वर्तमान समस्याओं के सदर्भ मे जिस विषय का मूल्यांकन किया है उन्हें समाहित करना युग की अनिवार्यता है। तनाव से मुक्त होने के लिए आज योग और तत् सम्बन्धी प्रयोग की नितात आवश्यकता है। वैज्ञानिकों के माध्यम से सुख-सुविधा के अनेक साधन उपलब्ध होने पर भी शान्ति का अभाव सर्वत्र छाया हुआ है। नैतिक चेतना ने तो हमारा सहयोग ही त्याग रखा है, अध्यात्म– भावना, ध्यान समत्व और वृत्तिओं के क्षय की साधना ने हमे भयभीत कर रखा है। इसके समाधान के लिए बौद्धिक विकास का सतुलन इस शोध प्रबन्ध से सहज मिल सकता है।

हमारे निषेधात्मक और विधेयात्मक दृष्टिकोण का नया क्षितिज इस शोध से खुल सकता है, ऐसी मेरी धारणा है। मैं सोचता हूँ कि इस शोध प्रबन्ध के माध्यम से न केवल जैन ही किन्तु शान्ति के इच्छुक सभी जन लाभान्वित हो सकते हैं। यह कृति हृदयस्पर्शी है, जीवन परिवर्तन शोधन में सहयोगी है और शान्ति, प्रसन्नता का आनद देने वाली है।

यह शोधकृति पाठको को एक नयी दिशा, एक नया जीवन का मूल्यांकन और एक नयी खोज, भीतर के द्वार को खोलने की खोज, उत्पन्न करती है। भीतर के रासायनिक रहस्यो का आमूल परिवर्तन अनेक जन्मों का परिश्रम होने पर भी नहीं होता है। जनम-जनम से इस शक्ति का स्रोत बहाने पर भी योग के विना इसकी उपलब्धि नहीं हो सकती आज यह योग का प्रयोग आपके द्वार पर स्वयं चलकर आया है। मुझे आशा ही नही विश्वास है कि यह कृति देश-विदेश और समूचे विश्व मे पढ़ी जायेगी।

डॉ. दौलतसिंह कोठारी
भू. पू. कुलपति जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय

प्रथम विभाग

१ योग की रासायनिक प्रक्रिया प्रयोग और परिवर्तन के रूप में १-६३

द्वितीय विभाग

२ यौगिक उपलब्धि से सम्वन्ध और परिणाम

तृतीय विभाग

३. योग ऊर्जा और स्वरूप दर्शन

चतुर्थ विभाग

४. दृष्टियोग का आदि बिन्दु तनाव और चरम बिन्दु मुक्ति

पचम विभाग

५ प्रयोग एक योग अनेक समस्या और समाधान की फलश्रुति में

योग	प्रयोग	अयोग
मन योग	एकाग्रता	मनोनिग्रह
वचन योग	मौन	निर्विकल्पदशा
काय योग	कायोत्सर्ग	देहातीत अवस्था

प्रथम विभाग

(१) योग की रासायनिक प्रक्रिया प्रयोग और परिवर्तन के रूप में

अध्याय १ आगमिक योग मे अनुशीलन के प्रयोग

अध्याय २ प्राप्ति क्रम मे प्रयोगात्मक निरीक्षण और परीक्षण

अध्याय ३. साहित्यिक योग मे अनुशीलन के प्रयोग

अध्याय ४. साहित्य के मुख्य दो पहलू व्याकरण और इतिहास योग सयोग मे ।

१

आगमिक योग में अनुशीलन के प्रयोग

प्रथम चरण (पृष्ठ १ से १५ तक)

१. जड़-चैतन्य का मिलन योग के प्रयोग में
२. ध्यान संयम और समाधि से चित्त की एकाग्रता
३ स्थिरीकरण का उपाय और परिणाम
४. आश्रव द्वार कर्म बन्धन का हेतु
५. चित्त की एकाग्रता से वृत्तियो का निरोध ।

१. आगमिक योग में अनुशीलन के प्रयोग

त्रिसंयोगात्मक योग-प्रयोग

तिविहे जोए पण्णत्ते तं जहा—मणजोए वइजोए कायजोए[1] ।

जैनागमो मे योग शब्द का प्रयोग पाय मन, वचन और काया की प्रवृत्ति के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। दरअसल देखा जाए तो हमारी हर प्रवृत्ति मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया रूप मे ही विद्यमान होती है। ससार मे साधारणतया ऐसा कोई भी मानव नही जिसको आशिक रूप मे जानने की जिज्ञासा, मानने की वृत्ति और करने की प्रवृत्ति मे रुचि न हो। इन रुचियो का सम्बन्ध मन से जुडा हुआ है, अत मन एक योग है जो शरीर मे रासायनिक रूप मे पैदा होता है और व्यक्त-अव्यक्त वाणी के रूप मे अभिव्यक्त होता है। मन और वाणी का माध्यम शरीर है जो क्रियमान रूप मे प्रवृत्त होता है। इस प्रकार मन, वचन, काया का त्रिसयोगात्मक स्वरूप ही योग कहा जाता है। जब तक योग प्रायोगात्मक कसौटी पर कसा नहीं जाता तब तक कर्म बन्धन मे हेतुभूत होने से आस्रव कहलाता है।

जैनागमो मे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग[2] ये आश्रव के पॉच द्वार बताये है और इन्ही पॉचों द्वारो से जीव कर्मबन्ध का व्यापक रूप से व्यापार करता रहता है। प्राय ऐसा देखा जाता है कि इन्द्रियजन्य विषयो का आकर्षण मन, वचन और कायजन्य योग से होता है तथा क्रोध, मान, माया और लोभजन्य उद्वेग कषाय से होता है। अत इससे फलित होता है कि कर्मबन्ध का कारण योग और कषाय ही[3] प्रमुख रूप से है। इस प्रकार योग और कषाय दोनो आश्रव कर्मबन्ध के हेतु हैं। यह आश्रव शुभ होता है तो शुभयोग और अशुभ होता है तो अशुभयोग। इस प्रकार योग शुभ और अशुभ दो स्वरूपो मे संसार.से परिलक्षित होता है।

जड़, चेतन, अभेद-योग एवं भेदविज्ञान प्रयोग

जैनागमो का प्रथम आगम आचाराग सूत्र है। इसके प्रथम सूत्र मे ही योग से अयोग तक पहुँचने की सम्पूर्ण प्रक्रिया हमे प्राप्त होती है। जैसे—"अत्थि मे आया

---

१ स्थानाग सूत्र स्था ३
२ समवायाग सम ५
३ समवायाग सम ५

उववाइए णत्थि में आया उववाइए के अहं आसि, के वा इओ चुते इह पेच्चा भविस्सामि" ।[४]

"के अहं आसी" मैं कौन था, यह पद आत्म सम्बन्धी जिज्ञासा की जागृति का सूचक है। साथ-साथ मे पूर्वजन्म और पुनर्जन्म भी इसी सूत्र मे सिद्ध करके बताया गया है। पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की फलश्रुति ही योग है। यह आत्मा योग से ससार मे परिभ्रमण करता है और उपयोग द्वारा परिभ्रमण से मुक्त होता है। अत यहाँ आत्मा की त्रैकालिक सत्ता सिद्ध हो जाती है। **"जो आगओ —— अणुसंचरइ सोहं"** पद से जो ससार मे परिभ्रमण करता है वही मैं हूँ। ऐसा प्रतिपादन हो जाता है। आत्मा है ऐसी अनुभूति प्रतीत होने पर प्रश्न होता है "मैं हूँ" किन्तु परिभ्रमण करने वाला क्यो ? भ्रमण का हेतु क्या ? इस शका का समाधान तृतीय सूत्र मे प्राप्त होता है। **"से आयावादी लोयावादी कम्मावादी किरियावादी"?**[५]

इसी सूत्र से शुभ और अशुभ योग का प्रारम्भ होता है। इसी सूत्र से योग की प्राप्ति, योग के उपाय और योग से अयोग की साधना का प्रयोग प्रारम्भ होता है। जैसे—आत्मा, लोक, कर्म और क्रिया—

१ प्रवृत्ति करना क्रिया है,
२ प्रवृत्ति से जुडना (बन्धना) कर्म है,
३ कर्म को बाधना लोक-ससार है।
४ क्रिया, कर्म, और लोक, तीनो को भोगने वाला आत्मा है।

इस प्रकार इस सूत्र से जड और चैतन्य का विवेक ज्ञान प्राप्त होता है। आत्मा चैतन्य है तथा लोक, कर्म और क्रिया जड है। कर्म और क्रिया करने का माध्यम लोक अर्थात् शरीर है। अत सिद्ध होता है कि आत्मा और शरीर का सयोग ही मन, वाणी और कर्म की क्रिया रूप योग है।

जबसे यह आत्मा इस ससार मे है तब से सशरीरी आत्मा यौगिक प्रक्रिया मे प्रवर्तमान है। अत आगम मे जो कुछ भी सशरीरी आत्मा के विषय मे चर्चा है सभी योग से सम्बधित ही है।

योग का सामान्य अर्थ जोडना होता है। यहाँ मन, वचन, कर्म और क्रिया रूप योग से आत्मा और शरीर का सयोग होता है। आत्मा अकेली है कोई भी क्रियात्मक रूप

---

४ आचा अ १ उ १ सू. ३
५ आचा अ १ उ १ सू ३

नही ले सकती। शरीर अकेला है, वह भी कुछ नहीं कर सकता। करने के लिए **कम्मावादी-किरियावादी** पद का रहस्यात्मक रूप से उद्‌घाटन हुआ है। कर्म से क्रिया और क्रिया से कर्म अनवरत जुडा हुआ है और वही ससार है।

चिति सज्ञा धातु से चैतन्य शब्द बनता है, चैतन्य आत्मा का गुण है। गुण से गुणी जुदा नही होता, चैतन्य से आत्मा जुदा नही होता। जो जुदा होता है वह पर्याय होता है, पर्याय परिवर्तनशील है, अनित्य है, अशाश्वत है, नाशवान है, अध्रुव है, जड है। अत जहाँ चैतन्य है, वहाॅ आत्मा है, जहाॅ चैतन्य नही, वहाॅ जड है। इसे शरीर या पुद्‌गल भी कहते हैं।

इस प्रकार यह ससार दो तत्वो की उपज है जड और चैतन्य ; आत्मा और शरीर, जीव और पुद्‌गल। दोनो तत्त्वों को अभिन्न कराने वाला सयोग योग है और दोनो तत्वो को भिन्न कराने वाला प्रयोग उपयोग है। योग का सम्बन्ध शरीर से है और उपयोग का सम्बन्ध आत्मा से है। उप का अर्थ है ज्ञेय और योग का अर्थ है जोडना अर्थात् ज्ञेय पदार्थो के साथ ज्ञान का सम्बन्ध जोडना उपयोग है, यही आत्मा का लक्षण है।

कर्म तत्व द्वारा आत्मा उपयोग मे आवरण आता है, शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श द्वारा विषय रूप योग जागृत होता है यही शरीर का लक्षण है। इस प्रकार आत्मा और शरीर योग और उपयोग लक्षण से जुडे हुए हैं। इसी हेतु सशरीरी आत्मा इस लोक मे सर्वत्र घूमता है और मुक्त आत्मा सिद्ध होता है।

योग और उपयोग इस लक्षण द्वारा दो स्थितियाॅ स्पष्ट रूप से हमारे सामने उभर कर आती हैं — (१) बाह्य स्थिति, (२) अध्यात्म स्थिति। मन, वचन, काय रूप योग से हम बाह्य स्थिति से जुडते हैं और उपयोग से हम अध्यात्म स्थिति से जुड़ते हैं। हम जब बाह्य से जुडते हैं तब दूसरे से जुडते हैं, पर से सम्बन्ध स्थापित करते हैं, पर मे अपनेपन के दर्शन करते हैं। यह पर जो है वही है हमारा शरीर। दूसरे से परे होकर स्व दर्शन है वह आत्मा है। शरीर दृश्य है आत्मा अदृश्य। केवल शरीर है तो परिभ्रमण का कारण नहीं बनता। केवल आत्मा है तो भी परिभ्रमण का प्रश्न नही उठता, दोनो हैं किन्तु कोई सम्बन्ध नहीं है तो भी परिभ्रमण का प्रश्न नहीं उठता, प्रश्न उठता है आत्मा को शरीर प्रभावित करता है और शरीर को आत्मा प्रभावित करता है ऐसे क्रियात्मक अवसर पर।

हमारी प्रसन्नता, हमारा आनन्द, हमारी शक्तियाॅ, हमारी विकृतियाॅ, हमारी बाधाऍ, हमारी स्खलनाएँ, हमारी यौगिक प्रक्रियाऍ इत्यादि की अभिव्यक्ति का माध्यम हमारा शरीर है और अनुभूति का माध्यम हमारी आत्मा है। इस प्रकार आत्मा कर्मो का

कर्ता और कर्मों का भोक्ता माना जाता है। जिस घटना के साथ हम जुड जाते हैं, वही घटना हमारे लिए सुख और दु ख का हेतु बनती है। सर्व सामान्य प्रत्येक प्राणी मे सुख और दु ख, सयोग और वियोग, प्रिय और अप्रिय परिस्थिति का प्रवाह धूप और छाव की तरह आता जाता रहता है।

जो भी परिस्थिति प्रवर्तमान होती है वह योग के माध्यम से घटती है और कर्म पुद्गलो के समूह रूप से कषाय भाव मे आकर बध जाती है। इस निमित्त से अमूर्त आत्मा मूर्त रूप को धारण करता है। इस प्रकार आत्मा न केवल मूर्त है और न केवल अमूर्त है किन्तु दोनो का मिला-जुला अमूर्त के साथ मूर्त का जुडा हुआ स्थान है। मन, वचन और कायिक परिस्थिति के परिवर्तन से ही परिणाम का लेखा-जोखा किया जा सकता है।

आचाराग इस विषय पर खेद व्यक्त करता है कि साधक के द्वारा मन-वचन-काय की यौगिक क्रिया सुलझी हुई नही है। एतदर्थ अनेक यौनियो मे जन्म और मृत्यु का अनुभव वह करता रहता है।[६]

वर्तमान जीवन की रक्षा के प्रयोजन से, प्रशसा, आदर तथा पूजा पाने के प्रयोजन से, भावी जन्म की उधेड-बुन के प्रयोजन से, वर्तमान मे मरणभय के प्रयोजन से तथा परम शान्ति पाने और दु ख को दूर करने के प्रयोजन से, मन, वचन और कायिक क्रिया का प्रयोग किया जाता है।[७] ऐसे प्रयोग से तथा हिसात्मक क्रियाओ की विपरीतता से हित और अहित का बोध नही रहता। अत मानव अनेक जीवो की हिसा करता है, अनेक जीवो को अपना गुलाम बनाता है, अनेक जीवो पर अपना शासन जमाता है, अनेक जीवो को ताडन, तर्जन और पीडा पहुँचाता है। ऐसी विपरीत क्रियाओ का मापदड है—हिसा और अनुकूल क्रियाओ का मापदड है—अहिसा।

इस प्रकार मन, वचन और काय की क्रियाओ का उचित और अनुचित प्रभाव दूसरो पर पडता भी है और नही भी पडता, किन्तु अपने आप पर तो उसका प्रभाव अवश्य पडता है। वे क्रियाएँ मानव का अग बन जाती है, इसे ही कर्म कहा जाता है। जिससे जीव सुख और दु ख का अनुभव करता है। हिसा व्यक्तित्व को विकृत करती है, ऊर्ध्वगामी ऊर्जा का ध्वश करती है, और जन्म-मरण का सवर्धन करती है। फलत स्व और पर के दु खात्मक जीवन का हेतु बनती है तथा विस्तृत चेतना को सिकोड कर

---

६. अपरिण्णायकम्मे खलु अय पुरिसे ——— विरुवरूवे फासे पडिसवेदयति।
आचा अ १ उ १ सु. ६

७. आचा अ १, उ १, सु. ७

उसका ह्रास करती है। अहिसा व्यक्तित्व को विकसित करती है, ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए मार्ग प्रशस्त करती है तथा परित्‌ससारी होने का प्रयास करती है। फलत स्व और पर के सुखात्मक जीवन का हेतु बनती है। इसी अहिसा से सिकुडी हुई चेतना पुन व्यापक बनती है और विशुद्धतम होती जाती है। इस प्रकार मन, वचन और काय रूप क्रियायोग का प्रभाव मानव पर पडता है और मानव का प्रभाव क्रियायोग पर पडता है।

हिसात्मक क्रिया निषेधात्मक होने पर भी अपने आप मे सबल होने से व्यापक रूप मे फैली हुई है। अहिसात्मक क्रिया विध्यात्मक होने पर भी ममत्व के कारण विनष्ट होती जा रही है। इस प्रकार क्रिया से कर्म, कर्म से ससार और ससार को भोगने वाली आत्मा। आत्मा अक्रिय है तो कर्मबन्ध नही है, कर्मबन्ध नही है तो ससार नही है, इस प्रकार योग प्रयोग से अयोग तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया केवल आचाराग के प्रथम अध्याय में निहित है। इस प्रकार साधक के लिए जड और चैतन्य का अभेद योग भेदविज्ञान के प्रयोग से अयोग तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया का शोधन करने मे समर्थ है।

शाब्दिक अर्थ में योग का प्रयोग

योग का प्रयोग शाब्दिक अर्थ मे देखा जाय तो सयम, समाधि, ध्यान आदि विशेष रूप मे प्रयुक्त हुआ है जैसे –

सूत्रकृताग सूत्र मे "जोगव"[८] शब्द सयम अर्थ मे
सूत्रकृताग टीका मे "जोगव" शब्द समाधि अर्थ मे
सूत्रकृताग सूत्र मे "झाण जोग[९] समाहट्टु" ध्यान अर्थ मे
स्थानाग सूत्र में "जोगवाही" शब्द समाधिस्थ अनासक्त योगी के अर्थ मे तथा
उत्तराध्ययन सूत्र मे "समाहि[१०]पडिसधए" शब्द समाधिस्थ अर्थ मे

उत्तराध्ययन सूत्र मे "जोए वह माणस्स" शब्द सयम अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। भगवती सूत्र मे ध्यान शब्द का अर्थ –अपने योगो (मन, वचन, काय) को किसी एक शुभ आलबन मे केन्द्रित करना कहा है। एक आलम्बन मे केन्द्रित होने का अभिप्राय यह है कि साधक ध्यान मे कम से कम एक समय और अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक स्थिर रह सकता है।[११]

---

८ सूत्रकृताग-१/२, उ १/११

९ सूत्रकृताग-१/८/२६

१० उत्तराध्ययन सूत्र-२७/२

११ जहन्नेण एक समय उक्कोसेण अन्तोमुहुत्त। भ सू श २५, उ ७, पृ २५४

यहाँ सूत्रकृतांग, स्थानांग, उत्तराध्ययन आदि आगम में जोग शब्द का प्रयोग सयम और समाधि अर्थ मे हुआ है यही योग का प्रयोग है[१२]जैसे–

मन-सयम-समाधि अर्थात् मन से वृत्तियो का निरोध
वाणी-सयम-समाधि अर्थात् व्यक्त-अव्यक्त विकल्पो का निरोध
काय-सयम-समाधि अर्थात् कायिक चेष्टा का निरोध–कायोत्सर्ग।

आकृति नं १
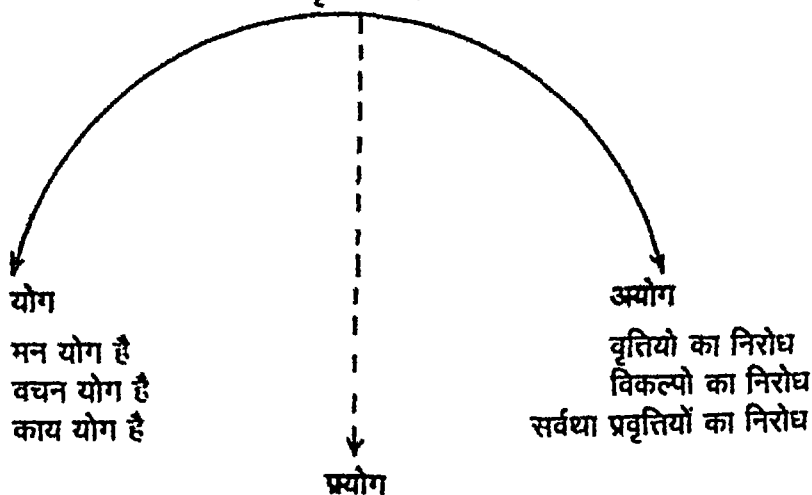
जैन परम्परा मे योगो का निरोध करने के लिए हठयोग के स्थान पर समिति-गुप्ति का विधान किया गया है। इसे सहज योग भी कहते हैं। श्रमण साधना की प्रत्येक प्रवृत्ति–जैसे–

आने-जाने की प्रवृत्ति–गतियोग (केवल चलना)
बैठने-सोने की प्रवृत्ति–स्थिति योग (केवल स्थिरता बैठने-सोने मे)
खाने-पीने की प्रवृत्ति–आहार योग[१३](केवल खाना)

---

१२ स्थानाग सूत्र अ ४, १, समवायाग सूत्र-४ भगवती सू श २५ ३ ७ उत्तराध्ययन सू ३० ३५

१३ जय चरे जय चिटठे जयमासे जय सए। जय भुजतो भासन्तो पावकम्म न बन्धई॥ (दशैकालिक अ ४ गा ७)

इत्यादि जो भी क्रियाएँ हैं उन समस्त क्रियाओ मे योग का प्रयोगात्मक स्थान है। जैसे चलते समय विकल्प रहित चलना, विकल्प रहित बैठना, विकल्प रहित खाना आदि।

योग को अनेक प्रवृत्तियो से हटाकर किसी एक प्रक्रिया मे केन्द्रित करने से मन स्थिर हो जाता है और साधक की साधना निर्बाध रूप से वर्तमान होती रहती है। एकाग्रता के अभाव मे प्रत्येक साधना असाध्य होती है। जैनागमो मे ऐसी साधना द्रव्य साधना कही जाती है और जब मन उसी शुभ चिन्तन मे सलग्न हो जाता है, तब वह भाव साधना कही जाती है। जैसे भाव आवश्यक आदि प्रक्रिया भावसाधना है।

इस प्रकार जैनागमो मे योग शब्द-सयम, समाधि, ध्यान, सवर, तप इत्यादि रूप मे प्रयुक्त हुआ है। किन्तु इतना ध्यान अवश्य रहे कि मन, वचन और काया का व्यापार ही इन सारी प्रवृत्ति मे विद्यमान है। मन, वचन और काया की प्रवृत्ति शुभयोग मे परिणमन होती है तब सवरयोगी सयम, समाधि, ध्यान और कायोत्सर्ग जैसी आराधना मे आसीन रहता है।

चित्त निरोध का उपाय

एक बार गणधर गौतम के मन मे जिज्ञासा हुई कि मन योग तो है किन्तु ऐसा कौनसा माध्यम है जिससे चित्त का निरोध हो सके ? अभिव्यक्त जिज्ञासा के प्रत्युत्तर मे परमात्मा ने कहा—**"एगग्ग-मण सनिवेसणयाए ण चित्त निरोह करेइ"**—वत्स मनयोग है लेकिन किसी एक आलबन पर स्थिर करने (रूप प्रयोग) से चित्त का निरोध अवश्य हो सकता है।[१४]

मन को एकाग्रता मे स्थापित करने के तीन उपाय श्रेष्ठ हैं—

१ एक ही पुद्गल मे दृष्टि को निविष्ट कर देना[१५]
२ मन को एक ही शुभ अवलम्बन मे स्थिर करना,
३ चित्त मे विकल्पो का न उठना।

चित्त मे प्रतिपल विकल्पो का आवागमन छाया रहता है। मन को एकाग्र करने से विकल्पो का जाल शान्त होता है। विकल्पो का न उठना ही निर्विकल्प दशा मानी जाती

---

१४ एगग्ग-मण सनिवेसणयाए ण चित्त निरोह करेइ। —उत्तराध्ययन सूत्र २९/२६

१५ एकपोग्गल-निविटठ दिट्ठिति - अतकृत-गजसुकुमार मुनि वर्णन

है। निर्विकल्प दशा मे चित्त वृत्तियो का निरोध होता है और इसी को शुभयोग या शुद्धयोग कहा जाता है।

उत्तराध्ययन सूत्र का "चित्त-निरोह" शब्द ही पातजल योग दर्शन मे चित्त वृत्ति निरोध अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

उत्तराध्ययन सूत्र के इस "चित्त निरोह" शब्द से साधक चित्त की एकाग्र दशा को प्राप्त करता है। इस दशा मे शुभयोग के उत्कर्ष से बाह्य वृत्तियो का निरोध होता है, अशुभ योग का सवरण होता है और कर्मबन्धन शिथिल होते है। इस प्रकार जीवन के विकास क्रम मे प्रकर्ष की प्राप्ति का आधारस्तम्भ आस्रव का निरोध सवर रूप योग है।

इसी अध्याय के तिरेपनवे सूत्र मे तो परमात्मा ने यौगिक प्रयोग से अयौगिक प्रक्रिया का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि—योग से ही योग की विशुद्धि होती है।[१६] मन, वचन और कायिक प्रयत्न की सत्यता से योग को विशुद्ध किया जाता है। योग की निरुद्धता से मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति होती है। जैसे—

मनोगुप्ति से साधक एकाग्रता को प्राप्त करता है। एकाग्रता से प्राय तीन लाभ होते हैं—

१ अशुभ विकल्प से मुक्ति

२ समभाव की पुष्टि और

३ विशुद्ध सयम की वृद्धि।

वचनगुप्ति से साधक निर्विचार भाव को प्राप्त करता है।

निर्विचार भाव से भी प्राय तीन लाभ होते हैं —

१ अशुभ वचन से निवृत्ति और शुभ वचन मे प्रवृत्ति

२ प्राय मौन की आराधना और

३ अज्झणण-जोग-ज्झाण-जुत्तो-अर्थात् अध्यात्मयोग के साधनभूत ध्यान से युक्त।

कायगुप्ति से जीव आस्रव का निरोध और सवर की प्राप्ति करता है।

सवर की प्रवृत्ति से प्राय तीन लाभ होते हैं—

१ अशुभकायिक प्रवृत्तियों का निरोध

२ शुभकायिक चेष्ठा मे प्रवृत्ति या काय मे प्रवृत्तमान और

३ पापो के आवागमन का निरोध।[१७]

---

१६ जोग-सच्चेण जोग विसोहेइ — उत्त २९/५३

१७ उत्तरा अ २९ गा ५४-५६

मन, वचन और काया के योग से प्रत्येक शुभ प्रवृत्ति कर्म निर्जरा का हेतु रूप होती है। आगम मे इस प्रकार के शुभ योग को समाधारणा कहते है। समाधारणा का मौलिक अर्थ समाधि होता है। इस प्रकार मन समाधारणा, वचन समाधारणा और काय समाधारणा का परिणाम विविध स्वरूप मे मिलता है जैसे–

मन समाधारणा की चार श्रुतियॉ है–

१ चित्त की एकाग्रता,
२ तात्त्विक बोध,
३ सम्यक्दर्शन की विशुद्धि, और
४ मिथ्यात्व का क्षय

सम्यक् मनन, चिन्तन और समाधि भाव मे स्थिर रहना मनसमाधारणा है।[२०]

वाणी को सतत स्वाध्याय मे सलग्न रखना वचन समाधारणा है। वचन समाधारणा की तीन श्रुतियॉ है–

१ दर्शन पर्यवो की विशुद्धि,
२ सुलभबोधि की प्राप्ति, और
३ दुर्लभबोधि की निर्जरा।

काया को सयम की शुद्ध प्रवृत्तियो मे प्रवृत्तमान रखना काय समाधारणा है। काय समाधारणा की भी चार श्रुतियॉ हैं जैसे–

१ चारित्र पर्यायो की क्रमश विशुद्धता से यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति
२ वेदनीयादि अघाती कर्मो का क्षय
३ सिद्ध, बुद्ध मुक्तावस्था और
४ समस्त दु खो का अत[२१]

इस प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र के मनोयोग, वचनयोग और काययोग रूप शुभयोग अर्थात् त्रिगुप्ति एव समाधारणा चित्तवृत्ति निरोध लक्षण से कुछ विशेष विलक्षणता के रूप मे प्रयुक्त हुआ है क्योकि चित्त वृत्ति निरोध मे महर्षि पतजलि ने तीन बातो को स्पष्ट किया है–

१ चित्त, २ वृत्तियो, और ३ निरोध।

साख्ययोग-मत के अनुसार सम्पूर्ण जगत् सत्वरजस्तमोरूप त्रिगुणात्मक है। इन

---

२० बृहद्वृत्ति पत्र ५९२

२१ उत्तरा २९/५६ से ५८

सत्त्वादि गुणो से चित्त की तरतमता मे परिवर्तन होता रहता है। जैन दर्शन के अनुसार चित्त की अवस्थाएँ अनेक हैं[१८] किन्तु भाष्यकार ने उसे पॉच विभागो मे विभक्त किया है।

चित्त की अवस्थाएँ

१ क्षिप्त २ मूढ ३ विक्षिप्त ४ एकाग्र और ५ निरुद्ध[१९]

क्षिप्त
१ इस अवस्था मे रजोगुण की प्रधानता
२ चित्त की चचलता और
३ विषय भोग की तीव्रता विशेष होती है।

मूढ
१ इस अवस्था मे तमोगुण की प्रधानता
२ विवेक बुद्धि की अल्पता और
३ हेय, ज्ञेय, उपादेय आदि ज्ञान का अभाव।

विक्षिप्त
१ इस अवस्था मे सत्त्वगुण की प्रधानता और रजोगुण की गौणता
२ मन की स्थिरता, मन की चचलता और मन की मिश्र अवस्था और
३ बहिर्मुखता, अतर्मुखता की न्यूनाधिकता।

चित्त की ये तीनो अवस्थाए जैन दर्शन मे अशुभ योग के रूप मे परिलक्षित होती हैं। जैसे आश्रव योग से सवर रूप समाधि उपादेय नहीं है वैसे ही ये तीनो अवस्थाएँ योग के लिए अनुपयोगी होने से उपादेय नही हैं।

चित्त की और भी दो अवस्थाएँ है—

१ एकाग्र और
२ निरुद्ध।

भाष्यकार ने इन दो अवस्थाओं को ही समाधि रूप मे स्वीकार किया है। जिस समय चित्त बाह्य वृत्तिओ से परे होकर किसी एक विषय मे स्थिर होता है उस अवस्था विशेष को एकाग्र कहा जाता है। इस अवस्था मे भी अचेतन मन मे कुछ सात्त्विक वृत्तियॉ स्फुरायमान होती रहती है। वे सभी आतरिक वृत्तियॉ और तज्जन्य सस्कार जिस अवस्था मे लय हो जाते हैं उस अवस्था विशेष को चित्त की निरुद्धावस्था मानी जाती हैं। अत यहॉ स्पष्ट है कि एकाग्र अवस्था मे बाह्य वृत्तियों का निरोध होता है और निरुद्धावस्था मे आतरिक वृत्तियो का निरोध होता है।

---

१८ अणेगचित्ते खलु अय पुरिसे-आचा /अ ३/उ-२/सू ११८
१९ भोजवृत्ति ११२ योगभाष्य

उपर्युक्त पॉचो अवस्थाओ मे प्रथम दो अवस्था अशुभ योग होने से समाधि के लिए सर्वथा हेय हैं। तीसरी अवस्था को योग की प्रारम्भावस्था कहा जा सकता है और अन्त की दो अवस्था सर्वथा उपादेय है । इस प्रकार–

कोष्ठक नं १

योग दर्शन	जैन दर्शन	अवस्था	प्राधान्य असमाधि
१ क्षिप्त	मन-वचन-काय-आश्रव योग	बहिर्मुखता	भौतिक विषयो का प्राधान्य असमाधि
२ मूढ			
३ विक्षिप्त	मन-वचन-काय-शुभा-शुभयोग	अतर्मुखता का प्रारम्भ	चित्तगत क्लेशो का अभाव-समाधि का प्रारम्भ
४ एकाग्र	मन-वचन-कायगुप्ति-शुद्धयोग	अतर्मुखी	निरोधाभिमुख-समाधि की प्राप्ति
५ निरुद्ध	मन-वचन-काय सर्वथा गुप्ति अयोग	सर्वथा अतर्मुखी	सर्वथा निरोध-समाधि का फल मोक्ष

सत्य के उत्कर्ष से चित्त की एकाग्रता का जो परिणाम पाया जाता है उससे स्वात्मा की अनुभूति, परमार्थभूत ध्येय वस्तु का साक्षात्कार, क्लेशो का नाश, कर्मबन्धनो का अभाव और निरोध की ओर अभिमुखता प्राप्त होती है । इसे ही योगदर्शन मे सप्रज्ञात-योग कहते हैं । इस योग मे मन की स्थिरता बनाये रखने के लिए आलबन की आवश्यकता रहती है अत सप्रज्ञात समाधि को सालबन समाधि भी कहते हैं । जैन दर्शन मे ये सालबन समाधि "मणसमितियोगेण"[२२] शब्द से स्पष्ट होती है। आगम मे मन समिति स-सम्यक्, इति-प्रवृत्ति अर्थात् मन की सत्प्रवृत्ति से शुभयोग रूप एकाग्रता और अनुप्रेक्षा होती रहती है । अत समिति योग से भावित साधक अन्तरात्मा की कोटि का होता है ।

संप्रज्ञात असंप्रज्ञात समिति-गुप्तियोग

चित्त की सम्पूर्ण वृत्तिओं का सर्वथा निरोध असप्रज्ञात-योग है । इस योग मे साधक, साधन और साध्य तीनो अभिन्न हो जाते हैं । यहॉ आलबन की आवश्यकता नहीं होती। अत असप्रज्ञात समाधि को निरालबन समाधि कहते हैं । जैन दर्शन मे इस निरालबन समाधि को मनोगुप्ति के रूप मे ग्रहण किया गया है ।

---

२२ प्रश्न व्याकरण । सवरद्वार ।

योगश्चितवृत्ति निरोध· इस सूत्र मे **क्लेशान्क्षिणोति स एव योग** कहकर सूत्रकार को वृत्ति निरोध से क्लेशादिको का नाश करने वाला निरोध ही अभीष्ट है। अत स्पष्ट है कि चितगतक्लेशादिरूप वृत्तियो का यहाँ निरोध स्वीकार किया गया है और उसे योग कहा है। जैन दर्शन के अनुसार इसी को ही आश्रव-निरोध रूप सवर शुभयोग कहा जाता है। अर्थात् मन समिति से मन की शुभ प्रवृत्ति और मन गुप्ति से मन की एकाग्रता एव मनोनिरोध अर्थ घटित होता है। इस प्रकार समिति-गुप्ति से मन की प्रवृत्ति, मन की स्थिरता और मनोवृत्ति का निरोध दृष्टिगोचर होता है।

मन की शुभ प्रवृत्ति से समाधि का प्रारम्भ होता है, मन की स्थिरता अर्थात् एकाग्रता से समाधि की प्राप्ति होती है और मनोवृत्ति के निरोध से समाधि के फल की उपलब्धि होती है। इस प्रकार समिति-गुप्ति रूप आगम सम्मत सवरयोग और चित्तवृत्तिनिरोध रूप मे कोई भिन्नता प्रतीत नही होती। क्योकि समाधि की प्राप्ति एकाग्रता से होती है और ऐसी एकाग्रता सयोगी केवली की अवस्था मे ही प्राप्त होती है। समाधि का फल यह अयोगी केवली की अवस्था है जिससे मोक्ष की उपलब्धि होती है। इस प्रकार शुभ योगारम्भ मे सत्प्रवृत्ति रूप मन समिति और विकल्प रहित निर्विकल्प अवस्था मे मनोगुप्ति सप्रज्ञात और असप्रज्ञात रूप से स्पष्ट परिलक्षित होती है।

इस प्रकार जैनागमो मे पॉच महाव्रतो का समावेश अहिसा से, पॉच समिति का समावेश सयम से और तीन गुप्ति का समावेश तप से किया है जैसे—**धम्मो मगलमुक्किट्ठ अहिसा सजमो तवो**[२३]पातजल दर्शन मे जो स्थान यम का है वही स्थान जैन दर्शन मे महाव्रतो का है। पॉच इन्द्रिय, चार कषाय और तीन योग का जय यह सयम रूप नियमन हुआ। छ प्रकार के आभ्यतर और छ प्रकार के बाह्य तप से योगाग मे समाधि तक कार्य सिद्ध होता है। अत दशवैकालिक आगम की एक ही पक्ति मे अहिसा, सयम और तप रूप त्रिपुटि से सपूर्ण योग मार्ग का उद्घाटन हो जाता है। इसी एक सूत्र मे ही योग सूत्र और व्यासभाष्य के सप्रज्ञात योग और असप्रज्ञात योग भव प्रत्यय और उपाय प्रत्यय, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति समाधि और प्रज्ञा आदि से प्राप्त लाभ पर्याप्त मात्रा मे भरा हुआ प्राप्त होता है।

जिस प्रकार योग दर्शन मे चित्त की एकाग्रता से बाह्य वृत्तियो का निरोध, क्लेशो का त्याग, कर्म बन्धनो का क्षय और समाधि रूप शान्ति की प्राप्ति का बोध कराया है उसी प्रकार जैनागमो मे आश्रव रूप योग का निरोध करके सवर रूप शुभयोग से

---

२३ दशवैकालिक-१/१

ध्यान और समाधि द्वारा सम्पूर्ण कर्मो का[२४] और सम्पूर्ण पाप का विनाश किया जाता है तथा योगावस्था से अयोगावस्था रूप सिद्धत्व की प्राप्ति हो जाती है।

यहाँ योगदर्शन के अनुसार एक और विशेष बात प्राप्त होती है—जैसे सत्प्रवृत्ति, एकाग्रता और निरोध। इन तीनो लक्षणो मे प्रथम सत्प्रवृत्ति जो है उससे सर्वप्रथम यम नियमादि शुभ योग मे प्रवृत्त होना नितान्त आवश्यक हो जाता है। किन्तु एकाग्रता का विषय विशेषता लेकर उठता है। सप्रज्ञात योग मे कुछ वृत्तियो का निरोध हो जाता है परन्तु सर्वथा निरोध के लिए प्रश्न विराम उत्तर की अपेक्षा रखता है। सर्व वृत्ति निरोध रूप असप्रज्ञात योग ही सर्वथा मान्य माना जाता है। जो जैनागमो मे मन समिति और मनोगुप्ति के स्वरूप ग्रहण किया जाता है। सत्प्रवृत्ति अर्थात् मन से जो भी प्रवृत्ति होती है। यहाँ मात्र सत्प्रवृत्ति को ही समिति योग कहते है। गुप्ति-गोपन करना मन से जो भी विकल्प पैदा होते हैं उसे गोपना अर्थात् मन के विचारो का त्याग और एकाग्रता मे स्थिरता होने से विकल्पो का निरोध होना ही गुप्तियोग है। गुप्तियोग से वृत्तिओ का सर्वथा निरोध रूप असप्रज्ञात योग घटित होता है। यहाँ समाधि का आरम्भ समाधि की प्राप्ति और समाधि के फलस्वरूप मोक्ष की उपलब्धि होती है। इस प्रकार पातञ्जल योग का "चित्त वृति निरोध" रूप सूत्र समिति गुप्ति रूप आगम सम्मत सवर योग मे ही समाहित हो जाता है' जो स्थानाग सूत्र मे चरित्तधम्मे रूप आचरणीय धार्मिक अनुष्ठान विशेष मेचरितार्थ होता है। अत जैनागमो के अनुसार मन, वचन और काय के व्यापार को योग कहा है जो आस्रव का एक अश है यही कर्म बधन का कारणभूत है। इन बन्धनो से मुक्त होने के लिए आस्रव निरोध रूप सवर मे शुभ योग का प्रयोग सम्पूर्ण रूप से घटित हो जाता है।

---

२४. स्था ३-४

२

प्राप्ति क्रम में प्रयोगात्मक निरीक्षण और परीक्षण

द्वितीय चरण (पृष्ठ १७ से ३२ तक)

१ संकल्प, विकल्प, स्थिरीकरण और मनोनिग्रह का उपाय

२. मानसिक तनाव और तनाव मुक्ति के उपाय

३ स्मृति, कल्पना, विचार आदि विकल्पो मे व्यथा-अव्यथा मौन

४ निर्विकल्प अवस्था ही अयोग दर्शन

५. सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर पर प्रभाव

२. प्राप्ति क्रम में प्रयोगात्मक निरीक्षण और परीक्षण

परिवर्तन की प्रक्रिया मनोयोग का प्रयोग

मन शुद्धि के प्रयोग का ज्ञान किसी को हो या न हो किन्तु मन की अशुद्धि के प्रयोग का ज्ञान तो मानव मात्र को है। अत मानव यदि शोधन करे तो अनुभव होगा कि साधना के क्षेत्र मे मन की प्रक्रिया का ज्ञान कितना आवश्यक है ?

हम शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, श्वास आदि स्थूल के दर्शन कर सकते हैं किन्तु दृश्य जगत के परे भी सूक्ष्म और सूक्ष्मतम जगत है जिसका हमे दर्शन करना है।

शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श का अस्तित्व इन्द्रिय जगत से होता है, जिससे विषयो का आकर्षण उत्तेजित होता रहता है। इन आकर्षणो मे राग और द्वेष का सम्बन्ध मन द्वारा होता है। कान शब्दो को सुनता है किन्तु उन शब्दो का आस्वादन नही कर पाता, प्रिय और अप्रिय का निर्णय नहीं करता, इसका निर्णय करने वाला मन है।

सक्रिय मन सदा-सर्वदा इन्द्रिय जन्य कार्य मे क्रियान्वित रहता है। आत्मा के चारो ओर कषाय का आवर्त है, जो अति सूक्ष्म है, इसके बाद अध्यवसाय का आवर्त है, उसके बाद तैजस और कार्मण शरीर का आवर्त है, यहाँ तक सूक्ष्मता होने से अदृश्यता है। इस अदृश्यता को दृश्य (शरीर इन्द्रिय आदि) से जोडने वाला योग है। योग का सयोग लेश्या से और लेश्या का सयोग अध्यवसाय से जुडा हुआ है। इस प्रकार अध्यवसाय के सयोग से स्थूल शरीर मे अनेक प्रकार के स्पंदन होते हैं। यही स्पन्दन सूक्ष्म मन और स्थूल मन द्वारा अभिव्यक्त होते रहते हैं[२]। अध्यवसाय तो --- "असखेज्जा अज्झवसाणठाणा" अर्थात् असख्य स्थान वाला है। अत मन विकल्प के रूप मे असख्य वार हमारे सामने चल-चित्रो की भाँति उपस्थित होता रहता है। भावि की कल्पनाओ मे सजोया रहता है और वृत्तियो के घेरे मे विक्षिप्त वना रहता है। हमारे जीवन मे अनेक प्रकार की घटनाएँ प्रतिक्षण घटित होंती रहती हैं। कभी हम देखते हैं, कभी सुनते हैं, कभी किसी को स्मरण करते हैं, कभी कल्पना मे डूब जाते हैं। फलत कभी सुख का, कभी दु ख का अनुभव होता है। जिस शक्ति द्वारा ये घटनाएँ घटित होती है, उसे चेतना (Consciousness) कहते हैं और इन संवेदन, उपलब्धि स्मृति

कल्पना, विचार, सुख, दु ख, प्रेम, भय और सकल्प को चित्तवृत्ति (States of Consciousness) कहते हैं ।

भोग और उपभोग के सर्व साधन इन वृत्तियो से ही उभरते हैं । वृत्तियो की पूर्ति काल मे मन, शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि इत्यादि तद्रुप हो जाते हैं । फलत अनावश्यक वृत्तियो की पूर्ति मे जीवन बुद्धि का व्यय हो जाता है । इन्द्रियो का सम्बन्ध मन के साथ और मन का सम्बन्ध वृत्तियो के साथ जुडा हुआ है । वस्त्र अपने आपमे श्वेत है, किन्तु बाहर से गदगी आती है और वस्त्र मैला हो जाता है । मन अपने आप मे शुभ्र है । वृत्तियो की गदगी आती है और शुभ्र मन को मलिन बना देती है । मन मलीन होते ही इन्द्रियॉ भोग मे आकर्षित होती है । अत इन्द्रियॉ चचल नहीं, मन चचल नहीं, चचल हैं हमारी वृत्तिंयॉ । मन की चचलता का अनुभव होता है, किन्तु वृत्तियो की ओर हमारा ध्यान ही नही जाता । अत सर्वप्रथम वृत्तियो की चचलता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होना चाहिए ।

हमारी इच्छाऍ वासनाऍ, अनेक कामनाऍ वृत्तियो के रूप मे मन को उत्तेजित करती रहती हैं । इन उत्तेजनाओं का प्रधान कारण है विषमता । विषमता से मन विक्षिप्त रहता है । विक्षिप्त मन में निमित्त मिलते ही क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि की ज्वालाऍ प्रज्ज्वलित होती है । भय, घृणा, कपट आदि क्रियाऍ वृत्तियो से सघर्ष फैलाती रहती है । फलत सकल्प-विकल्प, आशा-निराशा, सफलता-निष्फलता इत्यादि मानसिक तनाव के रूप मे समस्याऍ बनकर उभरती है अत मन प्रकपित रहता है, उद्वेलित रहता है, चचल हो उठता है तथा विकृति को फैलाता रहता है ।

मन का मालिन्य जिस प्रयोगात्मक ज्ञान से प्रतीत होता है, उसी प्रयोगात्मक ज्ञान मे मन की विशुद्धि का उपाय विद्यमान है । उस उपाय को चरितार्थ करने का सामर्थ्य भी उसी प्रयोगात्मक ज्ञान मे निहित हैं । इसलिए मन को बलात् रोकने की आवश्यकता नहीं किन्तु आत्मा मे विलीन करने की आवश्यकता है । मन एकाग्र होते ही चचलता शान्त हो जायेगी पानी मे पत्थर डालो पानी चचल हो जायेगा । अनेक तरगे उठने लगेगी । वैसे ही अस्थिर मन विकल्पो से तरगित हो जाता है और स्थिर मन शान्त हो जाता है । शान्त मन को मन गुप्ति कहते हैं । ये मनगुप्ति ही अयोग है ।

आगम मे मन के दो प्रकार हैं—१ द्रव्यमन २ भावमन। द्रव्यमन विकासशील प्राणियो में होता है । सज्ञी पचेन्द्रिय साधक ही द्रव्यमन का अधिकारी होता है । जो भी प्रवृत्ति होती है शुभ या अशुभ वह द्रव्यमन द्वारा होती है, कषाय द्वारा उभरती है, इच्छाओ द्वारा प्रसरती है ।

भावमन प्रत्येक जीवात्मा मे होता है। एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय जीवो तक फैला हुआ है। वनस्पति मे सवेदना विस्तृत रूप मे पायी जाती है उसका कारण भी यही भाव मन है।

वैज्ञानिको के अनुसार मन का आवेग एक सेकण्ड मे २२,६५,१२० मील का है। अत एक सेकण्ड मे अनेक कामनाएँ उठती हैं। वे कामनाएँ कार्य रूप मे बदलने की क्षमता रखती है। वही सकल्प है। जो सकल्प-विकल्प अस्थिर होते हैं, वे आते हैं और विलीन हो जाते हैं। उससे कोई लाभ या हानि नही होती। लाभ और हानि स्थिर सकल्प से होती है। इस प्रकार दोनो मन सकल्प विकल्प के जाल में उलझे रहते हैं।

प्राप्ति क्रम का निरीक्षण

१ सकल्प विकल्प-योग है,
स्थिरीकरण का उपाय प्रयोग है,
और मन का निग्रह (अमन)-अयोग है।

२ मानसिक तनाव योग है,
तनाव से मुक्त होने का उपाय उपयोग रूप प्रयोग है,
सर्वथा तनावमुक्त उपयोग रूप प्रयोग अयोग है।

३ चचल मन योग है,
स्थिर मन प्रयोग है,
और अमन अयोग है।

परिवर्तन की प्रक्रिया-वचनयोग का प्रयोग

वाणी का प्रभाव हमारे ज्ञान, विचार, स्मृति, कल्पना, विकार और प्रवृत्तियो पर पडता है ठीक उसी पकार हमारे स्थूल शरीर, प्राण और इन्द्रियो पर भी पडता है। यह प्रभाव सुनना और बोलना रूप वाणी के उभयात्मक परिवर्तन से परिलक्षित होता है।

जो वाणी बोली जाती है वह वायुमडल मे कपनो के प्रविष्ट होने से अनेक प्रकार के शब्द सवेदन के रूप मे उत्पन्न होती है। इन शब्दो को श्रवणेन्द्रिय कम से कम १२ कपन प्रति सैकण्ड और अधिक से अधिक ६० सहस्र पति सेकड वायु कंपन ग्रहण कर सकती है अत हमारी वाणी आगमिक रूप से चौदह राजुलोक घूमकर दूसरों की श्रवणेन्द्रि मे टकराती है और वह वाणी श्रवण द्वारा अनेको को प्रभावित करती है। उन शब्दो की अनेक शक्तिधारा को टेलिपेथी के रूप मे या यान्त्रिक रेडियो, टेलीफोन, टी वी., वी सी आर इत्यादि के माध्यम से वैज्ञानिको ने तरगित किया है।

व्यवहार जगत मे प्रत्येक मानव को बोलना आवश्यक है। बिना बोले जीवनचर्या का निर्वाह कैसे हो सकता है ? समस्या-समाधान, तर्क-वितर्क, सकल्प-विकल्प, कल्पना-स्मृति इत्यादि का माध्यम व्यक्त-अव्यक्त वाणी ही है। सत्-असत् किसी न किसी रूप मे वह साकार होती रहती है।

सामान्यत वाणी के चार स्तर है—सत्य वचन, असत्य वचन, मिश्र (सत्य-असत्य) वचन, व्यवहार वचन। इनमे से सत्य वचन को छोडकर अतिम तीन सर्व सामान्य सभी मानव मे पाये जाते हैं। जैसे—१ व्यक्ति बोलता है, २ व्यक्ति को बोलना पडता है, ३ बोलना आवश्यक है। मानवीय चेतना ने बोलना अनिवार्य मान लिया है, बोलने को ही प्राथमिकता दे दी है, फलत हमारी वाणी सीमातीत हो जाती है अनर्गल, अनावश्यक सक्लेशयुक्त वाणी के प्रयोग से आपस मे वैर-भाव की शृखला बढ जाती है, मानसिक क्षमता क्षीण हो जाती है। जो कार्य अल्प समय मे हो सकता है वह या तो अधिक समय मे या असमर्थ हो जाता है। अधिक बोलने से शक्ति क्षीण हो जाती है और सारा कार्य अस्त-व्यस्त हो जाता है।

शृगार रस से ओत-प्रोत कामोत्तेजक वाणी आसक्ति को जागृत करती है। आसक्ति से शरीर, मन, बुद्धि आदि का ह्रास होता है। इतना ही नही आसक्ति शरीर को आलसी, इन्द्रियो को विलासी, मन को चचल और बुद्धि को मूढ बना देती है।

प्रथम सत्य वचन विशेष व्यक्ति मे पाया जाता है। इस सत्य वचन को ही शुभ वचन योग कहते है। इसी शुभ वचन योग से मौन का प्रयोग और मौन प्रयोग से निर्विकार रूप अयोग अवस्था प्राप्त हो सकता है।

वाणी की अशुद्धि का अनुभव जिस ज्ञान के प्रयोग से होता है, उसी ज्ञान मे वाणी की शुद्धि का उपाय भी विद्यमान है। शुद्धि का उपाय चरितार्थ करने का सामर्थ्य हर साधक मे है, आवश्यकता है साधक अशुद्धि की अनुभूति को जाने और शुद्धि के प्रयोगो को सर्वदा समर्थ समझे। असत् वाणी का निरीक्षण और परीक्षण जब तक होता रहेगा, निश्चित सत् और असत् मिश्रित वाणी की अनुभूति होती जायेगी। मिश्र वाणी से सत्य वाणी और निर्विचार तक पहुँचने का प्रयत्न करना है। असत् वाणी का प्रयोग अज्ञानी के लिए है मिश्र या सत्य का प्रयोग पडित विद्वान या ज्ञानी के लिए है किन्तु निर्विचार का प्रयोग योगी के लिए है।

वचन योग का अभिप्राय वाणी सयम है। सयम का प्रयोग जब अपने अतिम लक्ष्य पर पहुँच जाता है तब वचन निरोध की भूमिका प्रारम्भ होती है। वचन योग का विशेष कार्य है निरोध। जब तक निरोध आदि पर ध्यान नहीं होता तब तक वाणी शोधन से निर्विचार का प्रयोग आवश्यक है।

निर्विचार अर्थात् वाणी का व्यक्त अव्यक्त मौन। मौन वाणी का निरोध व्यापार है। वाणी निरोध अर्थात् वचन गुप्ति। वचन गुप्ति से ज्ञान का सवर्धन होता है। जितना भाषा का प्रयोग अधिक होगा अतर्ज्ञान मे बाधाएँ उतनी ही अधिक आती रहेगी। चचलताएँ बढती रहेगी। शक्ति, सामर्थ्य और योग्यता का बहुत बडा समय वाणी विलास मे चर्चा-वार्ता विचारणा और व्यर्थ बोलने मे नष्ट हो जायेगा। अत जिस साधना मे सामर्थ्य-शक्ति और योग्यता की आवश्यकता थी वहाँ पूर्ति न होने से लाभ के स्थान पर हानि, शान्ति के स्थान पर अशान्ति निर्भय के स्थान पर भय, आनन्द के स्थान पर चिन्ता और उन्नति के स्थान पर अवनति छा जाती है फलत अनेक विकृतियाँ बढ जाती है।

विकृतियो की परिक्रमा टूटते ही अचिन्तन की अनुभूति अनुभवित होती है। चिन्तन से मुक्त होना, विकारो से मुक्त होना, विकल्पो के जाल से मुक्त होना, शब्दो से मुक्त होना ही अचिन्तन, निर्विचार, निर्विकल्प शब्दातीत या वचन गुप्ति होना है।

वचन गुप्ति शाब्दिक विकल्पो से परे होने का परम उपाय है। वचन गुप्ति का क्षण शक्ति सचय और ऊर्जा के सवर्धन का क्षण है। वचन गुप्ति आत्मा का स्वभाव, आत्मा का धर्म और अखड चेतना की सहज स्थिति है। ऐसे क्षणो मे हम अपने मूल स्वभाव के अनुभव मे होते है। ऐसी स्थिति मे हमारी आन्तरिक चेतना ज्ञान लोक मे डुबकी लगाती है। यही ज्ञान जब अचिन्त्य, अद्भुत और सीमातीत रूप प्रयोगात्मक हो जाता है तब अपूर्व जो कभी देखा नही वह दृश्यमान होने लगता है। कभी जाना नही ऐसा ज्ञान होने लगता है। कभी पाया नही उसे पाने लगता है। अदृश्य को दृश्य स्थूल से सूक्ष्म तक पहुँचने की प्रक्रिया ही वचन योग से प्रयोग और प्रयोग से अयोग तक की प्रक्रिया है।

सोचना वचन योग का कार्य है, देखना मनोयोग का कार्य है और दोनो के साथ-साथ चलना काय योग का कार्य है। जो वचन योग मे रहता है वह वचन गुप्ति को नही जानता, जो वचन गुप्ति को जानता है वह वचन योग मे नही रहता। विचारना विकल्प को सजोना है, कल्पना मे जीना है। कल्पना, स्मृति, सोचना, विचारना या चिन्तन करना शारीरिक प्रक्रिया है। वचन गुप्ति से विकल्प की जाल टूट जाती है, कल्पनाएँ समाप्त हो जाती है। न सोचना पडता है, न विचार आते हैं और न चिन्तन की आवश्यकता रहती है।

केवल निर्विचार अवस्था का ज्ञान रहता है। आत्मा के स्वभाव का मात्र बोध होता है।

प्राप्ति क्रम का निरीक्षण

स्मृति, कल्पना, विचार योग है।

इन तीनो का व्यक्त-अव्यक्त, मौन-प्रयोग है
और प्रयोग से सपूर्ण निर्विकल्प अवस्था अयोग है।

परिवर्तन की प्रक्रिया काय-योग का प्रयोग

शरीर ज्ञान

आत्मा जिस शरीर को धारण करता है वह शरीर दृश्य और अदृश्य स्थूल और सूक्ष्म दो स्वरूप मे हमारे समक्ष उपस्थित होता है। स्थूल शरीर दृश्यमान है, जिसे जैन दर्शन मे औदारिक कहा जाता है। यह शरीर अस्थि, रक्त, मज्जा, वीर्य आदि धातुओ से निर्मित हुआ है। सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म परमाणुओ से निर्मित होते है। जैन दर्शन मे सूक्ष्म शरीर तैजस और कार्मण दो प्रकार के होते हैं। कार्मण शरीर अति सूक्ष्म कर्म-वर्गणाओ द्वारा निर्मित होता है। चतु स्पर्शी होने के कारण तैजस शरीर से अति सूक्ष्म होता है। ये कार्मण शरीर चैतन्य और पुद्गल--दोनो के योग से निर्मित होता है। कार्मिक पुद्गल चैतन्य को प्रभावित करता है और चैतन्य कार्मिक पुद्गल को प्रभावित करता है। इस प्रकार दोनो के पारस्परिक सम्बन्ध से कर्म निकाचन होते हैं और स्थूल औदारिक और सूक्ष्म तैजस शरीर पुष्ट होता है।

दृश्यमान, स्थूल औदारिक शरीर अनेक शक्तियो का भडार है। इन शक्तियो का उपयोग करने वाले साधक विशिष्ट लब्धियो का द्वार खोल सकता है। हमारे शरीर मे अरबो, खरबो कोशिकाये हैं। हर कोशिका अपना स्वतन्त्र कार्य करती रहती है, इसमे कई कोशिकाएँ सूक्ष्म होती हैं और कई कोशिकाएँ स्थूल होती है। केवल मस्तिष्क मे ही १४ करोड कोशिकाओ का भडार है। १४ अरब ५ लाख ज्ञान तन्तुओ का जाल विद्यमान है। ये ज्ञान तन्तु नाना प्रकार के रग, राग ध्वनियाँ रूप, रस, गध आदि की अनुभूति का आस्वादन करते रहते हैं। शरीर शास्त्रियो ने अनेक वृत्तियो का अनेक सस्कारो का केन्द्र मस्तिष्क से खोजा है। अनेक सवेदनाएँ अति सूक्ष्म होती हैं, वे मस्तिष्क मे कभी तो तनाव लाती हैं और कभी शान्त हो जाती हैं, जिससे परिवर्तन की दिशा प्राप्त होती है। तनाव के समय मे बुद्धि नियन्त्रित नही रहती, किन्तु शान्ति के समय मे बुद्धि समूचे शरीर मे नियन्त्रण लाती है। इस नियन्त्रण से अनेक आतरिक द्वार खुल जाते हैं। वृहद् मस्तिष्क से निकलती हुई ज्ञान धारा लघु मस्तिष्क को पार करती हुई सुषुम्ना मार्ग मे फैलती है। पृष्ठरज्जु के माध्यम से सुषुम्ना मार्ग साधना मे सलग्न होने का आलबन बन जाता है। इस प्रकार मस्तिष्क से सुषुम्ना मार्ग

शरीर या मस्तिष्क गरम हो जाता है, जिस अवयव की ऊर्जा का उपयोग होता है, वहॉ उसका व्यय होता है, जिसका व्यय होता है, वहॉ गर्मी पैदा होती है। मन को केन्द्रित करने के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता है। पुरुषार्थ की प्रबलता से निर्विकल्पता का सयोग मिलता है। इन दोनो के बीच मे ऊर्जा का उपयोग अधिक मात्रा मे होने के कारण गर्मी का सवर्धन होता है। आज्ञाचक्र मे होने वाली एकाग्रता इस गर्मी को शीतलता प्रदान करती है।

विशुद्ध-चक्र मे एकाग्रता बढने पर वृत्तियॉ शान्त होती है। क्रोध की आग को शान्त करना है तो विशुद्ध-चक्र की साधना आवश्यक है। मान कषाय की तरगे समूचे शरीर मे व्यापक रूप से प्रज्ज्वलित हैं, उन तरगो से मुक्त होने के लिए या तरगो को शात करने के लिए विशुद्धि-चक्र का ध्यान परम उपाय है।

वृत्तियॉ शात होने का कार्य विशुद्धि-चक्र का है, किन्तु उन वृत्तियो मे उभार लाने वाला केन्द्र मणिपुर-चक्र है। मणिपुर-चक्र मे जैसे ही एकाग्रता होती है, वैसे ही तेजस्विता प्रज्ज्वलित होती है तेजुलेश्या की पुष्टि होती है और तैजस शरीर के विराट स्वरूप का दर्शन होता है।

विशुद्धि चक्र और मणिपुर-चक्र के बीच मे अनाहृत-चक्र है। यह चक्र अत्यन्त पवित्र स्थान पर है, जिनका अतकरण शुद्ध है, उसका जीवन शुद्ध है। अन्त करण की प्रसन्नता, विशालता और पवित्रता विशुद्धता से ही होती है। सम्पूर्ण शरीर मे जितना परिश्रम हृदय करता है उतना परिश्रम अन्य अवयव नही करते है। हृदय की थकान को दूर करने वाला अनाहृत-चक्र है।

अन्त करण की शुद्धि का ज्ञान किसी को हो या न भी हो, किन्तु अन्त करण की अशुद्धि का ज्ञान तो सभी को है। जब तक अनाहृत-चक्र मे स्थिरता नही होगी, तब तक विशुद्धि-चक्र की केवल कल्पना ही रहेगी। जहॉ स्थिरता है वहॉ शुद्धता है ही, जो भी चचलता भासती है, वही विक्षिप्तता है। जिस ज्ञान से विक्षिप्तता की अनुभूति होती है उसी ज्ञान मे अन्त करण की शुद्धि का सामर्थ्य निहित है। आवश्यकता है शुद्धि के उपाय की खोज की जाये। अनाहृत चक्र मे स्थिर मन राग को मिटाता है और शात, स्वस्थ तथा शुद्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति मे शुद्ध मन बाह्य जगत से छुटकारा पाता है और भीतर मे सदा सलग्न रहता है।

पृष्ठ रज्जु के नीचे का स्थान मूलाधार कहलाता है। इस चक्र के द्वारा साधना का केन्द्र बिन्दु प्रारम्भ होता है। विद्युत तरगे तरगित होती है, इन तरगो से शारीरिक ऊर्जाओ का प्रसारण होता है। मन को केन्द्रित करने का महत्त्वपूर्ण उपाय मूलाधार

केन्द्र हैं। जैसे ही मन एकाग्र होता है, मूलाधार से स्नायु ऊपर उठने लगते है। ऊर्ध्वाकर्षण का अनुभव उसी क्षण मणिपुर-चक्र को जागृत करता है। जैसे ही चक्र का उद्घाटन होगा, स्नायु सहज सकुचित होते जायेगे। यदि स्नायु सकुचित नही होते हैं तो मन केन्द्रित नही होता है, विकल्पो में भटक जाता है। मन की एकाग्रता और मूलाधार का सम्बन्ध अत्यन्त गहरा है। इन गहराई से मूलाधार मे विद्युत सचित होती है, सुषुम्ना पुष्ठ होती है और स्नायु मजबूत होते हैं।

मूलाधार पर मन केन्द्रित होते ही जैसे नीचे के स्नायु सकुचित होते है और विद्युत् का प्रवाह प्रवाहित होता है, वैसे ही स्वाधिष्ठान चक्र सचारित होता है। मूलाधार से स्वाधिष्ठान और स्वाधिष्ठान से मणिपुर आदि चक्रो मे विद्युत् का आदान-प्रदान रहता है।

आसन-जय

शरीर तन्त्र की सबलता आसन शुद्धि से होती है। ऐसे तो आसन अनेक हैं, किन्तु शरीर तन्त्र की सबलता के लिए कुछ आसन अनिवार्य है, जैसे पद्मासन, पर्यकासन वज्रासन, उत्कटिकासन, वीरासन, भद्रासन, दण्डासन, गोदोहिकासन, कायोत्सर्गासन[1]।

इन आसनो मे से जिस आसन मे मन स्थिर होवे सुखरूप लम्बे समय तक बैठ पाये, और चचलता से पर होवे वही आसन का प्रयोग साधक के लिए उपयुक्त है।

आसनो से शारीरिक लाभ ही नही मानसिक और आध्यात्मिक लाभ भी होता है। किसी भी आसन-जय से तनाव मुक्ति अवश्य होती है और प्रसन्नता, सहजानन्द, त्याग और वैराग्य सहज उत्पन्न होता है।

आसन-जय से शरीर की चचलता दूर होती है, रोग से मुक्ति होती है और आत्मिक शक्ति मिलती है। आसन-जय से प्राण शक्ति सतेज बनती है। शारीरिक शक्ति सतेज होती है और तैजस से औदारिक शरीर प्रभावी बनता है। स्थूलकाय स्थिर होते ही सूक्ष्म तैजस शरीर भी स्थिर होता है। सम्पूर्ण शरीर मे प्राणशक्ति सहज गति से सचारित होती है और आत्मतत्त्व की अनुभूति होती है।

इस प्रकार आसन-जय से स्थूल और सूक्ष्म दोनो शरीर की स्वस्थता, स्थिरता और शुद्धता मिलती है।

शारीरिक तनाव मानसिक तनाव से पैदा होता है। मन जितना खाली होगा उतना

---

१ योगशास्त्र – ४, १२४-१३४

ही शरीर तनावमुक्त होगा। मन खाली होते ही उसी आसन मे मन को टिकाए रखे और दीर्घ श्वास लेते रहे, क्योकि मन की गति आसन से सम्बन्धित होगी तो श्वास का प्रवाह भी तदनुरूप होता रहेगा।

आसन करने से शारीरिक कष्ट जो होता है, उसे जैन दर्शन मे काया-क्लेश कहते है। काया-क्लेश निर्जरा का हेतु है, इस हेतु द्वारा धैर्य और सहिष्णुता का विकास होता है, यही अध्यात्मिक लाभ है।

आसन द्वारा रक्त सचार सुयोग्य होता है, शारीरिक वेदना शात होती है और मानसिक तनाव दूर होता है। आहार, निद्रा और थकान अल्प मात्रा मे होते हैं। शरीर हल्का, मन प्रसन्न और इन्द्रिय-जय पर्याप्त मात्रा मे, होता है।

इन्द्रिय-जय

शारीरिक व्यग्रता अनेक निमित्तो से होती है। उसमे इन्द्रिय भी निमित्त है। जब प्रवृत्ति बाह्य जगत से सम्बन्धित है तब इन्द्रिय जगत चचल होता है। देखना, सुनना, गध लेना, आस्वादन करना या स्पर्श करना ये सारी प्रवृत्ति जो शरीर सम्बन्धी है वह इन्द्रिय विषयो से सम्बन्धित हैं। ऐसा कभी नही हो सकता कि श्रवणेन्द्रिय शक्ति है और शब्द सुनाई न दे, ऑखो की रोशनी है और रूप दिखाई न दे। मिर्चो की गध तीखी होती है, नीबू का स्वाद खट्टा होता है। ये दोनो इन्द्रियो का विषय है।

गर्मी के मौसम मे गर्मी की और सर्दी के मौसम मे सर्दी की सवेदना होती ही है। गर्म हवा की स्पर्शना होते ही या ठडी हवा की स्पर्शना होते ही मन ऊब जाता है। इन्द्रिय जन्य ज्ञान शारीरिक ज्ञान है, इस ज्ञान का आवरण सघन है। जब तक अतीन्द्रिय स्तर का विकास नही होता तब तक आवरण पतला नहीं होता। शारीरिक व्यग्रता को रोकने की सफलता नही होती। व्यग्रता को रोकने का उपाय इन्द्रिय आसक्ति से पर अनासक्त हो जाना है। मन की स्थिरता का अभ्यास करने से इन्द्रिय-जय आसाक्ति से पर हो सकता है। एकाग्रता का अभ्यास करने पर क्रमश आसक्ति से औदासिन्यता आती रहेगी और अनासक्ति भाव परिपक्व होता जायेगा।

आसक्ति से कषाय भाव उत्पन्न होता है। जैसे ही इन्द्रियॉ अन्तर्मुखी होती जायेगी, कषाय भाव से निवृत्ति होती जायेगी।

क्रोध निवृत्ति का उपाय क्षमा की प्रवृत्ति है।
मान निवृत्ति का उपाय मृदुता का व्यवहार है।
माया निवृत्ति का उपाय ऋजुता का अभ्यास है।
लोभ निवृत्ति का उपाय सतोष का अनुभव पाना है।

इन्द्रिय-जय से शारीरिक लाभ होता है और कषाय-जय से मानसिक लाभ होता है। इस प्रकार काययोग द्वारा मानसिक और वाचिक दोनों प्रकार की विशुद्धि होती है।

प्राणवायु-जय

प्राण है तो जीवन है, जीवन है तो प्राण है। अत शरीर मे प्राण का स्थान सर्वोपरि है। इससे हमारे स्थूल शरीर से पर तैजस शरीर मे कार्य सचालित होता है। हमारी धारणा होती है कि जो श्वासोच्छ्वास ले रहे हैं, उसका आयाम ही प्राणायाम है, किन्तु वह धारणा स्थूल है नथुंनो से जो वायु ग्रहण किया जाता है, उसे प्राणवायु (ऑक्सीजन) कहा जाता है। प्राण वायु और प्राण दोनो एक नही। प्राण का सम्बन्ध चेतना से जुडा हुआ है। प्राणवायु का सम्बन्ध स्थूल शरीर से जुडा है।

तैजस शक्ति और चैतन्य शक्ति--इन दोनो का योग होते ही प्राण की उत्पत्ति होती है। हमारे शरीर मे मूलाधार चक्र है, जहाँ सुषुम्ना का प्रवेश द्वार है। मूलाधार और सुषुम्ना ही प्राण शक्ति प्रगट होने का स्थान है। इसी स्थान से प्राणशक्ति सचारित होती है। सुषुम्ना से लेकर यह प्राणशक्ति मस्तिष्क तक पहुँचती है। नीचे से ऊपर तक इस शक्ति को ले जाने वाला योगी ही होता है। योगी की शक्ति ऊर्ध्वगामी होती है और भोगी की शक्ति अधोगामी होती है। भोग से रोग बढता है और योग से तन और मन दोनो की स्वस्थता बढती है। पाणवायु से पाण विशुद्ध होता है। प्राणवायु विशुद्ध होगा तो प्राण उत्तेजित होगा। प्राण उत्तेजित होगा तो रक्त समूचे शरीर मे सक्रिय रूप मे सचरित होगा।

रक्त का संचार हृदय द्वारा होता है। हृदय से रक्त फेफडो मे जाता है। पाणवायु (ऑक्सीजन) से फेफडे विशुद्ध होते है और फेफडो से रक्त विशुद्ध होता है। इस प्रकार पाणवायु विशुद्ध होगा तो अशुद्ध रक्त को शुद्ध कर कार्बन आदि को शरीर से निकाल दिया जायेगा और ऑक्सीजन द्वारा रक्त शुद्धि प्रवाहित होती जायेगी। पाणवायु शुद्ध है तो रक्त शुद्ध है, प्राणवायु दूषित है तो रक्त भी दूषित है। दूषित रक्त समूचे शरीर को रुग्ण बना देता है अत. शुद्ध वायु रक्त को शुद्ध बनाता है। शुद्ध रक्त शरीर को निरोगी बनाता है और निरोगी शरीर से प्राण को बल मिलता है।

जहाँ प्राणवायु पहुँचता है वहाँ प्राण उत्तेजित होता है। जहाँ प्राणवायु नहीं पहुँचता वहाँ रक्त का शोधन नहीं होगा। जहाँ रक्त का शोधन नहीं होगा वहाँ, अनेक विकृतियाँ बढती जायेंगी। इन विकृतियों को दूर करने का उपाय है प्राणायाम। प्राणायाम द्वारा प्राणवायु की साधना सिद्ध होती है। जो प्राणायाम को जानता है, वह प्राणवायु का शासन करना जानता है। प्राणायाम के बिना प्राणवायु का स्वच्छ, उर्ध्वगमन नहीं होता और प्राणवायु की शुद्धि के बिना प्राणायाम की साधना अपूर्ण है।

प्राणायाम द्वारा तैजस-लब्धि सम्पन्न होती है। तैजस लब्धि द्वारा नाना प्रकार की ग्रथियाँ, चक्र आदि जाग्रत होते हैं। ग्रथियाँ या चक्र जागृत होने से प्राणधारा जो टेढी-मेढी हो जाती थी, वह सरल, सीधी हो जाती है। प्राणधारा सहज होते ही शारीरिक और मानसिक स्वस्थता प्राप्त होती है। विपरीत वातावरण में भी शान्ति का अनुभव होता है। अनेक सिद्धियाँ और लब्धियाँ जाग्रत होती हैं। अपने विचारो से दूसरो को प्रभावित करने की क्षमता बढती है। प्राणायाम की साधना से एक ऐसी चुम्बकीय शक्ति प्राप्त होती है, जिससे दुर्बल से दुर्बल मानव भी सबल होता है। उसके आभा मडल से अनेक ऊर्जाएँ स्फूरायमान होती हैं। इस प्रकार इन ऊर्जाओ से नाडीतन्त्र-स्वरतन्त्र शुद्ध होता है और नाभि, हृदय-फेफड़े, मस्तिष्क आदि सुदृढ होते हैं।

जब प्राण वायु का क्रम मेरुदण्ड (Medulla Oblongata) मे होकर किया जाता है तब मूलाधार से वायु ऊर्ध्वगामी होता हुआ मस्तिष्क तक पहुँचता है और आज्ञाचक्र द्वारा नथुनो से बाहर निकलता है।

नाडी-तन्त्र

साधना के क्षेत्र मे चक्र के साथ नाडी तत्त्व का उपयोग भी महत्त्वपूर्ण है। शरीर मे नाडी तत्त्व का विशेष उपयोग होता है क्योकि सभी नाडियो से शरीर मे शक्ति का सचार होता है। तैजस शक्ति और चेतना शक्ति का माध्यम नाडी शक्ति है। यही सम्पूर्ण शक्ति स्थूल शरीर मे प्रवाहित होती है।

वैज्ञानिको के अनुसार प्राणशक्ति और नाड़ीशक्ति जैव विद्युत (Biological Electric) है। सिर से पैर तक सम्पूर्ण शरीर मे जो नाडीतन्त्र प्रसारित हुआ है उसका सम्बन्ध तैजस शक्ति से जुडा हुआ है।

सुषुम्ना नाडी सर्वोत्तम नाडीतन्त्र है। इस तन्त्र का प्राण शक्ति से गहरा सम्बन्ध है। नाडीतन्त्र जितना विशुद्ध और बलवान होगा प्राणशक्ति उतनी ही प्रबल होती है। नाडीतन्त्र की विशुद्धि स्वर नियन्त्रण से होती है। हमारे दाएँ और बाएँ नथुने से जो वायु प्रसारित होती है वह इडा और पिगला नाडी से निकलता है और दोनो नथुने से निकलता है। वह सुषुम्ना नाडी से प्रसारित होता है।

इस प्रकार तीनो नाडियाँ प्राणवायु से सम्बन्धित है अत तीनो नाडियो से विद्युत् प्रवाह प्रसारित होता है। धन (Positive) और ऋण (Negative) विद्युत्। दोनो विद्युत् भिन्न-भिन्न धारा (Waves)मे प्रवाहित होती है। शरीर के ऊपर के विभाग मे धन विद्युत् है और नीचे के विभाग मे ऋण-विद्युत्। उत्तरी ध्रुव मे धन विद्युत् है, दक्षिणी ध्रुव

मे ऋण विद्युत् है। यदि हमारा मस्तिष्क उत्तर मे और पैर दक्षिण मे होंगे तो ऋणात्मक विद्युत् का घर्षण होगा, स्वास्थ्य मे हानि होगी, विचारो मे विकृतियाँ होगी और मानसिक तनाव उत्पन्न होगा।

आकृति नं. २

मस्तिष्क का पिछला भाग।

छोटा मस्तिष्क

MEDULLA OBLONGATA

OLIVE

IXth NERVE

Xth NERVE VAGUS N

12th NERVE
HYPOGLOSSAL N

SPINAL CORD

चन्द्र स्वर

पृष्ठ रज्जु मे स्थित इडा नाड़ि

पिंगला नाड़ि सूर्यस्वर

Central Canal
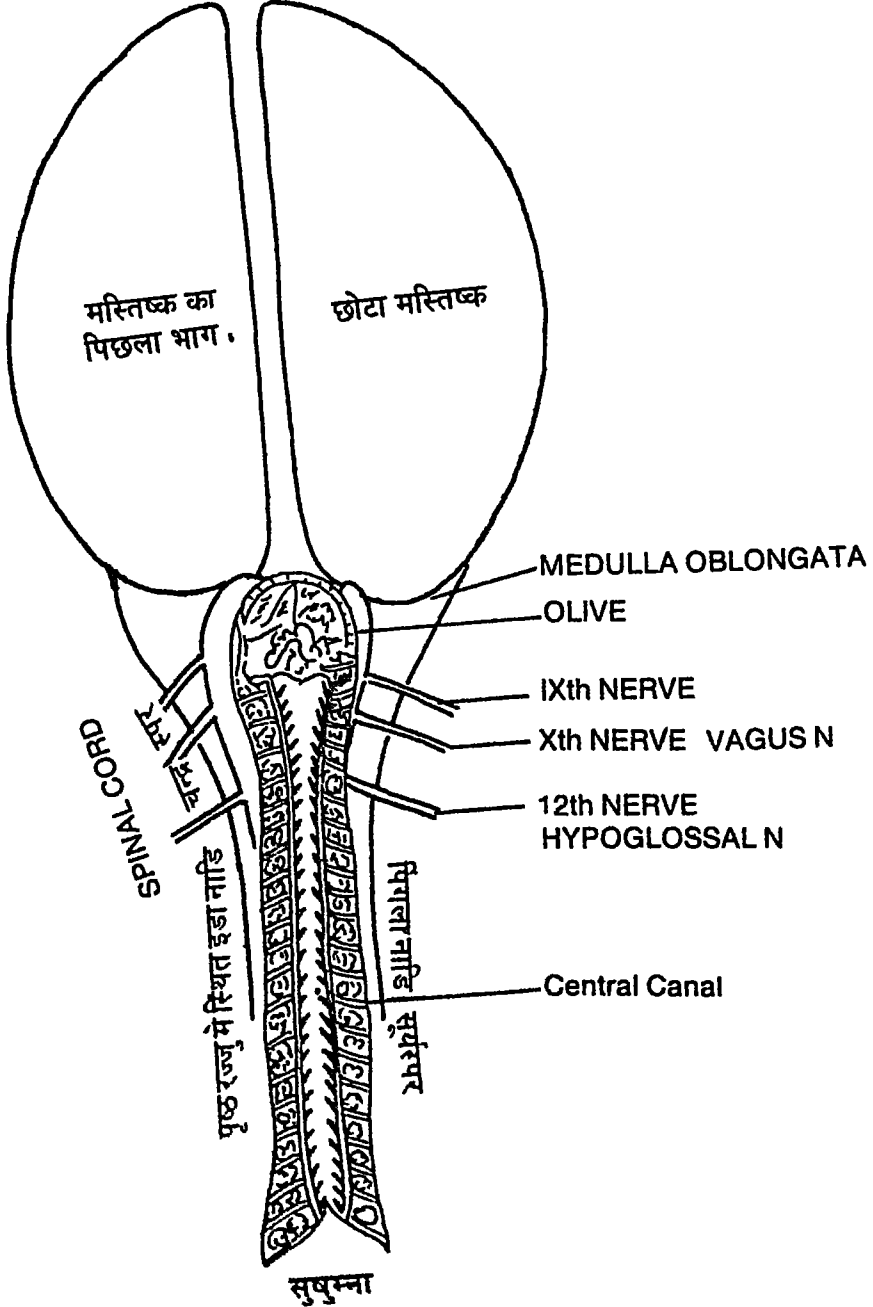
सुषुम्ना

मन का स्थान मस्तिष्क है। मस्तिष्क के पिछले हिस्सो से अर्थात् मेडुला ओब्लोगेटा से सम्पूर्ण शरीर मे सदेशा मिलता है जैसे—इच्छा, द्वेष, सुख-दुख, ज्ञान, सकल्प आदि इसी मे उत्पन्न होते है। यदि मस्तिष्क मे वृत्तियो का आवेग होता है और गडबडी होती है तो मन भोग के उपभोग से भ्रष्ट हो जाता है। छोटा मस्तिष्क (Cerebellum) से इडा-पिगला और सुषुम्ना तीनो का प्रवाह दो प्रकार से होता है। [जैसा आकृति 2 मे दिखाया गया है।]

१ धन विद्युत् (Positive) ऊपरी विभाग मे है ऋण विद्युत् (Negative) नीचे के विभाग मे है। इस प्रकार सुषुम्ना से सहस्त्रसार तक धन विद्युत् और ऋण विद्युत् सेतु की तरह विद्यमान है। अत उत्तरीय ध्रुव मे धन विद्युत होने से यदि मस्तिष्क रखकर सोवे तो Physical body मे तनाव पैदा होता है। Etheric body मे रांसायनिक परिवर्तन होता है और Astrol body मे कर्म-विपाक सक्रमण रूप मे परिवर्तन होता है।

प्राप्तिक्रम का निरीक्षण

१ शारीरिक आकर्षण-योग है।

२ इन्दियजय, आसनजय वायु-श्वासोश्वासजय, शिथिलीकरण आदि प्रयोग है।

३ कायोत्सर्ग से स्थिरीकरण काय-गुप्ति अयोग है।

इस स्थूल शरीर को स्थिर करने का उपाय है काय-गुप्ति। काय-गुप्ति से विवेक-चेतना जागृत होती है। काय-गुप्त की साधना का प्रारम्भ होते ही शारीरिक ममत्व टूटता है, शरीर और मैं भिन्न हैं ऐसी प्रतीति होती है। काय-गुप्ति का अर्थ केवल प्रवृत्ति का विसर्जन ही नही है, किन्तु शरीर की मूर्च्छा का टूट जाना है, अर्थात् देह मूर्च्छा न होना ही काय-गुप्ति की साधना है। काय-गुप्ति की साधना से कायोत्सर्ग की साधना सधती है।

सहज निवृत्ति का प्रयोग भोग को योग मे और कायोत्सर्ग राग को त्याग मे परिवर्तित करने का सामर्थ्य जगाता है। इस प्रकार काय-गुप्ति कायोत्सर्ग के प्रयोग से अयोग तक पहुँचकर सभी समस्याओ को हल करने मे समर्थ है।

३

साहित्यिक योग में अनुशीलन के प्रयोग

तृतीय चरण (पृष्ठ ३३ से ५० तक)

१. तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति का उपाय--ज्ञान

२ यथार्थ मार्ग का आधार--दर्शन

३. कुशल प्रवृत्तियों का प्राण--चारित्र

४ योगाधिकारी की उपज से मार्गान्तरीकरण

  १. योग श्रेणी

  २. योग दृष्टि

  ३ योग भूमि

  ४. शब्द, विषय और प्रक्रियात्मक रूप से सादृश्य-वैदृश्य

५. भाव विश्लेषण--उदय, क्षयोपक्षम, परिणाम

३. साहित्यिक योग में अनुशीलन के प्रयोग

जैनागमो मे योग की प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन करने के पश्चात् उसी आधार से इतर जैन साहित्य मे भी जैन योग की प्रक्रिया का प्रयोग प्रस्तुत किया जा रहा है–

आचार्यो ने योग विषयक सभी ग्रथो मे उन सब प्रयोगात्मक पद्धति को योग कहा हैं, जिनसे आत्मा की विशुद्धि होती है, कर्म–मलका नाश होता है और आत्मा का मोक्ष के साथ सयोग होता है।[१] मोक्ष का समायोजन दर्शन, ज्ञान और चारित्र की त्रिपुटी पर समाधृत है। साधना के विकास यान पर आरूढ आत्मा के लिए इन तीनो सात्विक प्रयोगो को अनिवार्यत अगीकार्य माना गया है। अत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र के एक आत्मा मे समिलन सयोग या सम्बन्ध को निश्चय–नय से योग कहा जाता है।[२]

सम्यग्दर्शन

निश्चय योग मे मुख्यत धारणा, ध्यान और समाधि का समावेश होता है। यहाँ सम्यग्दर्शन धारणा को सिद्ध करता है। उमास्वाति के शब्दो मे "तत्वरूप" पदार्थों की श्रद्धा अर्थात् दृढ प्रतीति सम्यग्दर्शन है।[३]

श्री हेमचन्द्राचार्य के शब्दो मे—श्री जिनेश्वर—कथित जीवादि तत्वो मे रुचि होना सम्यक्–श्रद्धा (दर्शन) है।

सम्यग्दर्शन का सामान्यत अर्थ सत्य का साक्षात्कार करना है। सत्य का पूर्ण साक्षात्कार चक्षु इन्द्रिय के द्वारा सम्भव न होने से सत्यभूत जो नव तत्व बतलाए गए हैं उनके सद्भाव मे विश्वास करना सम्यग्दर्शन है।[४] इन तथ्यो मेश्रद्धा करने पर चेतन–अचेतन का भेदज्ञान, ससार के विषयो से विरक्ति, मोक्ष के प्रति झुकाव, परलोकादि के सद्भाव मे विश्वास और चेतनमात्र के प्रति दयादिभाव उत्पन्न होते हैं।

---

१ योगविंशिका गा १
२ योगशतक श्लो २ की टीका
३ तत्वार्थ सूत्र १/२
४ उत्तराध्ययन २८/१५

इस प्रकार के भावो के उत्पन्न होने पर जीव धीरे-धीरे सत्य का पूर्ण साक्षात्कार कर लेता है अत जैनदर्शन मे यौगिक प्रयोग प्रणालिका मे सम्यग्दर्शन का स्थान सर्वोपरि है।

सम्यग्दर्शन के पश्चात् सम्यग्ज्ञान का भी स्थान उतना ही महत्वपूर्ण है। प्रमाण और नयो के द्वारा जीवादि तत्वो का सशय विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित यथार्थ बोध सम्यगज्ञान कहलाता है।[५]

सम्यग्ज्ञान

सम्यग्ज्ञान का अर्थ है—सत्यज्ञान। यहाँ सत्यज्ञान से तात्पर्य घट-पटादि ससारिक वस्तुओ को जानना मात्र नही है अपितु मोक्षप्राप्ति मे सहायक तथ्यो का ज्ञान अभिप्रेत है अर्थात् सम्यग्दर्शन से जिन ९ तथ्यो पर विश्वास किया गया था उनको समुचित रूप से जानना।

सम्यकचारित्र

समस्त सावद्य-सपाप व्यापारो (मन-वचन-काया) के योगो का ज्ञान-पूर्वक त्याग करना चारित्र है। चारित्र जब सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानपूर्वक कषायादि भाव अर्थात् राग द्वेष और योग की निवृत्ति होने पर स्वरूप रमणतायुक्त होता है तब वही प्रयोगात्मक चारित्र सम्यकचारित्र कहा जाता है।

सम्यक्चारित्र से समाधि सिद्ध होती है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन धारणा स्वरूप, सम्यग्ज्ञान ध्यान स्वरूप और सम्यग्चारित्र समाधि स्वरूप सिद्ध होता है। धारणायोग से किसी भी शुभ ध्येय मे चित्त को स्थित करने की कला प्राप्त होती है और उसके ध्यान की कला प्रगट होती है। श्रुतज्ञान के योग से भावना ज्ञान की प्राप्ति होती है और भावना के सातत्य से ही ध्यान की सहज प्राप्ति होती है। ध्यान और ज्ञान की अभिरुचि की तीव्रता बढते ही तन्मयता सिद्ध होती है एव सूक्ष्म अर्थ के पर्यालोचन से सवेग और स्पर्श योग की प्राप्ति होती है।[६] इस प्रकार "योग" तत्वज्ञान की प्राप्ति का परम उपाय है।[७] अध्यात्म-मार्ग का आधार है[८] और कुशल प्रवृत्ति का प्राण है।[९]

---

५. तत्त्वार्थ राजवर्तित—१/१/२
६ तत्त्वार्थ राजवार्तित—१/१/२
७ षोडशक-१४ श्लो १ की टीका
८ योगशतक श्लो १ की टीका
९ योग बिन्दु श्लो ६८.

सम्यक्ज्ञान, दर्शन और चारित्र के साधन रूप को, जैसे गुरुविनय, शास्त्रश्रवण, यथाशक्य व्रत—नियम इत्यादि धर्म अनुष्ठान को, व्यवहारयोग कहते हैं।[१०]

ध्यानशतक आवश्यक हरिभद्रीयटीका मे ज्ञानादि भावना के प्रयोग को भी योग कहा है।[११] ज्ञान भावना से अज्ञान दूर होता है क्योकि ज्ञान स्वय प्रकाश है, तप शोधक है और सयम गुप्ति रूप है ; इन तीनो के समन्वय को भी आचार्य श्री भद्रबाहु ने निर्युक्ति में योग कहा है।[१२]

वार्तिककारो ने वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से प्राप्त वीर्य लब्धि को भी योग कहा है। ऐसे सामर्थ्य वाले आत्मा का मन, वचन, काया के निमित्त से आत्मप्रदेशो के परिस्पन्दन को भी योग कहते हैं।[१३] इन मनोवर्गणादि के निमित्त से आत्मप्रदेशो मे कभी हलन-चलन होता है[१४] तो कभी सकोच विकोच एव परिभ्रमण रूप परिस्पन्दन होता है, इत्यादि समस्त प्रक्रिया योग कही जाती है।[१५]

जैनागम चैतन्य की अभिव्यक्ति का अनुभव उसका आनन्द और विज्ञान की प्रवृत्ति के सिवाय दूसरे कार्यो मे प्रवृत्ति करने की समति ही नहीं देता, यदि अनिवार्य रूप से प्रवृत्ति करनी आवश्यक हो तो वह है निवृत्तिमय प्रवृत्ति और वही उसे मान्य है।

विज्ञान भोगजन्य शक्तियो का मापदड निकाल सकता है, मानव को सुख-सुविधाओ का साधन दे सकता है, किन्तु उन साधनो से उपार्जित मानसिक तनाव, वासनात्मक शारीरिक अभिशाप या विनाश नही रोक सकता। लाखो वैज्ञानिक मिलकर भी एक रक्त की बूद नहीं बना सकते हैं; और न कार्बोनिक रसायनो का रहस्य पाकर उनके जैसे रसायन उत्पन्न कर सकते हैं।

एडिग्टन जैसे अग्रणी वैज्ञानिक कहते हैं कि इस भौतिक जगत् का चेतना के साथ यदि अनुसधान नहीं है तब तो जीव और पुद्गल कल्पना मात्र ही रहेगा।

अनिन्द्रिय विषय का सवेदन हमारे अनुभव मे आवे या न आवे पर समग्र सत्य विज्ञान का उद्भव उसी मे से होता है।[१६] ऐसा अवश्य मान्य है। स्वय विज्ञान ही तत्वज्ञानियो द्वारा निरूपित सत्यो को उद्घोषित करते हैं। अध्यात्मयोगियो के प्रति

---

१०. योगशतक श्लो २२ की टीका पृ १२
११ ध्यानशतक गा ३६ आवश्यक हारिभद्रीय टीका पृ ५९२
१२. आवश्यक निर्युक्ति (भद्रबाहुकृत) गा १०३ पृ ४३४
१३ राजवार्तिक ९/१७/११/६०३/३३
१४. सर्वार्थसिद्धि-२/२६/१८३/१
१५ धवला १०/४, २, ४, १७५/४३७/७
१६ Dr. Albert Einstein ibid, p 117

अहोभाव व्यक्त करते हैं क्योकि सत्य की खोज ऋषियो द्वारा उस समय हुई थी जबकि पाश्चात्य सस्कृति अपनी बाल्यावस्था मे मिट्टी मे खेलती थी।[१७]

शब्द शास्त्र मे भी शब्द रूपमन्त्र शुद्धि को यौगिक-प्रयोग का द्वार मानकर उसका अन्तिम ध्येय परम श्रेय ही माना है।

कर्मशास्त्र का भी आखिरी उद्देश्य मोक्ष ही है। इस प्रकार भारतीय साहित्य का कोई भी स्रोत क्यो न हो अतिम ध्येय मोक्ष ही रहा है।

व्यवहार हो या परमार्थ, किसी भी विषय का ज्ञान आचरण के बिना परिपक्व नहीं हो सकता और आचरण ही योग है। सच्चा ज्ञानी ही योगी माना जाता है क्योकि ज्ञान का प्रकाश सूर्य के प्रकाश से अनेक गुना अधिक गतिमान होता है।[१८]

योग का उपभोग योग का शरीर है और योग का उपयोग योग की आत्मा है। निवृत्ति रूप प्रवृत्ति का अभ्यास ही जैन उपयोग का आदर्श रहा है।[१९]साधुचर्या मे पच महाव्रत आदि यम, तप, स्वाध्याय आदि नियम, पर्यकासन, वीरासन, उत्कटिकासन आदि आसन, कायोत्सर्ग आदि मुद्रा इत्यादि इन्द्रियजय होता है।

नाडी विज्ञान, सुषुम्ना का उत्तेजन और प्राणवायु की विशुद्धि प्राणायाम है, जिससे तैजस जाग्रत होता है।

शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि मनोज्ञ-अमनोज्ञ वासनात्मकजय प्रत्याहार है।

साध्वाचार का जयणाजोग[२०]स्वाध्याय आदि धारणा है। चार प्रहर मे तीन प्रहर स्वाध्याय और ध्यान की मुख्यता होती है अत साधुचर्या मे स्थित रहना ही ध्यान माना गया है।

ध्यान के लक्षण, भेद, प्रभेद आलबन आदि का विस्तृत वर्णन का भी स्पष्टीकरण आगम और साहित्य मे पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त होता है।

---

१७. Paul Brunton, The Hidden Teaching Beyond
सूर्य-चन्द्र ग्रह का प्रकाश पृथ्वी से तारों का अन्तर बताने के लिए विज्ञान द्वारा स्वीकृत परिणाम है प्रकाशवर्ष। एक प्रकाशवर्ष यानि एक सैकण्ड में एक लाख छियासी हजार मील लगभग तीन लाख किलोमीटर के वेग से गति करता प्रकाश एक वर्ष में जितना अन्तर काटे उतना अन्तर। चन्द से पृथ्वी तक-लगभग सवा दो लाख मील अर्थात् ३,८४,००० किलोमीटर आने में प्रकाश को लगभग सवा सैकण्ड लगता है। नौ करोड़ और तीस लाख मील-१४ करोड ८८ लाख किलोमीटर दूर रहे सूर्य में से निकलकर पृथ्वी तक आने में प्रकाश को करीब आठ मिनट (५०० सैकिण्ड) लगते हैं और नैप्यून के तेज को हमारी आँख तक पहुँचने में चार प्रकाश घण्टे लगते है, अर्थात् पृथ्वी से चन्द सवा प्रकाश सैकण्ड, सूर्य लगभग सवा आठ प्रकाश मिनट और नैप्यून चार प्रकाश घण्टे दूर कहा जायेगा।

१८ Yoga, p-11

१९ उत्तराध्ययन-अ २४/२३

२०. उत्तराध्ययन-अ २६/१२

निर्युक्ति मे भी उपर्युक्त अगो का विश्लेषण स्थान-स्थान पर पाया जाता है।[२१]

तत्वार्थ सूत्र[२२]और ध्यान शतक[२३]मे भी ध्यान सम्बन्धी वर्णन प्राप्त होला है किन्तु आगम और निर्युक्ति की अपेक्षा विशेष जानकारी नही मिलती है।

आत्मिक विकास क्रम के रूप मे चौदह गुणस्थान, चार ध्यान, बेहिरात्म आदि तीन अवस्थाएँ इत्योदि साहित्य मे भी शुभ योग प्रवृत्ति का विशेष उल्लेख प्राप्त होता है।

शुभयोग का क्रमिक विकास योग साहित्य मे कायाकल्प के रूप मे हरिभद्रसूरिकृत योगबिन्दु, योगदृष्टि समुच्चय, योगशतक, योगविशिका, षोडशक आदि ग्रन्थो मे प्राप्त होता है। इन ग्रन्थो मे योग सूत्र मे वर्णित योग प्रक्रियाओ के पारिभाषिक शब्दो का मिलान भी किया गया है।[२४]इन ग्रन्थो मे दो ग्रथ सस्कृत मे और दो ग्रन्थ प्राकृत मे हैं।

योगबिन्दु

योग-बिन्दु मे आचार्यश्री ने योग की उत्पत्ति का विशेष विवेचन किया है। इस विवेचन मे पुद्गलावर्त शब्द का जो प्रयोग है वह अपने आप मे महत्वपूर्ण है। पुद्गल अर्थात् रूप, रस, गध, स्पर्श आदि मूर्तद्रव्य और आवर्त मनोज्ञ अमनोज्ञ सयोग। जीव अनादि-अनन्त काल से शरीर, वचन और मन द्वारा ऐसे पुद्गलो का ग्रहण और विसर्जन करता रहता है। ससार प्रवाह की आदि कर ज्ञान हो या न हो किन्तु अन्त तो पुरुषार्थ द्वारा अवश्य किया जाता है किन्तु साध्य की सिद्धि का उपाय असाध्य तो नहीं पर दुष्कर अवश्य है। साध्य की सिद्धि का उपाय आचार्य श्री ने योग बिन्दु मे शुभ योग द्वारा साध्य किया है। जैसे—गुरु, देव आदि की १. भक्ति, २ सदाचार, ३. तप, ४ मुक्ति के प्रति अद्वेष। इन चारों मार्ग से प्रवेश पाने के पश्चात् साधक योगमार्ग का अधिकारी होता है जैसे—

१ अपुनर्बन्धक, २ सम्यग्दृष्टि, ३ देश विरति और ४ सर्वविरति।

१ अपुनर्बन्धक दर्शन मोह का अंश होने पर भी क्रमश योगवृद्धि साधकर ग्रथि भेद तक की साधना

---

२१ आवश्यक निर्युक्ति गा १४६२-८६
२२ तत्त्वार्थ-अ ९/२७
२३ हारिभद्रिय आवश्यक वृत्ति पृ ५८१
२४ योगबिन्दु-श्लो ४१८-२०

२ सम्यग्दृष्टि — चरित्रबल के प्रति अनुराग, दर्शन मोह के उपशम या क्षय से मोक्षाभिमुख, भावयोग और अनुष्ठान मे अन्तर्विवेक ।

३ देशविरति — सक्लेश का ह्रास, श्रद्धा, पुरुषार्थ, यथायोग्य प्रयत्न, अध्यात्म भावना, ध्यान समत्व, वृतिसक्षय का परमार्थ देश विरति मे प्रारम्भ होता है । जिसे योगबीज भी कहते हैं ।

४ सर्वविरति — देश विरति का व्यापक रूप जैसे—मैत्री आदि का चिन्तन करना अध्यात्मयोग है । इससे पापक्षय, वीर्योत्कर्ष और चित्त समाधि अध्यात्मका पुन अभ्यास भावना योग है । भावना द्वारा चित्तगत उपयोग से एक विषय पर एकाग्र होना ध्यान योग है । इष्ट-अनिष्ट पदार्थो के प्रति तटस्थता समत्व योग है, और वृत्तियो का जड मूल से नाश तथा मोक्ष की प्राप्ति-वृत्ति सक्षय योग है ।

योगाधिकारी के भेद

कोष्टक न २
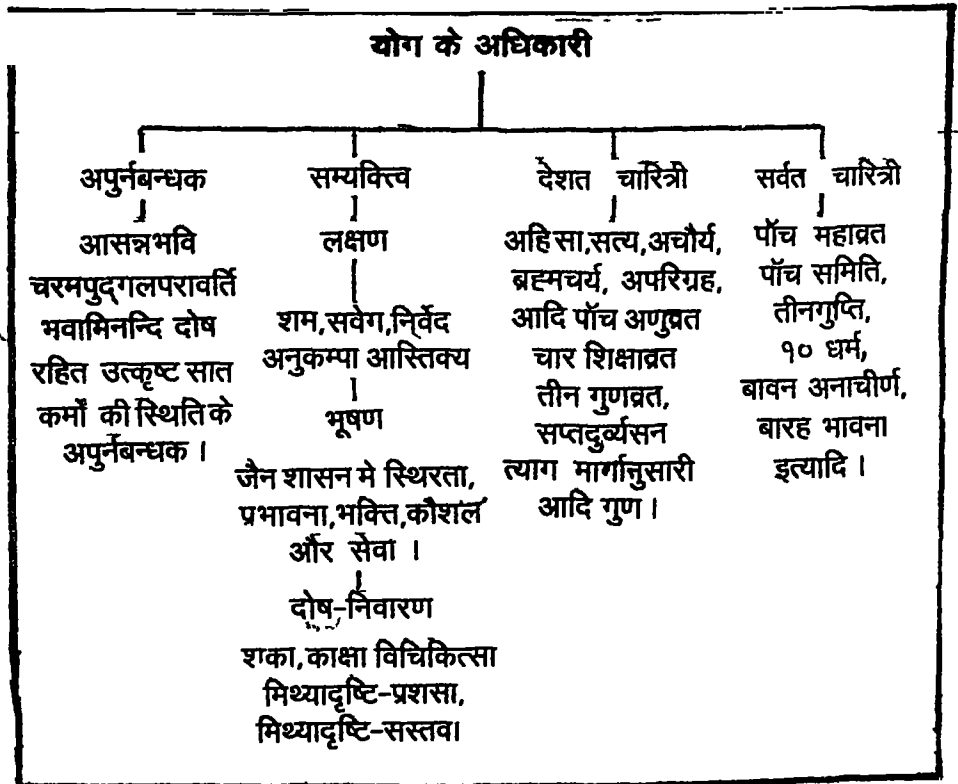
इस प्रकार अपुनर्बन्धक से सर्वविरत तक योग का उपाय आचार्यश्री ने अध्यात्मयोग आदि योग रूप पॉच भूमिकाओ द्वारा प्रस्तुत किया है। इस प्रकार आचार्यश्री नें पूर्व सेवा से प्रारम्भ करके वृत्ति सक्षय और मोक्ष तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया योगबिन्दु मे दर्शायी है। पूर्व सेवा से समत्त्वयोग तक सम्पूर्ण सवर योग वृत्तिसक्षय योग के उपायजन्य होने से वृत्तिसक्षय योग की पूर्व भूमिका ही कही जा सकती है। पातजलि योगसूत्र मे असप्रज्ञात योग ही प्रमुख योग है किन्तु सम्प्रज्ञात योग की सम्पूर्ण प्रवृत्ति योग की भूमिका तक ही मान्य कही गई है। अत योग की इन पॉचो भूमिकाओ मे से प्रथम चार भूमिकाओ की पतजलि सम्मत सम्प्रज्ञात समाधि के साथ और अन्तिम धृत्तिसक्षय योग असप्रज्ञात समाधि के साथ तुलना होती है।[२५]

योगदृष्टिसमुच्चय

योगदृष्टिसमुच्चय मे आने वाला आध्यात्मिक विकास क्रम का वर्णन योग बिन्दु के वर्णन से परिभाषा, वर्गीकरण तथा शैली मे कुछ भिन्न है। योगबिन्दु के कई विषयक इसमे शब्दान्तर से आते है तो दूसरे कई विषय नये भी परिलक्षित होते है।

इसमे जीव की अचरमावर्तकालीन-अज्ञानकालीन अवस्था को ओधदृष्टि और चरमावर्तकालीन-ज्ञानकालीन अवस्था को योगदृष्टि कहा है। ओघदृष्टि मे प्रवृत्ति करने वाले भवाभिनन्दी का वर्णन योगबिन्दु (श्लोक १२-५, ७६) से मिलता-जुलता है।

ग्रन्थ मे योंग भूमिका के तीन वर्गीकरण मिलते हैं। एक मे योग की प्रारम्भिक योग्यता से लेकर उसके अन्त तक की भूमिकाओ को कर्ममल के तारतम्य के अनुसार आठ भागो मे बॉटकर उन्हें आठ योगदृष्टि कहा है। जैसे—मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा। (श्लोक १३) यह विभाग पातजल दर्शन मे प्रसिद्ध यम, नियम आदि आठ योगागो के[२६]आधार पर तथा खेद, उद्वेग आदि बौद्ध परम्परा में प्रसिद्ध आठ पृथग्जनचित्तो के अर्थात् दोषो के[२७]परिहार के आधार पर और अद्वेष जिज्ञासा आदि आठ योगगुण के[२८]प्राकट्य के आधार पर किया गया है [श्लोक १६]

योग बिन्दु मे वर्णित पूर्व सेवा आदि का वर्णन भी इसमे योगबीज रूप मे कुछ विस्तार से मिलता है।

---

२५ योगबिन्दु श्लो ४१९-२१
२६ यौगसूत्र-२-२९
२७ षोडशक-१४, श्लो २ से ११
२८ षोडशक-१६-१४

दूसरा वर्गीकरण इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग इस प्रकार तीन भाग मे है। तीसरे वर्गीकरण मे योगियो को चार भाग मे बॉटा गया है—१ गौत्रयोगी, २ कुलयोगी, ३ प्रवृत्तचक्रयोगी तथा ४ सिद्धयोगी। इनमे से बीच के दो को योग का अधिकारी माना है। पहले मे योग्यता का अभाव होने से वह अनधिकारी है और सिद्धयोगी को तो योग की आवश्यकता ही न होने से वह अनधिकारी है।

[श्लोक २०८-१२]

योगशतक

योगशतक योगबिन्दु के साथ सबसे अधिक साम्य रखता है। योगबिन्दु की बहुत-सी योगवस्तु योगशतक मे सक्षेप मे आ जाती है।

इसमे प्रारम्भ मे निश्चय एव व्यवहार का स्वरूप दिखलाया है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र इन तीनो का आत्मा के साथ का सम्बन्ध निश्चययोग है (गाथा २), जबकि इन तीनो के कारणो को व्यवहार योग कहते हैं। (गाथा ४)

योगविशिका

इस ग्रन्थ मे योग वस्तु का बहुत ही सक्षेप मे निरूपण किया गया है। इसमे आध्यात्मिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था का वर्णन नही है, पर बाद की विकसित अवस्थाओ का ही निरूपण है। योग के मुख्य अधिकारी रूप से चारित्री का निर्देश करके उसके आवश्यक धर्मव्यापार को योग कहा है और योग से भी प्रस्तुत मे स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलबन और अनालबन जैसे पॉच योग भेद अथवा भूमिकाऍ अभिप्रेत है। (गाथा २) इनमे से आलबन एव अनालबन इन दो का ही अर्थ मूल (गाथा १९) मे है।

योगशास्त्र और जैनदर्शन का साम्य

योगशास्त्र और जैन-दर्शन का सादृश्य मुख्यतया तीन प्रकार का है। १ शब्द का २ विषय का और ३ प्रक्रिया का।

१ मूल योगसूत्र मे ही नही किन्तु उसके भाष्य तक मे ऐसे अनेक शब्द हैं जो जैनेतर दर्शनो मे प्रसिद्ध नही है, या बहुत कम प्रसिद्ध हैं, किन्तु जैन शास्त्र मे खास प्रसिद्ध हैं। जैसे—भवप्रत्यय,[२९] सवितर्क सविचार, निर्विचार[३०], महाव्रत[३१], कृत कारित,

---

तत्वार्थ आदि अन्य ग्रन्थ	योग सूत्र
२९ १-२२	१-१९
३० ९-४३, ४४	१-४२, ४४
३१ ७-२ भाष्य	२-३१

अनुमोदित[३२], प्रकाशावरण[३३], सोपक्रम, निरूपक्रम[३४], वज्रसहनन[३५], केवली[३६], कुशल[३७] ज्ञानावरणीयकर्म[३८], सम्यग्ज्ञान[३९], सम्यग्दर्शन[४०], सर्वज्ञ[४१], क्षीणकलेश[४२] चरमदेह[४३] आदि।

२ प्रसुप्त, तनु आदिक्लेशावस्था[४४], पॉच यम[४५], योगजन्य[४६] विभूति सोपक्रम निरूपमक्रम[४७] कर्म का स्वरूप, तथा उसके दृष्टान्त, अनेक कार्यो[४८] का निर्माण आदि।

३ परिणामि—नित्यता अर्थात् उत्पाद्, व्यय, ध्रौव्य रूप से त्रिरूप वस्तु मानकर तदनुसार धर्म का विवेचन-योगसूत्र साख्यसिद्धान्तानुसारी होने से "ऋते चितिशक्ते परिणामिनो भावा " यह सिद्धान्त मानकर परिणामवाद का। उपयोग सिर्फ जडभाग मे अर्थात् प्रकृति मे करता है, चेतन मे नही और जैनदर्शन तो "सर्व भावा परिणामिन " ऐसा सिद्धान्त मानकर परिणामवाद अर्थात् उत्पादव्ययरूप पर्याय का उपयोग जड-चेतन दोनो मे करता है।

योग दर्शन मे महर्षि पतजली ने पाद १ सूत्र १ मे चित्तवृत्ति का निरोध योग कहा है। इसी सूत्र की समीक्षा विषय पर उपाध्यायजी ने इस प्रकार की अपनी कलम चलाई है। पतजलि के कथनानुसार चित्तवृत्तिनिरोध इस लक्षण में जो "सर्व" शब्द का ग्रहण उन्होने इसलिए नही किया है कि यह लक्षण उभययोग साधारण है। सम्प्रज्ञात योग मे कुछ वृत्तियॉ होती भी हैं। पर असम्प्रज्ञात मे सब रुक जाती है। अगर "सर्वचित्तवृत्तिनिरोध" ऐसा लक्षण किया जाता तो असम्प्रज्ञात ही योग कहलाता

	तत्वार्थ आदि अन्य ग्रन्थ	योग सूत्र	
३२	६-९	२-३१	
३३	६-११	२-५२ तथा ३-४३	
३४.	२-५२	३-२२	
३५	(अ ८-१२) भाष्य	(३-४६)	
३६.	६-१४	२-२७ भाष्य	
३७.	दश निर्युक्ति १८६	२-२७ भाष्य	१८६
३८	आवश्यक-८९३	२-५१ भाष्य	८९३
३९.	अ-१-१	२-२८ भाष्य	
४०	१-२	४-१५ भाष्य	
४१	३-४९	३-४९ भाष्य	
४२	९-३८	१-४ भाष्य	
४३.	२-५२	२-४ भाष्य	
४४.	दश अ ४·	२-३१	
४५	आवश्यकनिर्युक्ति (गा ६९. ७०)	२-३१	
४६.	आवश्यक निर्यक्ति (गाथा ९५६)	३-२२	
४७.	विशेषावश्यक भाष्य (३०६१)	३-२२ भाष्य	
४८.	२५२ भाष्य	४-४	

इस तरह गुप्ति और समिति मन मुक्तिमार्ग के प्राप्त करने मे प्रमुख हेतु है। अत चित्तवृत्ति निरोध लक्षण मे जो भी बाधाएं प्राप्त होती है उनका निराकरण समिति गुप्ति के यथार्थ स्वरूप को समझ लेने पर ही हो सकता है। यहां इतना अवश्य ध्यान रहे कि मन समिति मे मन की शुभ प्रवृत्तिया प्रधान है और मनोगुप्ति मे मन की एकाग्रता और निरोध मुख्य है।

प्रमाण का लक्षण एव जैन विचारधारणा

प्रथम पाद सूत्र ५ से ११ तक मे पांच वृत्तियो का निरोध करने योग निरूपण किया गया है। इन सूत्रो की समीक्षा, इस पर उपाध्याय जी ने अपनी कलम चलायी है कि इस प्रकार की ही एक सूत्रकार ने वृत्तियो के पांच भेद किये हैं– १ प्रमाण, २ विपर्यय, ३ विकल्प, ४ निद्रा और ५ स्मृति किन्तु ये वृत्तियॉ तात्त्विक नही हैं। केवल उनकी रुचि का परिणाम मात्र है। वस्तुत प्रमाण और विपर्यय ये दो चित्तवृत्तियॉ ही सम्भव है। पिछली तीनो वृत्तियॉ यथार्थ तथा अयथार्थ उभयरूप देखी जाती है। अत उनका समावेश उक्त दोनो वृत्तियो मे हो जाता है। इस दृष्टि से वृत्ति के दो ही विभाग

४९ उपाध्याय यशोविजयजी कृत व्याख्योपेत पातञ्जलि योगदर्शन पृष्ठ २

देह और प्रकृति लयो मे जो भवप्रत्यय (जन्मसिद्ध) योग का पाया
नकी सगति जैन दर्शन के अनुसार लवसप्तम देवो– अनुत्तर
रनी चाहिये, क्योकि उन देवो को जन्म से ही ज्ञान योग रूप समाधि
देव और मनुष्य का एक भय पूर्ण करके कैवल्य ज्ञान और कैवल्य
र सिद्ध, बुद्ध, और मुक्त होते है ।

होता है कि कार्मण शरीर पुद्‌गल विपाकी नही है। क्योकि उससे
रस, गन्ध, स्पर्श और सस्थान आदि का आगमन आदि नही पाया
ए योग को कार्मण शरीर से उत्पन्न होने वाला (औदयिक) मान लेना
समाधान नही मे मिलता है; क्योकि सर्व कर्मो का आश्रय होने से
ो पुद्‌गलविपाकी ही है। अर्थात् वह सर्व कर्मो का आश्रय या आधार है।

होता है कि कार्मण शरीर का उदय विनष्ट होने के समय मे योग का
जाता है । इसलिए योग कार्मणशरीरजनित है, ऐसा मानना चाहिए ?
भी नही मे है, क्योकि, यदि ऐसा माना जाये तो अघाति-कर्मोदय के
के अनन्तर ही विनष्ट होने वाले पारिणामिक भव्यत्व भाव के भी
का प्रसग प्राप्त होगा । इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से योग का
सिद्ध हुआ ।[५३]

ा, वैर-विरोध, सघर्ष-क्लेश आदि की धाराएँ, मन मे गहरे सस्कार
लस्वरूप वही सस्कार ग्रथियो का रूप धारण करती है। अमोनिया पर
बर्फ बन जाता है वैसे ही वृत्तियो का आवेग और सवेग ग्रन्थि के रूप मे
और अवचेतन मन मे अवस्थित रहता है ।

कोष्ठक नं. 3

	चेतना	शरीर
न मन [conscious mind]	गुप्त चेतना	स्थूल-औदारिक शरीर [Physical body]
तन मन [b-conscious nd]	अप्रकट चेतना	सूक्ष्म-तैजस शरीर [Etheric body]
ा मन [onscious mind]	प्रकट चेतना	सूक्ष्मतम-कार्मण-शरीर [Astrol body]

—५/१, ७, ४८/३२५/१०

आदि विकल्प अशास्त्रीय है वह सब विपर्ययरूप है और "चैतन्य यह पुरुष का स्वरूप है। "इत्यादि जो विकल्प शास्त्र सिद्ध है वह सब नयरूप होने से प्रमाण के एक देश रूप है।

निद्रावृत्ति एकान्त अभाव विषयक नही होती। उसमे हाथी, घोडे आदि अनेक भावो का भी कभी-कभी भास होता है, अर्थात् स्वप्न अवस्था भी एक तरह की निद्रा ही है। इसी तरह वह सच भी होती है। यह देखा गया है कि अनेक बार जागृत अवस्था मे जैसा अनुभव हुआ हो निद्रा मे भी वैसा ही भास होता है, और कभी-कभी निद्रा मे जो अनुभव हुआ हो वही जागने के बाद अक्षरश सत्य सिद्ध होता है।[५२]

स्मृतिज्ञान, श्रुतज्ञान अनुमान और प्रत्यभिज्ञा द्वारा अनुभूत पदार्थो के ज्ञान द्वारा जिस आत्मा को सहकारि, चित्तवृत्ति होती है वह स्मृतिज्ञान कहलाता है। यह स्मृतिज्ञान भी यथार्थ और अयथार्थ उभय प्रकार का होता है। अत विकल्प निद्रा और स्मृति का प्रमाण मे तथा विपर्यय मे अन्तर्भाव होता है। ये वृत्तियाँ सम्प्रग्ज्ञानियो को अक्लिष्ट रूप मे होती है।

सोलहवे सूत्र मे सूत्रकार ने योग के उपायभूत वैराग्य के ऊपर और पर ऐसे भेद किये है, उस पर उपाध्यायजी ने अपनी कलम चलाई है। पहला वैराग्य "आपात धर्म सन्यास" नामक है, जो विषयगत दोषो की भावना से परिलक्षित होता है।

दूसरा वैराग्य "तात्त्विक धर्म सन्यास" नामक है, जो स्वरूप चिन्ता से होने वाली विषयो की उदासीनता से उत्पन्न होता है। जिसका सभव प्रभत्त गुणस्थान से सवर्धन होता हुआ अप्रमत्त गुणस्थान, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म सपराय आदि गुणस्थानो मे प्राप्त होता है। सम्यक् चारित्र रूप धर्म क्षायोपशमिक अवस्था-अपूर्णता को छोडकर क्षायिकभाव पूर्णता को प्राप्त करते है। यहाँ पर जीवात्मा को वैराग्य की प्राप्ति होती है।

वैराग्य की प्राप्ति होने पर आत्मज्ञानी योगी अपूर्व वीर्य द्वारा सप्रज्ञात समाधि को प्राप्त करता है।

सप्रज्ञात और असप्रज्ञात समाधि का स्वरूप

शास्त्रवार्ता समुच्चय की स्वाद्वादकल्पलता के टीकाकार का कहना है कि जैन दर्शन के शुक्लध्यान को ही महर्षि पतजली ने सप्रज्ञात समाधि नाम से अभिहित किया है तथा सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद बताये हैं—सवितर्क निर्वितर्क सविचार और निर्विचार।

---

५२. उपाध्याय यशोविजयजी कृत व्याख्योपेत पातञ्जल योग दर्शन पृ ४

सूत्रकार मे विदेह और प्रकृति लयो मे जो भवप्रत्यय (जन्मसिद्ध) योग का पाया जाना कहा है उसकी सगति जैन दर्शन के अनुसार लवसप्तम देवो– अनुत्तर विमानवासी–मे करनी चाहिये, क्योकि उन देवो को जन्म से ही ज्ञान योग रूप समाधि होती है। ये योगी देव और मनुष्य का एक भय पूर्ण करके कैवल्य ज्ञान और कैवल्य दर्शन को प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध, और मुक्त होते है।

यहाँ प्रश्न होता है कि कार्मण शरीर पुद्गल विपाकी नही है। क्योकि उससे पुद्गलो के वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और सस्थान आदि का आगमन आदि नही पाया जाता है। इसलिए योग को कार्मण शरीर से उत्पन्न होने वाला (औदयिक) मान लेना चाहिए। इसका समाधान नही मे मिलता है; क्योकि सर्व कर्मो का आश्रय होने से कार्मण शरीर भी पुद्गलविपाकी ही है। अर्थात् वह सर्व कर्मो का आश्रय या आधार है।

पुन प्रश्न होता है कि कार्मण शरीर का उदय विनष्ट होने के समय मे योग का विनाश देखा जाता है। इसलिए योग कार्मणशरीरजनित है, ऐसा मानना चाहिए ? इसका उत्तर भी नहीं मे है, क्योकि, यदि ऐसा माना जाये तो अघाति-कर्मोदय के विनाश होने के अनन्तर ही विनष्ट होने वाले पारिणामिक भव्यत्व भाव के भी औदयिकपन का प्रसग प्राप्त होगा। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचम से योग का पारिणामिकत्व सिद्ध हुआ।[५३]

राग-द्वेष, वैर-विरोध, सघर्ष-क्लेश आदि की धाराएँ, मन मे गहरे सस्कार जमाती हैं फलस्वरूप वही सस्कार ग्रथियो का रूप धारण करती है। अमोनिया पर जल का प्रवाह बर्फ बन जाता है वैसे ही वृत्तियो का आवेग और सवेग ग्रन्थि के रूप में जम जाता है और अवचेतन मन मे अवस्थित रहता है।

कोष्ठक नं. 3

	मन	चेतना	शरीर
१	अचेतन मन [Unconscious mind]	गुप्त चेतना	स्थूल-औदारिक शरीर [Physical body]
२	अवचेतन मन [Sub-conscious mind]	अप्रकट चेतना	सूक्ष्म-तैजस शरीर [Etheric body]
३	चेतन मन [Conscious mind]	प्रकट चेतना	सूक्ष्मतम-कार्मण-शरीर [Astrol body]

५३. धवला–५/१, ७, ४८/३२५/१०

कार्मण शरीर से तैजस शरीर उत्तेजित होता है और तैजस शरीर से औदारिक और औदारिक शरीर से ग्रन्थियो का निर्माण होता है।

जैसे आपका एक्सीडेन्ट हो गया, आप भयभीत हो गये। चोट औदारिक शरीर को हुई जो स्थूल है अब भय चेतन मन से अवचेतन मन मे चला गया वह ग्रन्थि बन गया। चेतन मन आपको कार्य मे व्यस्त रखता है लेकिन जब भयावनी बाते सुन लेते हो तो मनोग्रन्थि उभर कर चेतन मन मे जाग्रत हो जाती है और आप भयभीत हो जाते हो या चीखने लगते हो।

इन्ही ग्रन्थियो को भेदने का उपाय है योग साहित्यो मे जिसे हम कर्म की भाषा मे यथा प्रवृत्ति करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण[५४] से जान सकते हैं। इस प्रकार क्षितिजा योग, लब्धि योग, समिति योग, गुप्ति योग, श्रमण योग, गृहस्थ योग, मन्त्र योग, जप योग आदि योग विशद् रूप से साहित्य मे प्राप्त होता है।

१ औद्यिक भाव

औदयिक भाव यह है जो कर्म के उदय से पैदा हो। उदय एक प्रकार का आत्मिक कालुष्य मालिन्य है, जो कर्म के विपाकानुभव से वैसे ही होता है जैसे मल के मिल जाने पर जल मे मालिन्य।

"योग" औदयिक भाव है, क्योकि शरीर नामकर्म का उदय न होने के पश्चात् ही योग का विनाश पाया जाता है और ऐसा मानकर भव्यत्व भाव के साथ व्यभिचार भी नही आता है, क्योकि कर्म सम्बन्ध है विरोधी भव्यत्व भाव की कर्म से उत्पत्ति मानने मै विरोध आता है।

यहॉ प्रश्न उपस्थित होता है कि योग वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, तो सयोगिकेवली मे योग के अभाव का प्रसग आता है, क्योकि सयोगिकेवली मे वीर्यान्तराय का क्षयोपशम नही होता, बल्कि क्षय होता है। इसके उत्तर मे यह कहा जाता है कि ऐसा नही, योग मे क्षायोपशमिक भाव तो उपचार से है। असल मे तो योग औदयिक भाव ही है और औदयिक योग का सयोगिकेवली मे अभाव मानने में विरोध होता है।

शरीर नामकर्मोदय के उदय से उत्पन्न योग भी तो लेश्या माना गया क्योकि वह भी कर्मबन्ध मे निमित्त होता है। इस कारण कषाय नष्ट हो जाने पर भी योग रहता है।

---

५४. देखिये आकृति न ५

२. क्षायोपशमिक भाव

क्षायोपशमिक भाव वह है जो क्षायोपशम से पैदा हो। क्षायोपशम एक प्रकार की आत्मिक शुद्धि है, जो कर्म के एक अश का उदय सर्वथा रुक जाने पर और दूसरे अश का प्रदेशोदय[५५] द्वारा क्षय होते रहने पर प्रकट होती है। यह विशुद्धि वैसी ही मिश्रित है जैसे धोने से मादक शक्ति के कुछ क्षीण हो जाने और कुछ रह जाने पर कोदो की शुद्धि होती है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि जीव प्रदेशो के सकोच और विकोच रूप परिस्पन्द को योग कहते हैं। यह परिस्पन्द कर्मो के उदय से उत्पन्न होता है, क्योकि कर्मोदय से रहित सिद्धो मे वह नही पाया जाता। अयोगिकेवली मे योग के अभाव से यह कहना उचित नही है कि योग औद्‌यिक नही होता है, क्योकि अयोगिकेवली के यदि योग नही होता तो शरीर नामकर्म का उदय भी तो नही होता। शरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला योग उस कर्मोदय के बिना नही हो सकता, क्योकि ऐसा मानने से अतिप्रसग दोष उत्पन्न होगा। इस प्रकार जब योग औदयिक होता है तो उसे क्षायोपशमिक क्यो कहते है ?

इसके उत्तर मैं यही कहा जाता है कि ऐसा नही, क्योकि जब शरीर-नामकर्म के उदय से शरीर बनने के योग्य बहुत से पुद्‌गलो का सचय होता है और वीर्यान्तरायकर्म के सर्वघाती स्पर्धको के उद्‌याभाव से और उन्ही स्पर्धको के सत्वापशम से तथा देश घाती स्पर्धयो के उदय से उत्पन्न होने के कारण क्षायोपशमिक कहलाने वाला वीर्य (बल) बढता है, तब उस वीर्य को पाकर चूँकि जीव प्रदेशो का सकोच-विकोच बढता है, इसलिये योग क्षायोपशमिक कहा गया है।

यदि वीर्यान्तराय के क्षयोपशम स उत्पन्न हुए बल की वृद्धि और हानि से जीवप्रदेशो के परिस्पन्द की वृद्धि और हानि होती है, तब तो जिंसके अन्तरायकर्म क्षीण हो गया है ऐसे सिद्ध जीवो मे योग की बहुलता का प्रसग आता है। ऐसा भी नही होता, क्योकि क्षायोपशमिक बल से क्षायिक बल भिन्न देखा जाता है। क्षायोपशमिक बल की वृद्धिहानि से वृद्धि-हानि को प्राप्त होने वाला जीव प्रदेशो का परिस्पन्द क्षायिक बल से वृद्धिहानि को प्राप्त नही होता, क्योकि ऐसा मानने से तो अति प्रसग दोष आता है।

---

५५ धवला- ७/२ १. ३३/७५/३

३ पारिणामिक भाव

पारिणामिक भाव द्रव्य का वह परिणाम है, जो सिर्फ द्रव्य के अस्तित्व से आप ही आप हुआ करता है अर्थात् किसी भी द्रव्य का स्वाभाविक स्वरूप परिणमन ही पारिणामिक भाव कहलाता है।

"योग" यह अनादि पारिणामिक भाव है। इसका कारण यह है, कि योग न तो औपशमिक भाव है, क्योकि मोहनीयकर्म का उपशम नही होने पर भी योग पाया जाता है। न वह क्षायिक भाव है, क्योकि आत्मस्वरूप से रहित योग की कर्मो के क्षय से उत्पत्ति मानने मे विरोध आता है। योग घातिकर्मोदयजनित भी नही है क्योकि घातिकर्मोदय के नष्ट होने पर भी सयोगी केवली मे योग का सद्भाव पाया जाता है। न योग अघातिकर्मोदयजनित भाव है, क्योकि, अघातिकर्मोदय के रहने पर भी अयोगकेवली मे योग का सद्भाव पाया जाता है। न योग अघातिकर्मोदयजनित भाव है, क्योकि, अघातिकर्मोदय के रहने पर भी अयोग केवली मे योग नही पाया जाता। योग शरीर नामकर्मोदयजनित भी नही है। क्योकि पुद्गलविपाकी प्रकृतियो के जीव-परिस्पन्दन का कारण होने मे विरोध है।

४

साहित्य के मुख्य दो पहलू – व्याकरण और इतिहास, योग संयोग में

४. साहित्य के मुख्य दो पहलू व्याकरण और इतिहास योग संयोग में

१ सहज निवृत्ति भोग को शुभयोग मे और शुभयोग को अयोग मे प्रयोगात्मक रूप से परिवर्तित करती है। योग अर्थात् जुडना-राग जब अनुराग मे परिवर्तित होता है, तब साधक अनासक्ति योग मे जुडता है। अत आसक्ति से अनासक्त होने की जो प्रवृत्ति है वह प्रयोग है। जैसे ही योग दृढ होता जायेगा अनासक्ति की वृद्धि मे सामर्थ्य स्वत सिद्ध होता जायेगा। क्योकि अनासक्ति मे आसक्ति से असग होने की शक्ति है। आसक्ति अर्थात् भोगेच्छा। साधक के लिए भोगेच्छा से असग होना ही स्व स्वरूप दर्शन है। अयोग की साधना है।

१. व्याकरण की दृष्टि से योग समाधि और संयोग

सस्कृत व्याकरण के अनुसार योग शब्द युज् धातु और धञ प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है। युज् धातु १ समाधि[1] और २ सयोग[2] दो अर्थ मे घटित होती है। **"योजन योगः सम्बन्ध इति यावत्"** तथा **"युज्यते इति योग"** निर्युक्ति और वृत्तिकार के अनुसार भी समाधि और सयोग दोनो अर्थ फलित होते हैं।

साध्य साधन में अर्थ घटन

१. योगः समाधिः सोऽस्यास्ति इति योगवान्।[3]

२. युज्यते वाऽनेन केवल ज्ञानादिना आत्मेति योगः [4]

यहॉ समाधि अर्थ मे योग साध्यरूप से निर्दिष्ट है और सयोग अर्थ मे साधन रूप से परिलक्षित होता है। क्योकि मानव मात्र साधक है और प्रत्येक परिस्थिति मे किसी न किसी का सयोग अनिवार्य है। अत परिस्थिति जैसी होगी उसी रूप मे घटना का सयोग होगा, वही सयोग साधन रूप माना जायेगा। 'योग', सयोग और साधन दोनो मे निहित है, सयोग स्वाभाविक रूप से प्रत्येक मानव मे विद्यमान होने पर भी भोग रूप परिस्थिति की दासता जन्म-जन्म से स्वीकार करता आया है। इस दासता के कारण योग सयोग और साधन मे विद्यमान होने पर भी जागृत नही हो पाता। भोग युक्त मानव प्रत्येक परिस्थिति को जीवन बना लेता है उसे यह भी बोध आवश्यक है कि

---

१ युजिच समाधीगण-४
२ युजृपीयोगे गण-७
३ उत्तराध्ययन सूत्र बहद्वृत्ति११/१४
४ आवश्यक हरिभद्रीया निर्युक्ति अवचूर्णि पृ ५८२

परिस्थिति सदा परिवर्तनशील है अत कोई भी परिस्थिति जीवन कैसे बन सकती है। वही व्यक्ति परिस्थितियो का दास है जो अपने को साधक स्वीकार नही करता। जब व्यक्ति साधक बनता है, परिस्थितियो का सदुपयोग करने मे समर्थ होता है तब परिस्थिति मे जैसे ही परिवर्तन आता है रागात्मक और द्वेषात्मक भाव मे प्रियता और अप्रियता के सवेदन मे परिवर्तन हो जाता है। क्योकि प्रत्येक मानव साधक है और साधक की प्रत्येक प्रवृत्ति साधन रूप सामग्री है। अत समस्त साधन दो विभागो मे विभाजित होते हैं– १ निषेधात्मक, २ विधेयात्सक।

१ **निषेधात्मक**–पदार्थो के प्रति ममत्व का त्याग निषेधात्मक साधन है।

२. **विधेयात्मक**–अनासक्त होकर पदार्थो का उपयोग विधेयात्मक साधन है।

साधको की योग्यता, रुचि तथा परिस्थिति के अनुरूप ही 'साधन' फलित होता है। जो साधन साधक को साध्य बनने मे सहायक नही होता वह साधन उपयुक्त साधन नहीं, भोग साधन हैं। जिससे सिद्धि नही हो सकती है। अत विधेयात्मक साधन को सजीव बनाने के लिए निषेधात्मक साधन को अपनाना अनिवार्य है। ममत्व का त्याग यह अपने आप मे एक बहुत बडी उपलब्धि है। पदार्थो का न मिलना त्याग नही है, पदार्थो का अभाव इतना महत्त्व नही रखता है, किन्तु पदार्थ है और उसका त्याग महत्व रखता है, ऐसा त्याग साधना के बिना असभव है।

व्यक्ति एक को प्रिय मानता है और दूसरे को अप्रिय इसलिए राग द्वेष होता है। जब तक मन मे प्रिय और अप्रिय का भाव बना रहेगा तब तक कषाय समाप्त नही होगा। राग द्वेष को समाप्त करने के लिए यहाँ जो योग के अर्थ मे सयोग शब्द का प्रयोग किया है वह उचित है। सयोग पदार्थ के प्रति राग का भाव नही लाता किन्तु पदार्थ के प्रति पदार्थ का भाव लाता है, पदार्थ के प्रति यथार्थता का अनुभव कराता है, पदार्थ मे सत्य के दर्शन कराता है। पदार्थ अपने आप मे न तो प्रिय है और न अप्रिय, 'जो भी है वह सयोग है।

हम जानते हैं कि भोग प्रवृत्ति मे सुख और परिणाम मे दुख है। यह जाने हुए का प्रभाव जीवन पर क्यो नही होता ? सुख का अनुभव करने पर दुखद परिणाम अनुभूति का ध्यान क्यो नही होता ? अगर इसका जवाब चाहिए तो मिलेगा संयोग, सयोग को हमने जाना नही, माना है। जानना अलग है और मानना अलग है। जो सयोग को जानता है वह योग के द्वितीय अर्थ समाधि को सहज रूप से छू लेता है जो मानता है वह सयोग से हाथ धो बैठता है।

इस प्रकार दो अर्थो मे प्रयुक्त इस योग शब्द के मतव्य एव विधान मे एक ही होने पर भी विभिन्न दो स्वरूप हो जाते हैं। साधक का अतिम लक्ष्य समाधि है और समाधि का प्रारम्भिक प्रयास सयोग है। अत योग सयोग अर्थ मे साधन रूप सिद्ध होकर

समाधि अर्थ मे साध्य रूप से नियोजित हो जाता है। यद्यपि समाधि साध्य है तथापि परम साध्य मोक्ष की दृष्टि से वह भी मोक्ष का अतरग साधन है।

इस प्रकार योग शब्द की मौलिक व्याख्या मे समाधि और सयोग ये दोनो ही अर्थ सार्थक है।

प्रस्तुत धात्वर्थ के अनुसार फलितार्थ समाधि और सयोग ये दोनो अर्थ आज के युग मे अत्यन्त महत्वपूर्ण और विचारणीय रहे है।

जब साधन रूप सयोग साध्य रूप से सयोजित है तब साधक मोक्ष के साथ जुडता है, और जब साधन रूप सयोग भोग के साथ जुडता है तब ससार से जुडता है।

ससार का सम्बन्ध सुख और दुख के सयोग से जुडा हुआ है। प्रत्येक प्रवृत्ति मन, वचन और काया से ही प्रवृत्तमान होती है। सभी जीव मन से दृश्यमान पदार्थो को चाहते है, दृश्यमान पदार्थो का विश्लेषण करते है, और दृश्यमान पदार्थो का अस्तित्व स्वीकारते है।

उसी प्रकार वचन द्वारा वर्णित पदार्थो का तथा काया के द्वारा उसका उपभोग करता है। मन-वचन और काया की इन तीनो प्रवृत्ति से आत्म-प्रदेशो मे परिस्पन्दन होता है। स्पदन के प्रभाव से भोगेच्छा से सम्बन्ध जुडता है। अत इस जुडने रूप योग को सयोग कहा जाता है। अर्थात् जीव प्रदेशो के सकोच और विकोच रूप परिस्पदन को सयोग कहते है। ऐसा परिस्पदन कर्मो के उदय से उत्पन्न होता है। क्योकि कर्मोदय रहित सिद्धो मे यह नही पाया जाता। सयोग का अर्थ है—जिस प्रकार सशरीरी आत्मा, इस शब्द से आत्मा और शरीर का सम्बन्ध स्थापित होता है उसी प्रकार सयोग शब्द से योग सहित आत्मा का सम्बन्ध स्थापित होता है। अत सयोग भोग का परिणाम होता है। क्योकि किसी भी योग के लिए उससे सम्बन्धित वस्तु का योग आवश्यक है। अत जैन दर्शन के अनुसार जहॉ भोग है—वहॉ सयोग है। और उस भोग का साधन मन-वचन और काया रूप योग है। ऐसे सयोगी आत्मा को ससारी आत्मा कहते है।

भोग रूप कार्य का मन, वचन, काया रूप करण और कारण मे आरोप कर उपचार से मन, वचन, काया को जैन दर्शन मे योग (सयोग) कहा है तथा कर्ता आत्मा मे मन, वचन, काया के योग रूप करण का आरोप कर उपचार से कर्त्ता को भी योगी (सयोगी) कहा गया है, जब तक कोई भी आत्मा मन, वचन और काया इन तीनो योगो मे से किसी भी योग का प्रयोग या उपयोग करता है, तब तक वह आत्मा योग सहित आत्मा है। योग सहित आत्मा को सयोगी आत्मा कहा जाता है। जब योग के प्रयोग का पूर्णत निरोध कर दिया जाता है तब वह अयोगी आत्मा कहा जाता है। अयोगी आत्मा शरीर और ससार रूप विनाशी के बधन से सर्वथा मुक्त "सिद्ध" हो जाता है। अत

जैन दर्शन मे महत्व 'सयोगी का नही' "अयोगी" का है। जैन दर्शन मे योग विषयक उपर्युक्त समस्त कथन समाधि और सयोग रूप योग को लेकर किया गया है। सयोग अर्थ मे साधक जिससे जुडता है उससे बधता है यह बन्धन ही योग है। समाधि अर्थ मे साधक बधन से मुक्त होता जाता है और क्रमश सयोगी से अयोगी अवस्था पाता है, अत जैन दर्शन मे अयोगी का स्थान समाधि का अतिम चरण है।

शाब्दिक दृष्टि से योग और अयोग परस्पर विरोधाभास लगते हैं। पर "पातञ्जल योग" मे जो स्थान योगी का है वही स्थान जैन दर्शन मे सयोगी का है। जो साधक मन, वचन, काय रूप योग से पर होकर अयोगी होता है वही सिद्ध परमात्मा है ऐसी जैन दर्शन की मान्यता है।

पर्याय की दृष्टि से योग

पर्याय की दृष्टि से योग विभिन्न स्वरूपो मे परिलक्षित होता है जैसे–

जोगो विरियं थामो, उच्छाई परिक्कमो तहा चिट्ठा
सत्ती सामत्थं चिय, जोगस्स हवंति पज्जाया।

अर्थात् योग, वीर्य, स्थाम (बल), उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति तथा सामर्थ्य ये सात योग के पर्याय शब्द हैं।[५]

योगी वीर्य को ऊर्ध्वगामी बनाने मे समर्थ होता है। भोगी का वीर्य अधोगामी होता है इसलिए वीर्य को ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए "बलयोग" का प्रयोग उपयुक्त होता है। यदि साधक मे तीव्रता का "उत्साह" है तब तो यह कार्य शीघ्र पार कर सकता है अन्यथा अनेक भव आराधना चलती रहती है। यहाँ "पराक्रम" को भी योग कहा है पराक्रम अर्थात् पुरुषार्थ। पुरुषार्थ के बिना तो कार्य सिद्ध हो ही नही सकता। पुरुषार्थ से ही चेतना को जागृत करने की "चेष्टा" प्रदान होती है। ऐसी चेष्टा हमारी ऊर्जा 'शक्ति' को तरंगित करती है। इन तरगो के द्वारा ही 'सामर्थ्य' योग सफल होता है अत पर्याय अर्थ मे ये सभी योग सार्थक हैं।

सर्वार्थ सिद्धि[६] ग्रन्थ मे 'योग' समाधि और सम्यक प्रणिधान अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। समाधि यह तो योग का अतिम चरण है। सम्यक् प्रणिधान से ही समाधि को क्रमश बल मिला है। सम्यक् प्रणिधान से अज्ञानता तुटती हैं और सन्मार्ग का द्वार खुला होता है। अत द्वार प्राप्त होने से साधक प्रणिधान रूप शुभभाव और समाधि रूप स्थिर भाव को प्राप्त कर सकता है अत दोनो को पर्याय रूप मे "योग" कहा है। तत्त्वार्थ राजवार्तिक[७] मे योग का अर्थ समाधि और ध्यान ऐसा भी मिलता है। समाधि को प्राप्त

---

५. कर्मप्रकृति-प्र ११
६. "योग समाधि सम्यक प्रणिधान मित्यर्थ।" -सर्वार्थसिद्धि ६/१२/३३१/३
७ "युजे समाधिवचनस्य योग समाधि ध्यानमित्यनर्थान्तरम्। -राजवार्तिक ६/१/१२ ५०५/२७

करने के लिए ध्यान की नितान्त आवश्यकता है। ध्यान समाधि की पूर्व अवस्था है, और समाधि ध्यान का अतिम चरण है। अत समाधि और ध्यान दोनो ही अर्थ योग रूप मे सार्थक ही है।

परमानन्दी[८] पचविशतिका ग्रन्थ मे योग, साम्य, स्वास्थ्य, समाधि चित्तनिरोध और शुद्धोपयोग इत्यादि अर्थ मे पर्याय के रूप मे मिलता है।

यहाँ साम्य अर्थ समानता के रूप मे प्रयुक्त हुआ है। जैसे मेरे जैसा ही अन्य आत्मा है मैं सुखी और दु खी रहना चाहता हूँ वैसा ही दूसरा अनुभव करना चाहता है। चित्त निरोध यह शब्द का प्रयोग क्षिप्त और विक्षिप्त मन को स्थिर करना है।

द्वात्रिशद्वात्रिशिका ग्रन्थ मे **"योगस्थ संभव."** योग का अर्थ सभव किया है।[९]

बृहत्कल्प आतुरप्रत्याख्यानपयन्त्रा-टोका,[१०]स्थानागसूत्र सटीक, प्रश्न व्याकरण सूत्र, विशेष आवश्यक भाष्य इत्यादि ग्रथो मे "योग" शब्द सम्बन्ध अर्थ मे प्राप्त होता है।

जिस प्रवृत्ति का सम्बन्ध क्रमश निवृत्तियो की ओर साधक को बढाता है वही प्रवृत्ति साधक के लिए "योग" अर्थ मे प्रयुक्त हुई है।

भगवती आराधना[११]मे योग को वीर्य गुण का पर्याय माना गया है, उसका आशय यह है कि वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होने वाला आत्म परिणामविशेष योग है। इस प्रकार "योग" शब्द विभिन्न ग्रन्थो मे विभिन्न पर्यायो मे परिलक्षित होता है।

विकास और आविर्भाव की दृष्टि से योग

साधक का जिज्ञासु मन आत्मानुभूति को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। वह आदिकाल से चरमसत्य को पाने का अभिलाषी है। वह चाहता है स्वानुभूति की सिद्धि, वह चाहता है परमानन्द की प्राप्ति, वह चाहता है आत्मशक्ति की उपलब्धि पर वह खोज नही करता कि इस योग का आविर्भाव हुआ कहाँ से।

सर्व सामान्य ऐसा नियम है कि जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका नाश अवश्य होता है, जिसका नाश होता है, उसका उस रूप मे अस्तित्त्व या सत्ता विद्यमान नहीं रहती, जिसका अस्तित्व या सत्ता नही रहती वह असत् माना जाता है। जैसे जन्म,

---

८ "साम्य स्वास्थ्य समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम् शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचका ।
—पद्मनन्दिपचविशतिका ४ ६४

९. गोगलक्षण द्वात्रिशिका पृ ५९

१०. अभिधान राजेन्द्र कोश भा ४ पृ १६१३।

११. भगवती आराधना ११७८/११८७, ४

जरा, मृत्यु के चक्रव्यूह मे साधक यत्रवत् घूम रहा है। इस जीवन काल मे सांधक हजारो परिस्थितियो मे टकराता है और अवस्थाओ को बदलता है। जो बदला जाता है, वह अनित्य है। अत जगत की समस्त परिस्थिति अनित्य है, असत् है। जो असत् है वह असत्य है, जो असत्य है वह मिथ्या है, इन अनित्य मे ही नित्य की खोज, असत् मे सत् की खोज और असत्य मे ही सत्य की खोज यह योग का आविर्भाव है।

सत्य-असत्य का विवेक, ज्ञान या जड और चैतन्य का भेद ज्ञान उत्पाद-व्यय और ध्रुव इन त्रिपदि से होता है। यही साधना का मूल मन्त्र है। जो असत्य का त्याग करता है वह असत्य से पर होता है फलत सत्य को स्वत प्राप्त करता है, जिस प्रकार सूर्य का उदय और अन्धकार का नाश युगपत् होता है, उसी प्रकार असत्य का त्याग और सत्य की प्राप्ति युगपत् होती है। सत्य की प्राप्ति अर्थात् ध्रुवत्व की प्राप्ति, जो ध्रुव होता है, वह नित्य होता है। त्याग अनित्य का होता है, नित्य का नही। असत्य अनित्य है, सत्य नित्य है, अत असत्य का त्याग ही योग प्राप्ति का विकास क्रम है।

आज के युग मे लोग समझते है कि योग कोई एक नया विधान है और ध्यान रूप मे शिबीरो द्वारा उसे अपनाया जाता है। वह भूल गया अपना चिर पुरातन काल, वह भूल गया व्रत, तप नियम भारतीय साधना मे इन व्रत, नियम, तप, स्वाध्याय मे योग सहयोगी रहा था। हर साधना विकल्प मुक्त और अन्तर्मुखी रहने की ही होती थी। एकाग्रता ही साधना का मुख्य लक्ष्य था किन्तु मध्ययुग मे इस साधना ने अन्तर्मुखी का स्थान बहिर्मुखी के रूप मे और एकाग्रता का स्थान बाहरी प्रदर्शन के रूप मे स्थूल क्रियाकाडो मे बदल दिया। चिन्तन की सूक्ष्मता का तीव्र गति से ह्रास होने लगा। विशुद्धि के अभाव मे योग सम्बन्धी साधना की सूक्ष्मता तिरोहित होती गई।

आज के युग मे योग का कोई नया प्रयोग नही किन्तु हमे ही खोये हुए योग की खोज करनी है। हमारे बीच मे से विस्मृत हुए योग का पुनर्जागरण करना है। दुर्व्यसन और दुराचार के इस भयकर दौर मे सदाचार की पुन प्रतिष्ठा स्थापित करनी है, हमारी भौतिक वासनाएँ और आकाक्षाओ मे शाति का स्वरूप पाने के लिए योग सर्वात्मना द्वन्दमुक्त एक सात्विक साधन है। इस साधन से सोयी हुई वृत्तियाँ जागृत होगी, बाहर भटकता हुआ मन अतर्मुखी होगा और राग-द्वेषादि विकल्पो के कुहरो से आवृत चेतना निरावरण होगी।

"जे ममाइय मति जहाति से जहाति ममाइय"[१२]

— ममत्त्व बुद्धि का त्याग पदार्थो के ममत्व का त्याग है। ममत्व का त्याग और समत्व की साधना ही योग का विकास है।

---

१२. आचाराग सूत्र अ २, उ ६ सु. ९७

२. ऐतिहासिक दृष्टि से योग का विश्लेषण

भारतीय आध्यात्मिक विचारो की आदर्श पृष्ठभूमि पर दो सस्कृतियाँ बहुत ही प्राचीन काल से अक्षुण्ण रूप मे चली आ रही है—जैन-सस्कृति और वैदिक-सस्कृति। भाषा की दृष्टि से सबसे प्राचीन तथा अपने विकास और विस्तार तथा श्रमण-श्रमणियो की आचार प्रणालिका की दृष्टि से यह वह धारा है जिसको शास्त्र अर्थात् जैनागम कहना चाहिए। जिन लोगो का इस विचारधारा के साथ सम्बन्ध है उनके लिए आगम अन्तिम प्रमाण है। यद्यपि वैदिक सस्कृति के मूल ग्रथ "वेद" लेखन कला की दृष्टि से प्राचीन माने जाते है, परन्तु उनकी भाषा को "सस्कृत" कहा जाता है। "सस्कृत" किसी का परिमार्जित रूप ही होता है। अत वैदिक सस्कृत से प्राकृत की प्राचीनता भाषा शास्त्रसम्मत एक महान् तथ्य है। उपलब्ध जैन-साहित्य का प्राकृत (अर्द्धमागधी) मे होना जैन-साहित्य की प्राकृत परम्परा की ओर सबल सकेत करता है।

जैन तीर्थकरो मे प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का काल जैनकालगणना के अनुसार असख्य वर्ष पूर्व का माना जाता है।[१३] भगवान् ऋषभदेव के प्रवचन ही पहली बार जैन-आगमो के रूप मे उदित हुए थे। वे प्राकृत मे थे, अत जैन साहित्य की प्राचीनता वेदो से भी पूर्व मानने मे आपत्ति नही हो सकती।

वेद-साहित्य प्राचीन है, इसमे सदेह नही परन्तु डॉ राधाकृष्णन ने "हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र [History of Dharmashastra Vol V Part II P 995] मे यह सिद्ध किया है कि यजुर्वेद मे ऋषभ[१४] अजितनाथ और अरिष्टनेमि का उल्लेख प्राप्त होता है।

पडित कैलाशचन्द्र जी ने भी अपने "जैन-साहित्य का इतिहास" की पूर्व पीठिका पृष्ठ १०७ पर डॉ .राधाकुमुद मुकर्जी का समर्थन करते हुए ऋषभदेव का वेदो मे उल्लेख स्वीकार किया है। यह उल्लेख प्रमाणित करता है कि वेद ने अपने से पूर्व की जैन परम्परा के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का उल्लेख करके जैन सस्कृति की सत्ता का वैदिक-साहित्य से पूर्व होना सिद्ध किया है।[१५]

---

१३ उसभ सिरिस्स भगवओ चरिमस्स य महावीर वद्धमाणस्स एगा सागरोवमकोडाकोडी आबहाए अन्तरे पण्णत्ते। समवायाग १७३, "कोडाकोडी" ' सागरोपम" यह जैन पारिभाषिक शब्द हैं। उक्त पाठ एक कोडाकोडी (करोड ×करोड) सागरोपम काल का अन्तर बतलाता है जो औपमिक काल गणना से ही समझा जा सकता है।

१४ (उन्नत ऋषभो वाहन २४/७) तत्राह उब्बटो भाष्यकार उन्नत उच्च ऋषभ पुष्ट वामन बहून्यपि वयसिगते वृद्धि रहित.। इसी प्रकार—(रोहिदृषभाय गवयी-२४/३०) की व्याख्या मे उब्बट कहते हैं-ऋषभाय तदाख्य देवाय।

१५ स्थानागसूत्र—आचार्य आत्मारामजी महाराज कृत हिन्दी अनुवाद पृ ५ भा १

मोहनजोदडो की खुदाई से प्राप्त अनेक मूर्तियो और अवशेषो को पुरातत्त्ववेत्ता जैन सस्कृति के अवशेष मानते हैं, क्योकि वहॉ यज्ञ-प्रधान ब्राह्मण-सस्कृति का कोई अवशेष प्राप्त नहीं हुआ । योगप्रधान सस्कृति के जो अवशैष प्राप्त हुए हैं वे जैन सस्कृति के ही हो सकते हैं, अत जैन सस्कृति की प्राचीनता इतिहाससिद्ध है ।

जेनागमो मे जो चौदह पूर्वों का ज्ञान था, उन चौदह पूर्वों मे बारहवॉ पूर्व "प्राणायु" नाम का था । उसके एक करोड छप्पन लाख पद थे[१६]उसमे प्राणायाम आदि योग का स्वरूप बताया गया था । चौदह पूर्वों का विच्छेद होने से जैनो का यह योगज्ञान विच्छेद हुआ प्रमाणित होता है । जैनाचार्यों मे पूर्वाचार्य श्री भद्रबाहुस्वामी ने भी भाव प्राणायाम और महाप्राण ध्यान की प्रक्रिया सिद्ध की थी ऐसा इतिहासप्रसिद्ध है ।[१७]

"जैन-साहित्य का बृहद् इतिहास" मे भी उक्त कथन को सिद्ध किया गया है, जैसे-इस अवसर्पिणी काल मे जैनो के प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव हुए हैं । उन्हे वैष्णव एव शैव मार्गी अपने-अपने ढग से महापुरुष या अवतारी पुरुष मानते हैं । कोई उन्हे "अवधूत"[१८]कहते हैं । वे एक दृष्टि से देखे तो आद्ययोगी ही नही, योगीराज हैं । ऐसा माना जाता है कि उन्ही से योग-मार्ग का प्रवर्तन हुआ है ।

श्रीमद्भागवत् के अनुसार ऋषभदेव बडे भारी योगी थे । जैन पुराण तो उन्हे ही योग-मार्ग का आद्य प्रवर्तक बतलाते हैं । उन्होने ही सर्वप्रथम राज्य का परित्याग कर वन का मार्ग अपनाया था । मोहनजोदडो से प्राप्त मूर्ति योग मुद्रा से ऋषभदेव की है ऐसा प्रमाणित किया गया हैं ।

नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभपुत्र भरत की चर्चा प्राय सभी हिन्दू-पुराणो मे आती है । मार्कण्डेय पु अ ५०, कूर्म पु अ ४१, अग्नि पु. अ १०, वायुपुराण अ ३३, गरुण पु अ १, ब्रह्माण्ड पु अ १४, वाराह पु अ, ७४, लिगपुराण अ ४७, विष्णुपुराण २, अ-१, और स्कन्दपुराण कुमारखण्ड अ ३७, मे ऋषभदेव का वर्णन आया है । इन सभी मे ऋषभ को नाभि और मरुदेवी का पुत्र बतलाया है । ऋषभ से सौ पुत्र उत्पन्न हुए । उनमे से बडे पुत्र भरत को राज्य देकर ऋषभ ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली । इस भरत से ही इस देश का नाम भारतवर्ष पडा ।

---

१६ जैन आगम साहित्य मनन और मीमासा पृ १९५

१७ तप अने योग-पृ ३४१

१८ इसका धूतरूप आचाराग (श्रुत-१) के छठे अध्ययन के नाम ' धुय (स धूत) का स्मरण कराता है।

यथा–

> **नाभिस्त्वजनयत पुत्रं मरूदेव्यां महाद्युतिः ।**
> **ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥**
> **ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।**
> **सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राँज्यमास्थितः ॥**
> **हिमांग दक्षिणं वर्ष तस्य नाम्ना विदुर्बुधा ।**[१९]

उक्त श्लोक थोडे से शब्दभेद के साथ प्राय उल्लेखित सभी पुराणो मे पाए जाते हैं। प्राय सभी वैदिक पुराण इस विषय मे एकमत हैं कि ऋषभ-पुत्र भरत के नाम से यह देश 'भारतवर्ष' कहलाया। वैदिक पुराणो का यह एकमत निस्सन्देह उल्लेखनीय है।

श्रीमद्भागवत मे तो ऋषभावतार का विस्तृत वर्णन है और उन्हीं के उपदेश से जैनधर्म की उत्पत्ति भी बतलाई है। डॉ आर जी भण्डारकर[२०]के मतानुसार "२५० ई के लगभग पुराणो का पुनर्निर्माण होना आरम्भ हुआ और गुप्तकाल तक यह क्रम जारी रहा। इस काल मे समय-समय पर नए पुराण भी रचे गये।" ऋषभदेव को प्रथम जैन तीर्थकर होने की मान्यता ईस्वी सन् से भी पूर्व मे प्रवर्तित थी। इतना ही नहीं, ऋषभदेव की मूर्ति की पूजा जैन लोग करते थे, यह बात खारवेल के शिलालेख तथा मथुरा से प्राप्त पुरालत्व से प्रमाणित हो चुकी है तथा हिन्दू-पुराणो से भी पूर्व के जैन ग्रन्थो मे ऋषभदेव का चरित वर्णित है।

इसके सिवाय श्रीभागवत मे ऋषभदेव का वर्णन करते हुए स्पष्ट लिखा है कि वातरशन (नग्न) श्रमणो के धर्म का उपदेश करने के लिए उनका जन्म हुआ। यथा–

"वर्हिषि तस्मिन्नेव व विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्व-मन्थिणां शुक्लया तनुवावततार" ॥२०॥ स्क. ५, अ. ३ ।

उक्त नग्न श्रमणो के धर्म से स्पष्ट ही जैन धर्म का अभिप्राय है क्योकि आगे भागवतकार ने ऋषभदेव के उपदेश से ही आर्हत धर्म (जैन धर्म का पुराना नाम) की उत्पत्ति बतलाई है। भागवतकार का अभिप्राय भगवान् के लिए ऐसा भी है कि "जन्महीन ऋषभदेवजी का अनुकरण करना तो दूर रहा, अनुकरण करने का मनोरथ भी कोई अन्य योगीं नही कर सकता, क्योकि जिस योगबल (सिद्धियो) को ऋषभजी

---

१९. जैन-साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका पृ १२०
२०. भण्डार लेख सग्रह जिल्द १, पृ ५६

ने असार समझकर नही ग्रहण किया, अन्य योगी लोग उसी को पाने की अनेक चेष्टाएँ करते हैं। हे राजन् ! ऋषभदेव जी लोक, देव, देवता, ब्राह्मण, गौ आदि सब पूजनीयों के परम् गुरु हैं। (स्क ५, अ ६)

इस तरह भागवतकार ने भी भगवान् ऋषभदेव को श्रेष्ठ योगी बतलाया है। यो तो कृष्ण को भी योगी माना जाता है। किन्तु कृष्ण का योग **"योगः कर्मसु कौशलम्"** के अनुसार कर्मयोग था और भगवान् ऋषभदेव का योग कर्मसन्यास रूप था। जैन धर्म मे कर्म सन्यास रूप योग की ही साधना की जाती है। ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त सभी तीर्थकर योगी थे। मौर्यकाल से लेकर आज तक की सभी जैन मूर्तियाँ योगी के रूप मे ही प्राप्त हुई है।

योग की परम्परा अत्यन्त प्राचीन परम्परा है। वैदिक आर्य उससे अपरिचित थे। किन्तु सिन्धु घाटी सभ्यता योग से अछूती नहीं थी, वहाँ योगासन-योग मुद्राएँ योगी की मूर्ति से ही प्राप्त हुए हैं। और ये मूर्तियाँ-रामप्रसाद चन्दा ने ऋषभदेव की मूर्ति होने की सभावना व्यक्त की थी।

अत श्रीमद्‌भागवत आदि हिन्दू-पुराणो से भी ऋषभदेव का पूर्व पुरुष होना तथा योगी होना प्रमाणित होता है और उन्हे ही जैन-धर्म का प्रस्थापक भी बतलाया गया है। एक बात और भी उल्लेखनीय है।

श्रीमद्‌भागवत् (स्क ५, अ ४) मे ऋषभदेव जी के सौ पुत्र बतलाये हैं। उनमे भरत सबसे बडे थे। उन्ही के नाम से इस खण्ड का नाम "भारतवर्ष" पडा। भारत के सिवा कुशवर्त, इलावर्त, विदर्भ, कौकर, द्रविड आदि नामक पुत्र भी ऋषभदेव के थे। ये सब भारतवर्ष के विविध प्रदेशो के भी नाम रहे है। इनमे द्रविड नाम उल्लेखनीय है। जो बतलाता है कि ऋषभदेव जी द्रविडो के भी पूर्वज थे। सिन्धु सभ्यता द्रविड सभ्यता थी और वह योग की प्रक्रिया से परिचित थी जिसकी साधना ऋषभदेव ने की थी।

श्री चि वि वैद्य ने भागवत के रचयिता को द्रविड देश का अधिवासी बतलाया है। [हि ई लि (विन्टर) भा १ पृ ५५६ का टिप्पण न ३] और द्रविड देश मे रामानुजाचार्य के समय तक जैन-धर्म का बडा प्राबल्य था। सभव है इसी से भागवतकार ने ऋषभदेव को द्रविड देश मे ले जाकर वही पर जैन धर्म की उत्पत्ति होने का निर्देश किया हो। किन्तु उनके उस निर्देश से भी इतना स्पष्ट है कि ऋषभदेव के जैन धर्म का आद्य प्रवर्तक होने की मान्यता मे सर्वत्र एकरूपता थी और ऋषभदेव एक योगी के रूप मे ही माने जाते थे तथा जनसाधारण की उनके प्रति गहरी आस्था थी। यदि ऐसा न होता तो ऋषभदेव को विष्णु अवतारो मे इतना आदरणीय स्थान प्राप्त न हुआ होता।

अयोध्या प्रदेश के नाभिसुत ऋषभदेव ने पाषाणकालीन प्रकृत्याश्रित असभ्य युग का अन्त करके ज्ञान-विज्ञान सयुक्त कर्मप्रधान मानव सभ्यता का भूतल पर सर्वप्रथम प्रारम्भ किया। अयोध्या से हस्तिनापुर पर्यन्त प्रदेश इस नवीन सभ्यता का प्रधान केन्द्र था। उन्होंने असि, मषि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्यारूप लौकिक षट्कर्मों का तथा देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, सयम, तप और दान रूप धार्मिक षट्कर्मों का मानवो को उपदेश दिया। साथ-साथ राज्यव्यवस्था, समाज सगठन और नागरिक सभ्यता के विकास के बीज वपन किये। कर्मक्षय से क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के रूप मे श्रमविभाजन का भी निर्देश किया। वे स्वय इक्ष्वाकु कहलाये इससे उन्ही से भारतीय क्षत्रियो के प्राचीनतम इक्ष्वाकुवश का प्रारम्भ हुआ। लोक को लौकिक एव पारलौकिक उपदेश देकर उन्होंने निस्पृह निरीह योग मार्ग अपनाया और कैलाश पर्वत से निर्वाण लाभ किया।

उनके पुत्र सम्राट भरत चक्रवर्ती ने सर्वप्रथम सम्पूर्ण भारत को राजनैतिक एकसूत्रता मे बॉधने का प्रयत्न किया। उन्हीं के नाम से यह देश भारतवर्ष कहलाया और प्राचीन आर्यो का भरतवश चला। ऋषभ के ही अन्य पुत्र का नाम द्रविड था उन्हे उत्तरकालीन द्रविडो का पूर्वज कहा जाता है। सम्भव है किसी विद्याधर कन्या से विवाह करके ये विद्याधरो मे ही जा बसे हो और उनके नेता बने हो, जिससे वे लोग कालान्तर मे द्राविड कहलाये। भरत के पुत्र अर्ककीर्ति से सूर्यवश, उनके भतीजे सोमयश से चन्द्रवश तथा एक अन्य वशज कुरु से चला, ऐसी भी जनुश्रुतियॉ है।

ऋषभदेव द्वारा उपदेशित यह अहिसामय सरल आत्मधर्म उस काल मे सम्भवत ऋषभधर्म, अर्हतधर्म, मग्ग या मार्ग अर्थात् मुक्ति और सुख का मार्ग कहलाया था। इसके द्वारा अनुप्रणित सस्कृति ही श्रवण सस्कृति कहलायी। ऋषभ के उपरान्त आने वाले अजितनाथ आदि विभिन्न तीर्थंकरो ने इस सस्कृति का पोषण किया और उक्त सदाचार प्रधान योगधर्म का पुन प्रचार किया।

ऋषभदेव भगवान् के पश्चात् तीसरे तीर्थकर सम्भवनाथ के समय मे भी इसी प्राचीन योग सभ्यता का विशेष रूप मे विकास हुआ। सम्भवनाथ का विशिष्ट लाछन अश्व है और सिन्धु देश चिरकाल तक अपने सैन्धव अश्वो के लिए प्रख्यात रहा है। मौर्य काल तक सिन्धु मे एक सम्भूत्तर जनपद और साम्भव (सम्बूज) जाति के लोग विद्यमान थे जो बहुत सम्भव है कि सिन्धु सभ्यता के मूक प्रवर्तको एव तीर्थकर सम्भवनाथ के मूल अनुयायियो की ही वश-परम्परा मे हो। यह सभ्यता अवैदिक एव अनार्य ही नही वरन् पाग्वैदिक थी तथा इसके पुरस्कर्ता ऋषभ प्रणीत योग धर्म के

अनुयायी और श्रमण सस्कृति के उपासक प्राचीन विद्याधर अर्थात् भारतीय द्रविड जाति के पूर्वज थे ऐसा प्रतीत होता है।

सर जॉन मार्शल का कथन है कि "सिन्धु-सस्कृति एव वैदिक-सस्कृति के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि इन दोनो सस्कृतियो मे परस्पर कोई सम्बन्ध या सम्पर्क नही था। वैदिक धर्म सामान्यतया अमूर्तिपूजक है जब कि मोहनजोदडो एव हडप्पा मे मूर्तिपूजा सर्वत्र स्पष्ट परिलक्षित होती है। मोहनजोदडो के मकानो मे हवनकुण्डो का सर्वथा अभाव है।" इन अवशेषो में नग्न पुरुषो की आकृतियो से अकित मुद्राएँ बहुसख्या मे मिलती हैं। जॉन मार्शल के अनुसार वे प्राचीन योगियो की मूर्तियॉ हैं। एक अन्य विद्वान का कथन है कि "ये मूर्तियॉ स्पष्टतया सूचित करती हैं कि धालुपाषाण काल मे सिन्धु घाटी के निवासी न केवल योगाभ्यास ही करते थे बल्कि योगियो की मूर्तियो की पूजा भी करते थे"। "रामप्रसाद चॉदा का कथन है कि "सिन्धु घाटी की अनेक मुद्राओ मे अकित देवमूर्तियाँ विशेष योगमुद्रा मे हैं और उस सुदूर अतील मे सिन्धुघाटी मे योग मार्ग के प्रचार को सिद्ध करती हैं। खड्गासन देव मूर्तियॉ भी योग मुद्रा मे हैं। वे कायोत्सर्ग मुद्रा मे हैं। यह कायोत्सर्ग ध्यान मुद्रा विशिष्टतया जैन दर्शन मे पायी जाती है। आदिपुराण आदि मे इस कायोत्सर्ग मुद्रा का उल्लेख ऋषभ या वृषभदेव के तपश्चरण के सम्बन्ध मे बहुधा हुआ है। जैन ऋषभ की इस कायोत्सर्ग मुद्रा मे खड्गासन प्राचीन मूर्तियॉ ईस्वी सन् के प्रारम्भ काल की मिलती हैं। प्राचीन मिस्त्र मे प्रारम्भिक राज्यवशो के समय की दोनो हाथ लटकाये खडी मूर्तियॉ मिलती हैं। यद्यपि इन प्राचीन मिस्त्री मूर्तियो तथा प्राचीन यूनानी करोइ नामक मूर्तियो मे प्राय वही आकृति है तथापि उनमे उस देहोत्सर्ग-निस्सग भाव का अभाव है जो सिन्धु घाटी की मुद्राओ पर अकित मूर्तियो मे तथा कायोत्सर्ग मुद्रा से युक्त जिन मूर्तियो मे पाया जाता है। ऋषभ शब्द का अर्थ वृषभ है और वृषभ जैन ऋषभदेव का लाछन है।" वस्तुत सिन्धु घाटी की अनेक मुद्राओ मे वृषभ युक्त कायोत्सर्ग योगियो की मूर्तियॉ अकित मिली हैं जिससे यह अनुमान होता है कि वे वृषभ लाछन युक्त योगीश्वर ऋषभ की मूर्तियॉ हैं। ऋषभ या वृषभ का अर्थ धर्म भी है शायद इसीलिए कि लोक मे धर्म सर्वप्रथम तीर्थंकर ऋषभ के रूप मे ही प्रत्यक्ष हुआ। प्रो रानाडे के मतानुसार "ऋषभदेव ऐसे योगी थे जिनका देह के प्रति पूर्ण निर्ममत्व उनकी आत्मोपलब्धि का सर्वोपरि लक्षण था।" उत्तरकालीन भारतीय सन्तो के योगमार्ग मे भी ऋषभदेव को उक्त मार्ग का मूल प्रवर्तक माना गया है। प्रो प्राणनाथ विद्यालकार न केवल सिन्धु घाटी के धर्म को जैन धर्म से सम्बन्धित मानते हैं, वरन् वहॉ से प्राप्त एक मुद्रा (न ४४९) पर तो उन्होने "जिनेश्वर" (जिन

इसरह) शब्द भी अकित रहा बताया है और जैन आमनाय की श्री ह्री, क्लि आदि देवियो की मान्यता भी प्राप्त हुई है जो सातवे तीर्थकर सुपार्श्व की हो सकती है इनका लाछन स्वस्तिक है और तत्कालीन सिन्धु घाटी मे स्वस्तिक अत्यन्त लोकप्रिय चिह्न दृष्टिगोचर होता है, सडके और गलियॉ तक स्वस्तिकाकार मिलती हैं ।[२१]

---

१ भारतीय इतिहास एक दृष्टि पृ २३ से २७

द्वितीय विभाग

(२) यौगिक उपलब्धि से सम्बन्ध और परिणाम

अध्याय १ शरीर और आत्मा की शक्ति का परिणमन रूप – वीर्य
(योग और वीर्य)

अध्याय २. लेश्या से रासायनिक बदलते रूप
(योग और लेश्या)

अध्याय ३. तनाव का मूल केन्द्र बन्ध हेतु का स्वरूप
(योग और बन्ध)

अध्याय ४ काम-वासना की मुक्ति का परम उपाय-ब्रह्मचर्य।
(योग और ब्रह्मचर्य)

अध्याय ५. शुभ योग का अतिम बिन्दु निष्पत्ति और फलश्रुति
(योग और समाधि)

अध्याय ६. वृत्तियो के निरोध का सृजन उपाय और अनुभूति रूप आनन्द।
(बाह्य और आतरिक भावना)

१. शरीर और आत्मा की शक्ति का परिणमन रूप – वीर्य

योग और वीर्य

जैसे योग, योग के हेतु, योग की आवश्यकता और योगमुक्ति के उपायो का प्रयोग जानना आवश्यक है, वैसे ही वीर्य, वीर्य के हेतु, वीर्य की आवश्यकता और वीर्य उपायो के प्रयोग जानना भी आवश्यक है, क्योकि योग और वीर्य का कार्य कारण सम्बन्ध है।

वीर्य आत्मा का परिणाम है, मन, वचन और काया रूप शुभयोग के सम्बन्ध प्रयोग से वीर्यान्तराय कर्मो का क्षयोपक्षम होता है अत फलस्वरूप आत्मवीर्य और लब्धिवीर्य प्रकट होता रहता है। इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव सम्बन्धी आत्मा और शरीर की अनेक प्रवृत्ति रूप वीर्य दृश्यमान होता है। योग और वीर्य ; आत्मा और शरीर के दो पहलू है। दोनो मे अन्तर और बाह्य, सूक्ष्म और स्थूल, तीव्र और मद परिणाम का रूपान्तरण होता रहता है।[१]

वीर्य का शब्दार्थ

आगम मे वीर्य शब्द का सामान्य अर्थ शक्ति है किन्तु विशेष रूप मे जैसे कि–

उत्तराध्ययन[२] मे सामर्थ्य, सूत्रकृताग[३] मे अतरग और बहिरग, चन्द प्रज्ञप्ति[४] सटीक मे आतरिक उत्साह अर्थ मे तथा अन्य ग्रन्थो मे बल[५], उत्साह[६] का अतिरेक पराक्रम[७], चेष्टा[८], सामर्थ्य[९] इत्यादि अर्थ मे मिलता है।

वीर्य की व्युत्पत्ति

विशेषेण ईरयति-प्रेरयति अहित येन तद्वीर्य'' ईर गति प्रेरणयो धातु से वीर्य शब्द बना है अहित त्याग से आत्म-शक्ति का सवर्धन होता है। उसे ही आत्मवीर्य कहते है।

हमारा दृश्य शरीर औदारिक शरीर है। इस शरीर मे योगास्रव के आवेग अनेक रूपो मे परिलक्षित होते हैं। चिकित्सको ने भी इन आवेगो के उपायो की खोज की है। उन्होने सात धातुओ मे सप्तम धातु वीर्य को माना है। इस प्रकार आत्मा और शरीर दोनो द्वारा वीर्य का विकास परिलक्षित होता है।

हमारे मस्तिष्क मे अनेक प्रकार की तरगे पैदा होती हैं। अल्फा, बेटा, थेटा इत्यादि-विभिन्न आवेगो का, विभिन्न उत्तेजनाओ का, यौगिक पद्धति से निरीक्षण और परीक्षण किया जा सकता है।

शरीर शास्त्र मे सप्त धातुओ मे से अतिम धातु वीर्य को ही सर्वस्व मान्य किया है क्योकि वीरता, पराक्रम, शौर्य, लावण्य इत्यादि रूप मे परिणमित हुए दिखते जाते हैं। किन्तु अध्यात्म शास्त्र मे आत्मिक वीर्य को ही महत्त्व दिया है। वीर्यशक्ति, बलस्थान पराक्रम, शौर्य, उत्साह इत्यादि का आधार आत्मवीर्य माना है। मन, वचन और कायरूप योग से जो कुछ भी सूक्ष्म या स्थूल, स्पदन या प्रवृत्ति होती है उन सबमे आत्मवीर्य की ही प्रधानता होती है। वीर्य के अभाव मे मन, वचन और काया का कोई प्रभाव नही होता। इस प्रकार योग और वीर्य का परस्पर सम्बन्ध अनिवार्य है।

हमे जो परिस्पन्दन का सवेदन होता है, यह वीर्य का ही प्रभाव है। जब तक योग स्थिर नही होता, तब तक वीर्य मे परिस्पदन का ही प्रभाव माना जाता है। जैसे ही योग शुभ होता जायेगा वीर्य मे स्थिरता क्रमश बढती जायेगी। आत्मा की विशुद्धि, निष्कपता एव कर्मक्षय का सातत्य भी वर्धमान होता जायेगा।

जब आत्मा मे वीर्य की उत्कृष्टता होती है, तब योगो की प्रवृत्ति मद हो जाती है और परिणाम शक्ति तीव्र हो जाती है। वीर्य द्वारा पुद्‌गल और आत्मा पृथक परिलक्षित होते हैं। अत यहाँ वीर्य को हम दो विभागो मे विभक्त कर सकते हैं।

१ लब्धि वीर्य और २ उपयोग वीर्य।

लब्धि वीर्य

लब्धि वीर्य मे बहिर्मुख से अतर्मुख की ओर ले जाने की प्रक्रिया है। मन, वचन और कायिक वीर्य को अधोन्मुख भूमिका से ऊर्ध्वीकरण कर विकासोन्मुख की ओर ले जाना, बन्धन को तोडकर मुक्ति की ओर अग्रसर करना, आवरण से अनावरण की ओर बढाना, परतन्त्रता की परिधि से स्वतन्त्र विहरण करवाना इत्यादि प्रवृत्ति वीर्यान्तराय कर्मो के क्षयोपशम से होती है।[१०]

---

१० आनदघन कृत चौबीशी, महावीर जिन स्तवन गा ३

वीर्य परिणाम या आत्म-प्रदेश परिस्पदन से जो परिणमन रूप शुभ योग है, उसे लब्धि वीर्य कहते हैं। लब्धि वीर्य छद्‌मस्थ और मुक्त साधक के रूप से उभयात्मक है।

उपयोग वीर्य

वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से वीर्य उत्तेजित होता है और योग विशुद्ध होता है। ऐस योग वीर्य के दो पहलू है। १ छद्‌मस्थ वीर्य २ मुक्तवीर्य। छद्‌मस्थ वीर्य कर्मों से आवृत्त होता है। क्योकि सलेशी आत्मा क्षयोपशमिक वीर्य लब्धि प्राप्त करता है और अलेशी आत्मा क्षायिक वीर्य लब्धि को प्राप्त करता है। जब शुभलेश्या आती है तब ज्ञानपूर्वक आत्मभावोल्लास उत्पन्न होता है। इस अवस्था को अभिसधिज योग कहते हैं और आत्मा मे होने वाले सहज स्फुरण से शरीर मे जो प्रवृत्ति सहज रूप से चलती है, जैसे-कपन, स्फुरण या रूपान्तर से आत्मा मे होने वाला स्फुरण अनभिसधिज योग कहलाता है। इसे उपयोग वीर्य कहते हैं।

कोष्ठक नं. ४.
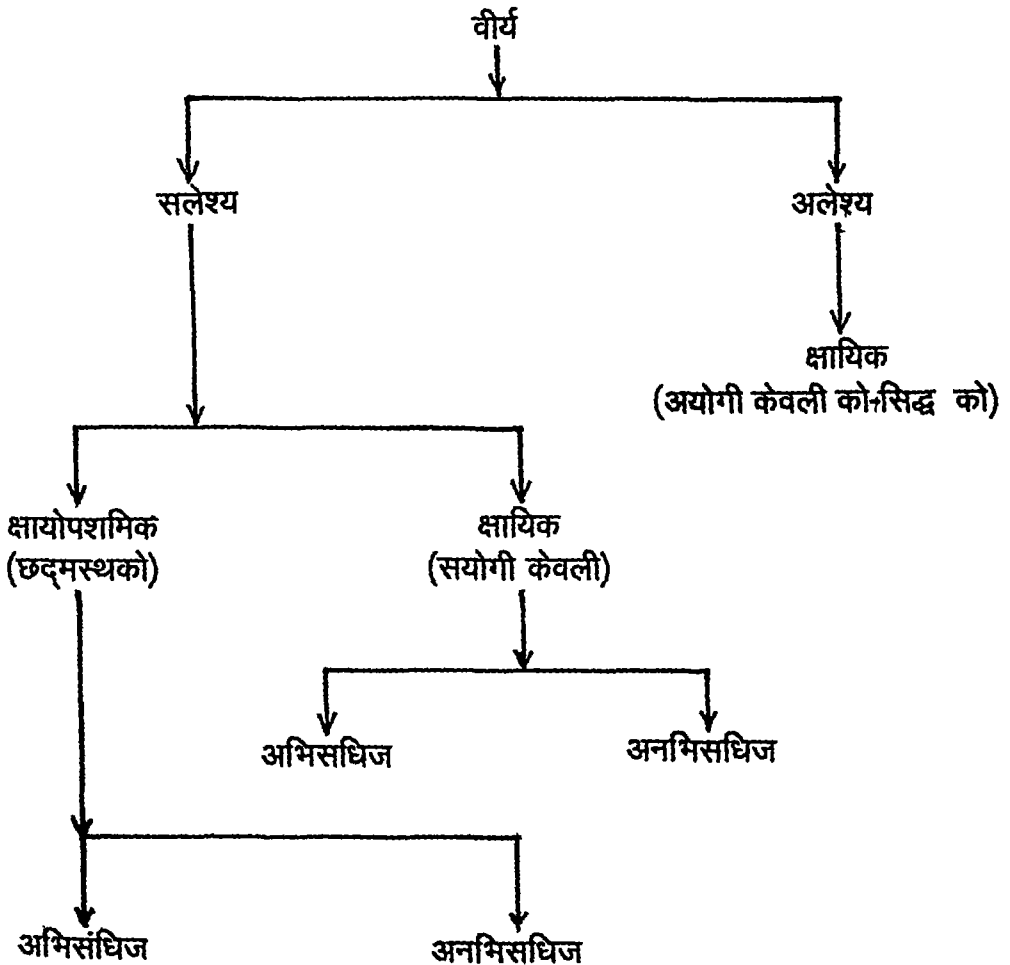
छद्मस्थ वीर्य के तीन स्तर है –

१. द्रव्य वीर्य का स्तर–यह स्थूल औदारिक शरीर के साथ क्रियान्वित होता है।

२. भाववीर्य का स्तर–यह सूक्ष्म तैजस् शरीर के साथ क्रियान्वित होता है।

३ आन्तरिक वीर्य का स्तर–यह अति सूक्ष्म कार्मण शरीर के साथ क्रियान्वित होता है।

१ औदारिक वीर्य का मन और इन्द्रिय जगत से सम्बन्ध होता है। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से इन्द्रिय विषयोन्मुख होती है और मन उसमे प्राण जगाता रहता है। इन विषयो की सम्पूर्ण प्रवृत्ति मन के विचारो से, वाणी के प्रचार से और शरीर, बुद्धि या चेतना के सक्रियता से सम्पादित होती है। विषयात्मक प्रवृत्ति का नियन्त्रण किया जा सकता है जिससे भाव,वीर्य का स्तर जागृत होता है। साधक गहराई मे उतरता है तो स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर मे प्रविष्ठ होता है, सूक्ष्म शरीर तैजस् शरीर है। बाह्य प्रवृत्ति का नियन्त्रण किया जा सकता है क्योकि वह हमारी परिस्थिति के तथा प्रक्रिया के अनुरूप प्रवर्तमान रहती है। मानसिक प्रवृत्ति, वाचिक प्रवृत्ति, कायिक प्रवृत्ति जो क्रियमान है, तनाव युक्त है, उसे तनाव मुक्त कर सकते है किन्तु सूक्ष्म तैजस् शरीर भाव वीर्य का स्तर है। भाव वीर्य की उत्पत्ति कषाय से होती है, और कषाय रागात्मक और द्वेषात्मक भाव से होता है। भाव जब क्रियात्मक रूप धारण करता है तब स्थूल शरीर मे दृश्यमान होता है किन्तु जब भाव रूप मे है तब सूक्ष्म शरीर मे विद्यमान है। वहॉ नियन्त्रण की अपेक्षा नही होती यहॉ जो भी होता है स्वाभाविक होता है। जो स्वाभाविक होता है वह उपयोग वीर्य है।

मनोवैज्ञानिक किसी भी व्यक्ति के मानसिक स्तर को जाच सकता है। अपराधो की खोज करवा सकता है। जैसे-वैज्ञानिको के उपकरण मशीन वगैरह से, डकैती, चोरी आदि का ग्राफ उतरता है और माल, व्यक्ति आदि की जाच होती है। कुत्तो द्वारा अपराधियो को पकडा जाना इत्यादि मे भी भाव का प्राधान्य माना जाता है।

भाववीर्य आतरिक वीर्य के स्तर से स्थूल है। आतरिक वीर्य का सम्बन्ध कार्मण शरीर से है। कर्म शरीर है। कर्म शरीर मे जो घटनाए घटित होती हैं वह अति सूक्ष्म होती हैं, उस घटना का प्रभाव भाव पर होता है और भाव का प्रभाव मानसिक स्मृति पर होता है। इस प्रकार अतिसूक्ष्म के स्तर पर पहुँचा हुआ साधक इन्द्रियजन्य विषय भोग का मापदड निकाल सकता है। जैसे ऑखो का विषय रूप है और कानो का विषय शब्द है उनके लिए कोई फर्क नही ऑखे भी सुन सकती हैं। कान भी देख सकते हैं। वैज्ञानिको ने भी सशोधन किया है, उनके अनुसार भी फ्रीक्वेन्सी का अतर

है। इस प्रकार क्रिया से शोधन, शोधन से रूपान्तरण होता है, यह रूपान्तरण क्रमश. उपयोग वीर्य की अनुभूति को उजागर करता है। इस उपयोग वीर्य से मुक्ति वीर्य सहज प्राप्त होता है।

वीर्य के प्रकार

१ **सलेश्य वीर्य**—लेश्या अर्थात् भिन्न-भिन्न अनुसधान के योग से मन पर होने वाले परिणाम। ये परिणाम अनेक रूप मे अभिव्यक्त होने पर भी हम शुभयोग रूप सकल्प शक्ति का उपयोग करे। इस शक्ति से शुभ लेश्याओ का द्वार खुलेगा, सकल्प शक्ति, साकार होगी और एकाग्रता मे स्थिरता बढेगी। सक्रल्प शक्ति एकाग्रता की शक्ति और अध्यात्म की शक्ति एक साथ होगी तब लेश्या का शुभलेश्या मे रूपान्तरण हो जायेगा।

मन, वचन और काय रूप योग परिणाम से लेश्या का परिणमन स्थित रहता है। अर्थात् तेरहवे गुणस्थानवर्ती केवली भगवन्त को भी योगवीर्य रूप लेश्या परिणाम प्रवर्तित होता है। सलेश्यवीर्य के तीन प्रकार होते है

१ आवृत्त वीर्य—कर्म से आच्छादित वीर्य

२ लब्धि वीर्य—वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम अथवा क्षय से प्रकट वीर्य

३ परिस्पद वीर्य—लब्धि वीर्य मे से जितना वीर्य मन, वचन और काययोग द्वारा प्रवृत्त हो।[११]

२. **द्रव्य वीर्य**—साधना मे वीर्य का अत्यन्त महत्त्व है, बुरी आदतो की जडो को उखाडने का पुरुषार्थ द्रव्य वीर्य मे है। हमारे आतरिक जगत मे घटित होने वाली घटनाएँ बडी जटिल होती है। जैसे बीमारी की जड मे जर्म्स नही हैं, बीमारी की जडे हमारे भीतर से सम्बन्धित है। ये बीमारी की जडे हमारे वीर्य मे है। भाव वीर्य की विशुद्धि जब तक विद्यमान रहेगी बीमारी आने का मार्ग ही नही रहेगा। वीर्य मे गडबडी होते ही रोग अपना सामना करने लगेगा। बाह्य स्थूल शरीर मे अभिव्यक्त होने लगेगा। बाह्य जर्म्स तो निमित्त मात्र है। सयोग से मिल जाते है। शारीरिक और आत्मिक दोनो वीर्य तीन स्वरूप मे जीवात्मा मे जुडे हुए हैं।

१. **सचित वीर्य**—जीवधारी आत्मा का वीर्य

२ **अचित वीर्य**—शरीर धारी आत्मा का जैसे आहार आदि का वीर्य

३ **मिश्र वीर्य**—अचित्त (जड) से सयुक्त ऐसे जीव का जो वीर्य

---

११ कर्म प्रकृति श्लो ४ की टीका

३. भाव वीर्य—भाव वीर्य का सम्बन्ध लेश्या के साथ जुडा हुआ है। आतरिक भाव जिस स्वरूप मे उपस्थित होगा उसी रूप मे वर्णादि लेश्या उभर कर आयेगी। तैजस् शरीर और तेजोलेश्या सहचारी है। दोनो मे विद्युत चुम्बकीय तत्त्व है। इन्हीं तत्त्व के द्वारा भाव वीर्य का ऊर्ध्वीकरण होता है। काषायिक वृत्तियो का परिवर्तन भाव वीर्य की देन है, क्योकि वीर्य के पास विद्युल की शक्ति है, विद्युत के पास लेश्या की शक्ति है, लेश्या के पास तैजस् की शक्ति है और तैजस् के पास आत्म-लब्धियॉ हैं। इस प्रकार भाव वीर्य आत्म-लब्धि का वीर्य है।

वीर्य द्वारा साधक मन, वचन काया और श्वासोश्वास द्वारा योग्य पुद्‌गलो को ग्रहण करता है और मन, वचन, काया और श्वासोश्वास रूप मे परिणत करता है। इस परिणमन से सूक्ष्म कपन पकडने मे जो सक्षम होता है, वही भाव वीर्य है।

४ अध्यात्म वीर्य—शुभयोग से उत्पन्न सात्त्विक शक्ति को अध्यात्म वीर्य कहते हैं। आत्मवीर्य का परम उपाय जागृति का सातत्य है। मैं और शरीर सर्वथा भिन्न हैं ऐसी प्रतीति होना इन्द्रियजन्य व्यापारो से भिन्न सकल्प विकल्प से रहित, शारीरिक, मानसिक और वेदना जन्य तनाव से मुक्त अध्यात्म वीर्य होता है।

५ बाल वीर्य—जीवात्मा प्रमादवश जो भी प्रवृत्ति करता है वह बाल वीर्य है। प्राणी मात्र मे राग का प्रवाह जितना तीव्र होता है उतना ही तनाव बढता जाता है। मानसिक जटिलता और बौद्धिक उलझने अनेक असमानता को पैदा करती हैं फलत वस्तु स्थिति को यथावत् प्रकट नही होने देती हैं। अत मन, वचन और कायिक शक्ति स्वाभाविक होने पर भी मानसिक हिसा का चिन्तन करना बाल वीर्य है।

६ पंडित वीर्य—देहात्म भिन्नता का बोध होने पर आत्मवीर्य की निरन्तर उन्नति होती है। कर्मों का क्षय होता है और भावो की विशुद्धि होती है। ऐसे शुभ अनुष्ठान से सच्चाई की सुरक्षा का प्रबन्ध होता है। सच्चाई स्वय मे क्या है यह आत्मवीर्य के पूर्व जाना नही जा सकता। जब तक हमारे ज्ञान सूर्य मे विकृति के बादल छाये रहते हैं तब तक उस प्रकाश मे आत्मानुसधान नही किया जा सकता। आत्मानुसधान के लिए चाहिए पडित वीर्य का सम्यक् सामर्थ्य। जब योगावस्था के आलबन से सम्यक् वीर्य स्फुरित होता है तब सम्यक्दर्शन, सम्यकज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग ग्रहण होता है। इस प्रकार कर्म से अकर्म की ओर आत्मा की निरन्तर उन्नति विशेष अनुष्ठान रूप उपयोग को पडित वीर्य कहते हैं।

७ कर्म वीर्य—जो भी अनुष्ठान किया जाता है, वह कर्म वीर्य है अथवा कारण मे कार्य का उपचार करके अष्ट प्रकार के कर्मो को कर्म वीर्य कहते हैं।

कर्म के दो प्रकार है—सापरायिक एव ऐर्यापथिक। कषाय रहित किया जाने वाला कर्म ऐर्यापथिक होता है। सापरायिक कर्म कषाय सहित किया जाता है।

८. अकर्म वीर्य—जिसमे कर्म नही वह अकर्म वीर्य है। वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न जीव का स्वाभाविक सामर्थ्य अकर्म वीर्य है। अकर्म वीर्य मे आत्मा कषाय रूप बन्धनो से मुक्त होकर कर्मो का विनाशक होता है।[१२]

इस प्रकार अकर्म वीर्य मे आत्मा ध्यानयोग को ग्रहण करता है और काया को अप्रशस्त व्यापार से रोकता हुआ परीषह उपसर्गो को सहन करता है एव मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त सयममय अनुष्ठान मे सलीन रहता है।[१३]वीर्य का उचित उपयोग कर उपायो द्वारा अतिम सिद्धि को प्राप्त करना ही अकर्म वीर्य की सात्त्विक सफलता है।

निक्षेप वीर्य

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भेद से छ प्रकार का है।

जैन दर्शन के अनुसार वीर्य से सत्-असत् का विवेक होता है, यथार्थ दृष्टि की प्रतीति होती है और सामर्थ्यपूर्ण मनोभाव जागृत होता है। वीर्य मे ज्ञान और क्रिया का ऐसा समन्वय है जिससे जीवन और जगत की व्यवस्थाओ का सम्यक् बोध प्राप्त होता है। कर्मो के क्षयोपक्षम से जो वीर्य लब्धि प्राप्त होती है उसने सहज देहात्म बुद्धि को सत्य की वेदी पर समर्पित करने का सकल्प लिया है। फलत वीर्य से आनन्द के क्षणो का अनन्य लाभ प्राप्त होता है।

वीर्य उत्तेजना

योग निष्णात् महर्षियो के अनुसार—हमारे सवेदनो से वीर्य मे अद्‌भुत परिवर्तन पाया जाता है क्योकि हमारी इन्द्रियो के विषयो मे न्यूनाधिक उत्तेजनाएँ पायी जाती हैं। जिसका माध्यम है—श्रवण, दृष्टि, रस, गध, स्पर्श इत्यादि। इसी माध्यम से प्राप्त वीर्य शक्तियॉ वायु कम्पनो से उत्तेजित होती है। जैसे—वायुमडल मे वायु-कम्पन एक से असख्य सख्या तक प्रति सेकण्ड होते रहते है। उनमे से श्रवण वीर्य शक्ति ११ से ६०००० प्रति सेकण्ड कम्पन ग्रहण करती है जिसका सम्बन्ध शब्द सवेदन से है। वायुकम्पन बराबर बढता रहने पर भी उन्हे कोई इन्द्रिय ग्रहण नही करती। जब वायुकपन एक करोड अस्सी लाख प्रति सेकण्ड होते हैं तब स्पर्श प्रभावित होता है और उष्णता का सवेदन अनुभव होने लगता है। इसके पश्चात् दूर तक कोई सवेदन

---

१२ सूत्रकृताग सू ३ से १०
१३ सूत्रकृताग सू ११ से २६

नही होता। चार अरब साठ अरब प्रति सेकण्ड वायु कम्पन से होने लगते है, तब चक्षु का प्रभाव होने लगता है। इसी प्रकार गध और रस की तीव्रता और मदता का प्रभाव होता है।

मनोवैज्ञानिको ने सवेदना, उत्तेजना, आवेगो इत्यादि का मापदड तो निकाला है पर उसका वीर्य से क्या सम्बन्ध है इसका मापदड तो महर्षिओ की अनूठी उपज है। महर्षियो ने योग द्वारा प्रयोगात्मक रूप से इसे पाया है। जैसे–

बाह्य उत्तेजना का वीर्य पर प्रभाव	खान-पान, हाव-भाव, वेश-भूषा, उत्तेजित दृश्य, स्पर्श और अनाचरण
ज्ञान तन्तु का योग	उत्तेजना को लाने वाला ज्ञान तन्तु है जैसे तार के बिना विद्युत प्रवाहमान नहीं होता वैसे ही तन्तु के अभाव मे उत्तेजना का अभाव।
ग्राह्य मन	सवेदन मन मे पैदा होता है, उत्तेजना को ग्रहण करने वाला मन यदि नही है तो बाह्य वातावरण और ज्ञान तन्तु दोनो व्यर्थ हैं।

वीर्य उत्तेजना चार रूप मे उत्तेजित होती है और सवेदना से अनुभूत होती है। जैसे–

१ **प्रकार** (Quality)	आचार, विचार और सस्कार के रूप मे ढल जाना
२ **बल** (Intensity)	शरीर की पुष्टि के अनुरूप शक्ति का माप दड पाना।
३ **समय** (Time)	वीर्य उत्तेजना (आध्यात्मिक-भौतिक) न्यूनाधिक समय के अनुरूप उत्तेजित होना।
४ **फैलाव** (Extensity)	बाह्य और आतरिक दोनो आकृति का प्रकृति और विकृति के अनुरूप फैलाव होना।

योग और वीर्य से प्राप्त लाभ

सत्-असत् का विवेक ज्ञान,
बाह्य प्रवृत्तियो का नियन्त्रण,
काषायिक भावो की मदता,
अज्ञान दशा मे विशुद्धि का बोध,
उपयोग की प्राप्ति।

२. लेश्या से रासायनिक बदलते रूप

योग और लेश्या

मन के अध्यवसाय एक जैसे नही होते। वे बदलते रहते हैं। कभी अच्छे होते हैं तो कभी बुरे। मन के इन परिणामो अथवा भावो को "लेश्या" कहते हैं। स्फटिक के समीप जिस रग की वस्तु रखी जाये उसी रग से युक्त स्फटिक देखा जाता है, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के सयोग से मन के परिणाम (अध्यवसाय) बदला करते है। मनुष्य को जब क्रोध आता है, तब उसके मनोगत भाव का प्रभाव उसकी मुखाकृति पर उभर कर आता है। उस क्रोध के अणुसधान का मानसिक आन्दोलन जो उसके मुखाकृति पर घूम रहा है, उसी की यह अभिव्यक्ति है। भिन्न-भिन्न अणुसघात के योग से मन पर भिन्न-भिन्न प्रभाव अथवा मन के भिन्न-भिन्न परिणाम होते हैं। इसी का नाम लेश्या है। ऐसे अणुसघात का वर्गीकरण छ प्रकार से किया गया है, जैसे कि कृष्ण वर्ण के नील वर्ण के, कापोत वर्ण के, पीत वर्ण के रक्तवर्ण के तथा शुक्ल वर्ण के द्रव्य। ऐसे द्रव्यो मे से जिस प्रकार के द्रव्य का सान्निध्य प्राप्त होता है उसी द्रव्य के अनुरूप रगवाला मन का अध्यवसाय भी हो जाता है। इसी का नाम लेश्या है।[१]

आधुनिक वैज्ञानिक खोज मे भी यह ज्ञात हुआ है कि मन पर विचारो के जो आन्दोलन होते है वे भी रगयुक्त होते हैं।

उपर्युक्त जीवो के आन्तरिक भावो की मलिनता तथा पवित्रता के तरतम भाव का सूचक छ लेश्याओ का विचार जैनशास्त्रो मे है, और आजीवकमत के नेता मखलिपुत्र गोशालक के मत मे कर्मो की शुद्धि अशुद्धि को लेकर कृष्ण, नील आदि छ वर्णों के आधार पर कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र, शुक्ल, परमशुक्ल ऐसी मनुष्यो की छ अभिजातियॉ बतलाई गई है। (बौद्धग्रन्थ अनुत्तरनिकाय मे इस गोशालक ने श्री महावीर प्रभु की छद्मस्थ अवस्था मे उनके शिष्य के रूप मे उनका सहचार लगभग छ वर्ष तक रखा था ऐसा उल्लेख है।)

---

१ भगवती सूत्र श १४ उ ९, प्र १२, पृ ७०७

महाभारत के बारहे शान्तिपर्व के २८६ वे अध्याय मे—

षड् जीववर्णा परमं प्रमाण कृष्णो धूम्रो नीलमथास्य मध्यम् ।
रक्त पुन सहयतर सुख तु हारिद्रवर्ण सुसुखं च शुक्लम् ॥७॥
पर तु शुक्ल विमल विशोक

इन वचनो से 'जीववर्ण' बतलाए है । कृष्ण, नील, रक्त, हारिद्र, शुक्ल और परम शुक्ल । महाभारत मे जिन छ वर्णो का उल्लेख है वे ही छह वर्ण गोशालकमत मे बतलाए गये है । पातञ्जल, योग दर्शन के चौथे पाद के **'कर्म अशुक्लाकृष्णं योगिन त्रिविध मितरेषाम् ।'** इस सातवे सूत्र मे कृष्ण, शुक्लकृष्ण, शुक्ल और अशुक्लकृष्ण, इस प्रकार कर्म के चार विभाग करके जीवो के भावो की शुद्धि-अशुद्धि का पृथक्करण किया है ।

लेश्या शब्दार्थ

पाइअसद्दमहण्णवो कोश पृ ७२८ मे लेश्या शब्द अनेक अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है। जैसे तेज, दीप्ति, किरण, मण्डल, बिम्ब, देह, सौन्दर्य, ज्वाला, आत्मा का परिणाम विशेष, आत्म-परिणाम निमित्त भूत कृष्णादि द्रव्य विशेष इत्यादि । अभिधान राजेन्द्र कोश भाग ६ पृ ६७५ मे लेश्या शब्द का अर्थ अध्यवसाय तथा अन्त करण वृत्ति के रूप मे प्रयुक्त हुआ है । आप्त कोश पृ ४८३ मे लेश्या अर्थ मे ज्योति शब्द प्रयुक्त हुआ है । भगवती सूत्र मे सुख और वर्ण ये दो शब्दो द्वारा लेश्या का अर्थ प्राप्त होता है । सस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ९६७ मे लेश्या शब्द प्रकाश उजियाला अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है ।

बृहदवृत्ति ६५० पत्र मे लेश्या शब्द का अर्थ आभा, कान्ति, प्रभा, छाया आदि मिलता है। गोम्मटसार मे शरीर के वर्ण और आभा को द्रव्य लेश्या और विचार को भाव लेश्या कहा है ।

यहाँ वण, आभा और विचार पौद्गलिक और मानसिक रूप मे हमारे सामने उपस्थित हुए है । इसमे वर्ण और आभा शरीर का बाह्य स्थूल रूप है किन्तु विचार सूक्ष्म है । विचार भावो के अनुरूप परिवर्तित होते हैं । भाव का सम्बन्ध कषाय के स्पन्दनो से और विचार का सम्बन्ध, मस्तिष्क के सम्बन्ध से जुडा हुआ है । मस्तिष्क मे जैसे ही स्मरण, चिन्तन, चयन आदि का विश्लेषण होता है उसी प्रकार भाव तरगित होते हैं । ये तरगे अन्त स्रावी ग्रथियो से उठती हैं । तरगो को उठने के दो द्वार हैं, एक ग्रथियॉ और दूसरा नाडियो का समूह । दोनो मस्तिष्क और मेरुदण्ड से जुडे हुए हैं । ग्रथियो से भावो का स्राव होता है और नाडियो से विचारो का निर्माण होता है ।

जिस लेश्या का जैसा भाव होता है वैसे ही विचारो का निर्माण होता है। भाव, योग, लेश्या कषाय इत्यादि कर्म बन्ध के हेतु है। अत भावो को विशुद्ध रखना परम आवश्यक है। भावो की शुद्धि तेजु, पद्म और शुक्ल गुणो से होती है। अत श्वेत वर्ण, पीत वर्ण और रक्त वर्ण मे सतोगुण होने से उसी का ध्यान श्रेयस्कर होता है। रक्त वर्ण का ध्यान सिद्धावस्था के लिए उपयुक्त है। श्वेत वर्ण का ध्यान अरिहत अवस्था को प्राप्त करने के लिए उपयुक्त है और पीत वर्ण का ध्यान आचार्य पद की स्थापना के लिए प्रयुक्त होता है।

लेश्या की परिभाषा

प्रज्ञापना की वृत्ति मे ''योग परिणामो लेश्या'' योग के परिणाम को लेश्या कहा है। योग और लेश्या मे अविनाभाव सम्बन्ध है। अत जहाँ योग है वहाँ लेश्या है जहाँ लेश्या है वहाँ योग है। इस प्रकार जब तक लेश्या है तब तक सयोग है जैसे ही जीव अलेशी हुआ उसी समय अयोगी भी हो जाता है। अलेशी और अयोगी सिद्धत्व का लक्षण है।

सयोगी केवली शुक्ल लेश्या परिणाम मे परिणमन करते हुए जब अवशिष्ट अन्तर्मुहूर्त मे योग का निरोध करते हैं तब अयोगीत्व और अलेश्यत्व प्राप्त होता है। अतमुहूर्त पूर्व योग और लेश्या का सम्बन्ध विद्यमान रहता है।

लेश्या एक प्रकार का पौद्गलिक पर्यावरण भी है। अत पुद्गल और जीव का सम्बन्ध कराने वाला जिस प्रकार योग है उसी प्रकार योग का परिणाम लेश्या होने से लेश्या भी जीव और पुद्गल को सयोग कराने मे सहयोगी है।

योग का परिणाम लेश्या है, इस परिणमन रूप लेश्या का प्रवाह बहाने का कार्य कषाय का है अत दूसरी परिभाषा बन गई **''योग पउत्ति लेस्सा कषाय उदयाणुरंजिया होई।''** पुद्गलो से जीव प्रभावित होता है और जीव से पुद्गल प्रभावित होता है। दोनों का प्रभुत्व राग और द्वेष रूप होने से आत्मा के साथ शुभ और अशुभ रूप से लेश्या जुडी हुई है। लेश्या जैसी होगी मानसिक परिणति उसी धारा मे प्रवाहित होती है। कषाय की तीव्रता और मदता के अनुरूप शुद्धि और अशुद्धि होती है। अर्थात् लेश्या का वैसा ही पर्यावरण होता है।

''लिश्यते कर्मणासहआत्मा अनयेतिलेश्या''—जिसके द्वारा आत्मा कर्मो से लिप्त होता है वह लेश्या है।

उपर्युक्त परिभाषा से प्रतीत होता है कि आत्मा कर्मो से लिप्त होता है किन्तु कर्मो को उजागर करने वाला मन, वचन और काय योग रूप भाव होता है। भाव का सम्बन्ध कषायगे के स्पन्दनो से है। हमारे सूक्ष्म शरीर मे ये स्पन्दनो के भिन्न-भिन्न प्रभाव

सस्कार के रूप मे जमा होते हैं। कषाय जितने तीव्र होगे स्पन्दन उतने ही तरल होगे। स्पन्दन जितने मद होगे भावो की विशुद्धि उतनी ही विशुद्ध होगी। कषायो की मदता से भावात्मक रूप तेजो, पद्म और शुक्ल शुभ लेश्याओ की शक्ति तीव्र होती है और कषायो की तीव्रता से कृष्ण, नील और कापोत अशुभ लेश्याओ की शक्ति तीव्र होती है।

शुभाशुभ भावनाएँ

शुभ और अशुभ भावनाओ के दो प्रकार हैं, एक प्रवाह है इच्छा का, दूसरा प्रवाह है तृप्ति का। इच्छाओ का कभी अभाव नही होता, इच्छाओ की समाप्ति का हेतु है शुभभाव रूप तृप्ति।

कषाय रूप तीव्र और मद इच्छाओ से, शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श मे परिवर्तन होता है।

शब्द

शब्द यह श्रोतेन्द्रिय का विषय है। इस विषय से लेश्या का गहरा सम्बन्ध है। भीतर से जैसे भाव उभरते हैं हमारी लेश्या युक्त शब्द उसी रूप मे स्फूरायमान होता है और उन शब्दो से दूसरो के भाव-तन्त्र सस्कारित हो जाते हैं तब वही सस्कार लेश्या के रूप मे प्रकट होते है। शब्दो की शृखला एक सी नही होती, वह तो बदलती रहती है। भिन्न-भिन्न शब्दो के सयोग से भिन्न-भिन्न वातावरण उपस्थित होता रहता है। जैसे हम किसी को प्यार करते हैं तो किसी को ठुकराते भी हैं। प्यार के शब्दो मे रागात्मक भाव उजागर होते हैं और तिरस्कार के शब्दो मे द्वेषात्मक भाव जागृत होते है। दोनो प्रकार के शब्दो के प्रयोग मे, चुनाव मे, स्पन्दनो मे, तरगो मे परिवर्तन की प्रक्रियाएँ प्रारम्भ हो जाती है। शब्द भीतर भाव रूप मे होता है तब अतिसूक्ष्म ध्वन्यात्मक रूप मे होता है। ध्वनि श्रव्य और अश्रव्य दो प्रकार की है। अश्रव्य ध्वनि (Ultra Sound-Supersonic) भाव-लेश्या के रूप मे भीतर स्फूरायमान होती है जो सुनाई नही देती है। हमारे कान केवल अधिक से अधिक प्रति सेकण्ड ६० सहस्र कपनो को पकड सकते है। यही कम्पन स्थूल रूप को धारण कर अच्छे और बुरे विचार के रूप मे व्यक्त-अव्यक्त होते है।

यदि विवेक शुद्धि है तो शब्दो का चयन उपयोग रूप मे बदल जायेगा, यदि विवेक का अभाव है तो शब्दो का चयन उपभोग रूप मे बदल जायेगा। हमारी घटना के अनुरूप शब्दो का उपयोग होता है। हमारी वृत्तिओ के अनुसार शब्दो के चयन होते है। हमारे भाव के रूप मे हमारी लेश्याओ का परिवर्तन होता है।

रूप

रूप चक्षु-इन्द्रिय का विषय है। मानव मात्र रूप में मंत्रमुग्ध होता है, क्योकि रंग का आकर्षण अपने आप म एक बहुत बडा महत्व रखता है। पदार्थो मे कोई मानव काला, कोई श्वेत, कोई रक्त, कोई नीले रग का चुनाव करता है। रग का हमारी ऊर्जाओ पर विशेष प्रभाव होता है। यदि रगो का ध्यान किया जायेगा तो हमारी काले रग की वृत्तियॉ श्वेत हो जायेगी। हमारे बुरे विचार समाप्त हो जायेगे। हमारी कामनाऍ शुद्ध भावनाओ मे परिवर्तित हो जायेगी।

चक्षु-इन्द्रिय का विषय चार अरब साठ खरब वायु कपन प्रति सेकड से प्रारम्भ होकर सात खरब तीस अरब प्रति सेकड पर अन्त होता है। चार खरब साठ अरब वायु कपन प्रति सेकण्ड पर लाल रग का सवेदन होता है और सात खरब तीस अरब पर नीले रंग का सवेदन होता है।

अत रूप की भावना, रूप की लेश्या, रूप के अध्यवसाय भी शुभ और अशुभ के प्रभाव से शब्द की तरह उपयोग और उपभोग का परिवर्तन लाता है।

गध

शुभ तीन लेश्याओ के सयोग से गध सुगधी होती है और अशुभ लेश्या के सयोग से गध मे बदबू आती है। अनुभव सिद्ध है जिसे क्रोध आता है उसका पसीना दुर्गधी होगा। प्यार यदि वासनात्मक कामुकतायुक्त है, पसीने मे बदबू आयेगी। हर पदार्थों मे गध है। हम जैसे पदार्थो का चयन करेगे, वैसी गध, वैसी भावना, वैसी लेश्या, वैसे विचार और वैसा आचरण उपस्थित होगा। अत गध का उपयोग करे उपभोग नही। उपभोग से गध दुर्गध हो जायेगी। गध फेफडो की रक्षक है। फेफडो के वास्ते जैसी वायु की आवश्यकता है वैसी वायु को बताना घ्राण का कर्तव्य है अन्यथा कोमल फेफडे विषैली वायु से घुटकर प्राणघातक हो जाते हैं।

रस

खट्टे, मीठे आदि रसो की रुचि, आकर्षण और भोग का आस्वादन कराती है। स्वाभाविक रूप से प्रत्येक प्राणी मनोज्ञ और अमनोज्ञ दोनो रस के प्रभावो से अनुभूत होता है। यह अनुभूति ही लेश्या है।

हमारे शरीर मे शान्ति और पवित्रता के साथ-साथ वासनाओ को उत्तेजित करने वाली अनेक ग्रन्थियॉ हैं। जैसे पीयुष ग्रन्थि और जनन ग्रथि से वासनात्मक भाव रूप

रस का स्राव होता है । पिनिअल, सोलार जैसी ग्रन्थियो से पवित्रात्मक रूप मधुर रसास्राव पाया जाता है। हमारे भावो के अनुरूप हमारी लेश्याएँ तरगित होती हैं ।[२]

हमारी आतरिक चेतना को जगाने के लिए ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहण आवश्यक है। रस परित्याग से चेतना के अनेक द्वार खोले जाते हैं । वासनाएँ समाप्त की जाती हैं, उत्तेजनाएँ नष्ट की जाती हैं ।

प्राकृतिक चिकित्सा केन्द्र के शब्दो मे--सात्विक भोजन से प्राप्त रस पाचन शक्ति के लिए पर्याप्त मात्रा मे आवश्यक है। किन्तु रसना की लोलुपता सदा गतिमान रहती है, (ऐक्टिव अर्थात सक्रिय होती है ।) रस विकृति की उत्पत्ति से प्रभावित सस्कार अनेक आकर्षण, विकर्षण और सघर्षण पैदा करती है। अत कषायो द्वारा तीव्र रसो को मद करने का एकमात्र उपाय ध्यान है। आहार सज्ञा पर विजय प्राप्त करने के लिए वृत्तियो का परिवर्तन वृत्तियो पर आक्रमण, तीव्र रस को क्षीण करने का सामर्थ्य केवल ध्यान मे है ।

अत लेश्या और योग मे रस सम्बन्धी ज्ञान अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक है। जिह्वा और तालु मे पॉच प्रकार का रसास्वाद होता है। मीठा, खट्टा, नमकीला, कडुआ और तीखा । मीठा और खट्टा स्वाद जिह्वा के अग्रभाग पर, नमकीला स्वाद दोनो किनारो पर, कडुआ स्वाद जिह्वा के पिछले भाग पर और तीखा अग्र और पीछे दोनो के सम्बन्ध से होता है । मीठा स्वाद क्षुधा को घटाता है, कडुआ क्षुधा को बढाता है, खट्टा प्यास बुझाता है, नमकीला प्यास बढाता है, ये सारी प्रवृत्तियॉ इन्द्रियो द्वारा होती है और लेश्या भाव द्वारा परिणमन होती हैं । पदार्थो मे पोटेशियल रस है और रसेन्द्रिय मे पोटेसियल सेसटिविटी है। जिह्वा अनुभव करने मे सक्षम है, पदार्थ अनुभव देने मे समर्थ है किन्तु दोनो के बीच मे योग जुड़ा हुआ है । इन्द्रिय अकेली है स्वाद नहीं, पदार्थ अकेला है स्वाद नही, स्वाद का अनुभव इन्द्रिय, मन, चेतना आदि के सयोग से होता है। अत सयोग ही रसयोग है। वैज्ञानिक टालस्टाय ने आत्मनियन्त्रण का सरल

---

२ हिन्दी विश्व कोष भा २ पृष्ठ-२२४, २२९ पृष्ठ पर मिलता है कि--

ये तरगे विद्युतचुबकीय तरगो मे परिवर्तित होती हैं । जिस धातु का धनाग्र हो उस धातु के परमाणुओ से प्रथम आघात होने पर इलेक्ट्रॉन उस धनाग्र के तल के भीतर जाते हैं, इन परमाणुओ से इलेक्ट्रॉनो की गति मे प्रतिरोध होता है क्योकि वे परमाणु भी अन्य इलेक्ट्रॉनों से परिवेष्ठित होते हैं। प्रत्येक धातु मे धात्वीय इलेक्ट्रॉन होते हैं जिनके कारण धातुएँ विद्युतचालक होती हैं। धनाग्र में प्रवेश करते समय ऋणाग्र से आने वाले इलेक्ट्रॉनो तथा धनाग्र के आतर इलेक्ट्रानो में अनेक सघात होते हैं।

अत` अत मे जब बाह्य इलेक्ट्रॉनो से विद्युतचुबकीय तरगे उत्पन्न होती हैं तब इन इलेक्ट्रॉनों की न एक समानता होती है और न एक वर्ण होता है। अत इस अविच्छिन्न वर्णक्रम को श्वेत विकिरण भी कहते हैं ।

उपाय रसनियन्त्रण बताया है। जैन दर्शन मे बारह प्रकार के तप मे अनशन, उणोदरी और रस परित्याग तीन तप बताये हैं। अल्प आहार उणोदरी, नीरस आहार रस परित्याग और अणाहार अनशन कहा जाता है।

अल्प सात्त्विक, पथ्यात्मक और हितावह आहार साधना के क्षेत्र मे आवश्यक है। अधिक, अनुपयुक्त, हानिकारक तथा अभक्ष आहार साधना के क्षेत्र मे बाधक है।[३]

खाद्य सामग्री केक, पीझा, आमलेट, बोर्नबीटा, चॉकलेट, आइसक्रीम, जैसी, चीजे[४] आदि पदार्थो मे जिलेटिन पाउडर, अण्डो[५] का रस आदि का उपयोग होता है। मदिरापान, शराब, बीयर, व्हिस्की, तम्बाकू, ब्राउन सुगर, पान-पराग आदि नशीले ड्रिकिग और स्मोकिग पदार्थ साधना मे बाधक होते है।

बाधक अभक्ष आहार, अधिक आहार और हानिकारक आहार से शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक और भावनात्मक परिवर्तन पाया जाता है। आहार सीमित आवश्यक है सीमातीत नही। भूख ऐच्छिक है किन्तु सीमातीत नही। जैसे पानी सौ डिग्री गर्म करने पर भाप बन जाता है किन्तु निन्यानवे डिग्री पर रुक जाए तो पानी पुन ठडा पानी के रूप मे ही मिलता है। यदि सौ डिग्री के बाद रुकना चाहो तो पानी नही मिलेगा। केवल १ डिग्री का फर्क है १०० डिग्री है तो पानी पानी नही, निन्यानवे डिग्री है तो पानी-पानी है। आहार, पानी, रस, वृत्ति आदि की मात्रा ठीक इसी रूप मे आवश्यक है। रस की ऊर्जा या रासायनिक परिवर्तन से योगी भोगी बन जाता है और भोगी योगी बन जाता है अत रस योग का नियन्त्रण साधना के क्षेत्र मे सुनियोजित उपाय है।

स्पर्श

प्रत्येक लेश्या का अपना स्पर्श होता है। आन्तरिक अनुभूति की स्पर्शना भावो की

---

३ १९७१ मे अमेरिका की प्रयोगशाला में जिन निरीह प्राणियो के प्राण लिये जाते हैं उनका सशोधन किया है। क्योकि उन प्राणियो के रक्त, मांस, हड्डी आदि मे से जिन पदार्थों का निर्माण होता है वह रसास्वाद भोग और उपभोग के लिए होते हैं। जैसे– बन्दर ८५२८३०, सूअर ४६६२४०, बकरे २२,६९१ कछुए १,८०,०००, बिलाव २ ००,०००, कुत्ते ४,००,०००, खरगोश ७,००,००० मेंढक १५ से २० लाख, जूहे ४,००,००,००० को प्रतिदिन कत्ल कर उसमे से बनाया जाता है। खाद्य पदार्थ तथा भोग उपभोग के साधन बनाये जाते हैं।

४ आम स्ट्रेडाम मे डेढ सौ साल पुराना केलेरिया मारिया का चीझ फार्म है। दूध को २९ डिग्री सेल्सियस तक गर्म किया जाता है, फिर चिझ बेक्टीरिया का प्रयोग किया जाता है तत्पश्चात् रेटिन नाम का पदार्थ, जो एक सप्ताह के गाय आदि के बछडे के आमाशय का रस झिल्ली मे से मिलता है, वह डाला जाता है।

५ अडो से स्रावित पीला रस शरीर मे कोलेस्टोरेल, हार्टएटेक, B P किडनी फेल आदि रोग उत्पन्न करता है। अडो मे २५ हजार छिद्र होते हैं जिससे वह श्वासप्रश्वास लेता है ४ ग्रेन कोलस्टोरेल होता है।

स्पर्शना है। भावो की स्पर्शना से जाना जाता है कि व्यक्ति का आचरण कैसा है। यदि व्यक्ति क्रोधी है, मायावी है, अनेक विषमताओ को फैलाने वाला है तो उसके स्पर्श में रौद्र परिणाम परिणमन होता है।

यदि व्यक्ति पवित्र भाव वाला है तो प्रेम, स्नेह सहानुभूति के व्यापक परिणाम का स्पर्श होगा। प्रेम के स्पर्श मे आनन्द होता है। उत्साह बढता है, सामर्थ्य जागता है और आन्तरिक निर्मलता का रूपान्तरण होता है।

जगल के शान्त वातावरण मे, प्राकृतिक सौन्दर्य की विश्व शान्ति मे, रुचि के अनुकूल, साधन, सामग्री का चयन होने से अनुकूल स्पर्श परमाणु का परिणमन होता है। यही परिणाम जब आन्तरिक भाव मे रूपान्तरण होता है तब उसी रूपान्तरण के केन्द्र बिन्दु को शुभ लेश्या कहते हैं। शुभलेशी स्पर्श का शरीर मन, भाव और अध्यात्म पर विशेष प्रभाव रहा है। इस प्रभाव से भिन्न-भिन्न स्थान पर भिन्न-भिन्न स्पर्श का अनुभव होता है। स्पर्श हल्का भी होता है और भारी भी होता है, गरम भी होता है और ठडा भी होता है, स्निग्ध भी होता है और रुक्ष भी होता है। इसी प्रकार शरीर के भीतर जैसे जिह्वा के अग्र भाग पर प्रकपनो का स्पर्श अलग होता है, रीड की हड्डी में स्थित सुषुम्ना नाडी के प्रकपनो का स्पर्श-सवेदन भिन्न होता है, मूलाधार चक्र और आज्ञा चक्रक मे एकाग्रता के क्षणो मे और प्रकपनो के स्पर्श सवेदनो मे भिन्नता पायी जाती है।

षड्चक्रो पर ध्यान केन्द्रित करने पर स्पर्श सवेदन मूलाधार चक्र पर होता है उससे स्वाधिष्ठान चक्र पर क्या प्रभाव पडता है और मणिपुर चक्र तक उस प्रभाव को पहुँचने मे कितना समय लगता है, इत्यादि विचार आवश्यक हैं जैसे—शरीर के किसी भी भाग से जब ज्ञान तन्तु अपना प्रभाव मस्तिष्क तक ले जाता है तो मन उस स्थान का पता शीघ्र प्राप्त कर लेता है, उसे सवेदन का स्थानीयकरण (Localization of Sensation) कहते हैं।

स्पर्श और गतियोग

स्पर्शयोग गतियोग से जुडा हुआ है। शरीर के भीतर मन प्राण वायु, रक्त आदि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर गत्यात्मक किया जाता है। उस स्थान का स्पर्श देखा जाय तो प्रतीत होगा कि मन कितने समय तक एक स्थान पर टिक सकता है। जैसे—बाह्य ध्यान मे पुलिस सिपाहियो को कवायत सिखाई जाती है। केवल एक शब्द पर एक साथ सभी का भागना, कूदना, बैठना, उठना, बन्दूक चलाना इत्यादि प्रक्रिया एक साथ हो जाती है। ठीक उसी प्रकार भीतर का यन्त्र-मन्त्र, श्वास, त्राटक आदि कोई भी आलबन के स्पर्श होते ही सम्पूर्ण शरीर के प्रकम्पनो के स्तर पर गति करता है।

शीत और उष्ण स्पर्श

वैज्ञानिको ने शीत और उष्ण दोनो स्पर्श सापेक्ष और निर्पेक्ष हैं[६] ऐसा सिद्ध किया है । जैसे शरीर के एक स्थान के परमाणु-कम्पनो से दूसरे परमाणु कपन शीघ्रता-त्वरित के रूप मे होते हैं तो वे कपन उष्ण-गर्म प्रतीत होते हैं । वही परमाणु कपन मद होते हैं तो शीत-ठडा प्रतीत होते हैं । इसे हम सामान्य परमाणु कपनो के सम्बन्ध से निरपेक्ष रूप मे देख सकते हैं । जैसे शरद ऋतु मे कान और हाथो मे सर्दी विशेष लगती है किन्तु गालो को शीत नही सताता। उससे प्रतीत होता है कि बाह्य शरीर मे भी शीत और उष्णता का अनुभव कस्ने वाले स्थान भिन्न हैं । सर्दी के परमाणुओ का तो दोनो स्थान पर समान प्रभाव होता है फिर भी समान स्पर्श का अनुभव नहीं होता है ।

स्पर्श का एक सापेक्ष प्रयोग जैसे—तीन बर्तनो मे तीन प्रकार का जल है १ बरफ का जल, २ साधारण जल और ३ गरम जल ले । गरम जल मे एक हाथ और बरफ के जल मे दूसरा हाथ डुबोकर फिर दोनो हाथ एक सग साधारण जल मे डुबोवे तो अनुभव होगा कि जल गरम है या ठडा ।

स्पर्श स्थान शीत और उष्ण है वैसे ही दु खद स्पर्श और सुखद स्पर्श की सवेदना, उत्तेजना और आवेगो का अनुभव प्रतीत होते हैं । जैसे मनोज्ञ पदार्थों के सयोग से सुखद और अमनोज्ञ पदार्थो के सयोग से दु.खद अनुभव होता है । भीतर किसी एक स्थान पर एकाग्र होने पर दु ख की सवेदना का अनुभव त्वरित होता है तो कभी सुख की सवेदना का अनुभव होता है । कभी दीर्घ काल तक मन का केन्द्रित होने से शरीर का हल्कापन या भारीपन का स्पर्श होता है । रागात्मक स्थिति मे स्निग्ध स्पर्श का और द्वेषात्मक स्थिति मे रूक्ष स्पर्श का अनुभव व्यवहार जगत मे और अध्यात्म जगत मे अनुभव के स्तर पर पाया गया है । यौगिक प्रक्रिया से स्थान परिवर्तन मे 'स्पर्श' विरोध रूप मे भी पाया जाता है जैसे—

उष्ण स्थान ⟶ उष्ण स्थानो के उत्तेजन से उष्णता का बोध होता है किन्तु शीतली प्राणायाम से उष्ण स्थानो मे शीत स्पर्श का अनुभव पाया गया है ।

शीत स्थान ⟶ शीत स्थान का स्पर्श शीत होता है किन्तु वज्रासन जैसे उष्णता का अनुभव पाया गया है ।

---

६ सरल मनोविज्ञान पृ ४८

दुःखद स्थान सुखद स्थान →	सुख और दु ख दोनो का मनोज्ञ-अमनोज्ञ बोध पाया जाता है। किन्तु ध्यान, एकाग्रता, समता समाधि आदि अवस्था के पश्चात् दोनो के अनुभवो मे परिवर्तन पाया जाता है।

स्पर्श का शब्द, रूप, रस और गन्ध से विशेष सम्बन्ध पाया जाता है। जैविक, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक इत्यादि परिस्थितियो पर विशेष रूप मे स्पर्श का प्रभाव पाया जाता है।

वैज्ञानिकों द्वारा ओरोटॉन मशीन से जो शब्द श्रवण किया जाता है उसे रूप (रग)के माध्यम से सुना जाता है।

रंगों का स्पर्श

सामान्य तौर पर रगो मे लाल रग, हरा और नीला रग प्रमुख रग माने जाते हैं। अन्य रग सम्मिश्रण से होते हैं और श्वेत वर्ण स्वाभाविक है जैसे—सूर्य के प्रकाश को त्रिकोण कॉच के टुकडे मे से देख सकते हो कि श्वेत प्रकाश रग-बिरगा दिखाई देता है।

रगो के स्पर्श से शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक और भावात्मक रूपान्तरण पाया जाता है। जैसे—लाल रग के प्रभाव से।

रंग—लाल (Red)

शारीरिक	शरीर मे शक्ति का सचार होना, मास-पेशियो मे सक्रियता आना, क्षार तत्त्वो की अल्पता होना, नाडियों को सशक्त बनाना रक्त कणो से लाभान्वित होना।
मानसिक	ज्ञानवाही नाडियो को प्रभावित करना, कामोत्तेजना का मन पर प्रभाव, विद्युत तत्त्व से मानसिक स्थिरता, आलस्य का प्रमाण विशेष।
आध्यात्मिक	प्रसन्नता, प्यार, अग्नितत्त्व की प्रधानता।
भावात्मक	अपने भाव के अनुरूप रग का प्रभाव जैसे क्रोध, मान प्यार, तिरस्कार, काम इत्यादि ---- (विशेष चार खरब साठ अरब वायु कपन प्रति सेकण्ड पर लाल रग का सवेदन आरम्भ होता है।)

रंग—हरा (Green)

शारीरिक	शारीरिक स्वस्थता मे लाभप्रद, मासपेशियो, हड्डियो तथा कोशिकाओ को सशक्त बनाने मे उपयोगी, ऑखो के लिए विशेष लाभदायक ।
मानसिक	तनावमुक्ति, पिट्यूटरी ग्लैण्ड की सक्रियता से क्रोध मुक्ति ।
आध्यात्मिक	सरल और शान्त प्रकृति फिर भी धैर्यता की कमी ईर्ष्या और द्वेष तत्त्व की प्रधानता ।
भावात्मक	भाव के अनुरूप रग का प्रभाव।

रंग-नीला— (Blue)

शारीरिक	रक्त विशुद्धि, वीर्य सवर्धन, लिवर फास्ट होने पर इस रग का प्रयोग लाभदायक, शीत, सकुचन आदि गुणो से युक्त किन्तु नाडीतन्त्र मे कुछ हानि ।
मानसिक	मानसिक शान्ति, विशुद्धि चक्र की सक्रियता, माया कपट से रहित । विनय गुण से युक्त ।
आध्यात्मिक	ध्यान, एकाग्रता, आसन की ओर विशेष झुकाव ।
भावनात्मक	भाव के अनुसार रग का प्रभाव—(विशेष-सात खरब तीस अरब प्रति सेकण्ड पर नीले रग का स्पर्श सवेदन होता है ।)

रंग-पीला— (Yellow)

ये रग लाल और हरे का मिश्रण है । दोनो रगो के गुण-दोष इसमे मिलते हैं । अत शारीरिक आदि प्रभाव दोनों के अनुरूप जानना । विशेष-बुद्धि प्रधान, उत्साह, साहस प्रसन्नता और आनन्द सूचक ये रग हैं ।

वैज्ञानिक हेरिंग के अनुसार रग तीन विभागो मे विभक्त हैं—१ लाल और हरा, २ पीला और नीला तथा ३ श्वेत और काला । प्रत्येक विभाग के दोनो रग एक दूसरे से प्रभावित हैं तथा उत्तेजना का प्रभाव समान रूप से ग्रहण करते हैं । इन छहों रगो का आहार, विहार, विचार और भाव से सम्बन्ध होता है ।

श्वेत वर्ण और काला वर्ण दोनो का स्वतन्त्र अस्तित्व होने पर भी श्वेत प्रकाश और काला अधकार के रूप मे दोनो की सवेदना मस्तिष्क मे सम रूप मे उत्तेजित होती है। किन्तु प्रभाव दोनो का भिन्न होता है जैसे श्वेत वर्ण हमारी आतरिक ऊर्जा को उजागर करने का सफल वर्ण है। मस्तिष्क मे, समूचे ज्ञानतन्तु का सवाहक करने वाला धूसर रग का एक दवित स्राव है। जैसे सुषुम्ना मे श्वेत रग का स्राव होता है तब सोयी हुई शक्ति जागृत होती है।

रंग-श्वेत (White)

शारीरिक	स्वास्थ्यदायक, ज्ञानतन्तु सक्रिय, तनावमुक्त अवस्था
मानसिक	वृत्तियो का रूपान्तरण, मूल स्वभाव मे स्थिरता, त्रियोग विशुद्धि, समभाव, शान्त प्रकृति ।
आध्यात्मिक	एक स्थान पर स्थिर होकर एकाग्रता धारण करना, चन्द्र जैसा श्वेत, मन्त्र-यन्त्र आदि को धारणा के रूप मे केन्द्रित करना इत्यादि । भावनात्मक—सतोगुण प्रधान त्याग, वैराग्य तथा क्षमा प्रधान ।
काला वर्ण	काला वर्ण अवशोषक होता है ।

नील वर्ण की अल्पता से—क्रोध की वृद्धि

नील वर्ण मे १० मिनट ध्यान करने से—क्षमा, शान्ति, समता का अनुभव।

लाल वर्ण की अल्पता से—आलस्य की वृद्धि

लाल वर्ण मे १० मिनट ध्यान करने से—स्फूर्ति, नियन्त्रण की शक्ति, आतरिक जागृति।

पीले वर्ण की अल्पता से—बौद्धिक हानि, ज्ञानतन्तु की मवता

पीले वर्ण मे १० मिनट ध्यान करने पर—बौद्धिक विकास, तैजस् बल, विद्युत ऊर्जा आदि।

काले वर्ण की अल्पता से—प्रतिरोधात्मक शक्ति कम होती है।

काले वर्ण मे १० मिनट ध्यान करने पर—बाह्य प्रभाव से पर होकर आतरिक शक्ति का संवर्धन होता है।

	वर्ण स्पर्श	ग्रह शान्ति
अरिहत का श्वेतवर्ण	ॐ ह्रीं श्रीं नमो अरिहताण	चन्द्र-शुक्र का स्पर्श
सिद्ध का रक्तवर्ण	ॐ ह्रीं श्रीं नमो सिद्धाणं	सूर्य मगल का स्पर्श
आचार्य का पीतवर्ण	ॐ ह्रीं श्रीं नमो आयरियाणं	गुरु का स्पर्श

उपाध्याय का हरा वर्ण	ॐ ह्री श्री नमो उवज्झायाण	बुध का स्पर्श
और साधु का कृष्ण वर्ण होता है	ॐ ह्री श्री नमो लोएसव्व साहुण	शनि-राहु-केतु का स्पर्श

शुभ लेश्या

तेजोलेश्या-पद्मलेश्या और शुक्ल लेश्या ये तीन शुभ लेश्या हैं। तीनो लेश्या के वर्ण, गध, रस और स्पर्श प्रशस्त हैं। तीनो लेश्या मे तेजोलेश्या रक्तवर्ण मे होने से तैजस् शरीर को उत्तेजित करने मे प्रवर्तमान होती है, पद्लेश्या के परमाणु से विषैले कीटाणु नष्ट होते हैं और अशान्त वृत्तियॉ क्रमश शान्त भाव मे परिणयन होती हैं। सर्व वृत्तियो का निरोध होते ही शुक्ललेश्या धर्म और शुक्लध्यान मे केन्द्रित होती है।

अशुभ लेश्या

कृष्ण, नील, कापोत ये तीन अशुभ लेश्या हैं। ये तीनो लेश्या के वर्ण, रस गध और स्पर्श अप्रशस्त हैं। तीनो लेश्या के कृष्णादि वर्ण अति तीव्र होते हैं। कलुसित भाव भी सदा विद्यमान रहते है फलत ईर्ष्या, वैर, विरोध, घृणा, भय छाया हुआ रहता है। आर्त और रौद्र ध्यान होने से अशान्ति बनी रहती है। क्रोध, भय, काम आदि की वृत्तियॉ नाभ के पास जो एड्रिनल ग्रथि है उससे उत्तेजित होती है, जब ऊर्जा नाभि के आसपास घूमती है तब तीनो वृत्तियॉ उत्तेजित हो उठती हैं और तीनो लेश्या से विशेष रूप मे वेष्ठित होती हैं। अत साधना के माध्यम से अशुभ लेश्या का शुभलेश्या मे रूपान्तरण होता है।

कोष्ठक नं. ५
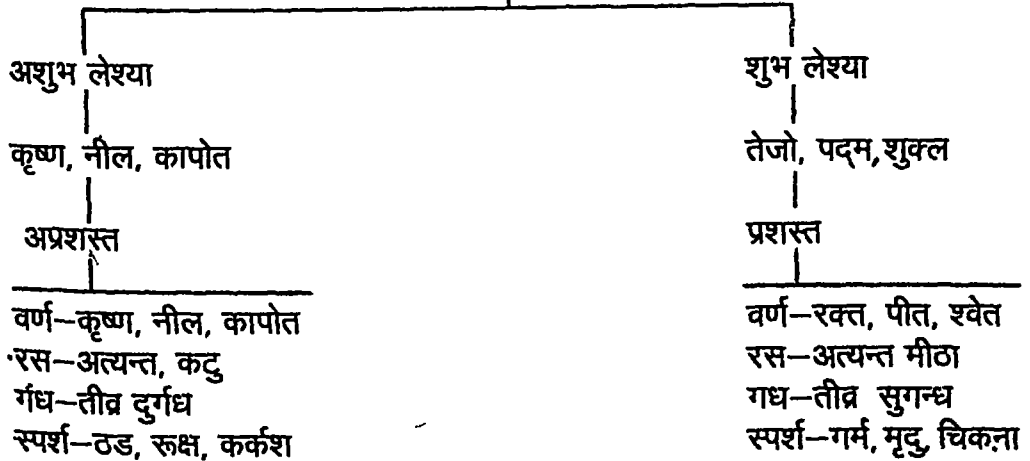
पहली तीन लेश्याओ मे अविवेक और अन्तिम तीन लेश्याओ मे विवेक रहा हुआ है। प्रथम लेश्या मे अविवेक और अन्तिम लेश्या मे विवेक पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ होता है। पहली तीन लेश्याओ मे विवेक की मात्रा उत्तरोत्तर घटती जाती है, जबकि अन्तिम तीन लेश्याओ में विवेक की मात्रा उत्तरोत्तर बढती जाती है। पहली तीन लेश्याओ मे निबिड पापरूप बन्धन क्रमश ज्यादा कम होता जाता है जबकि अन्तिम तीन लेश्याओ मे पुण्यरूप कर्म बन्ध की अभिवृद्धि होती जाती है तथा निर्जरा का तत्व उत्तरोत्तर बढता जाता है।

योग-लेश्या-निरोध

तेरहवे गुणस्थान के शेष अन्तर्मुहूर्त के प्रारम्भ मे योग का निरोध प्रारम्भ होता है। मनोयोग तथा वचनयोग का सम्पूर्ण निरोध हो जाता है तथा काययोग का अर्द्ध निरोध होता है। उस समय मे लेश्या का कितना निरोध या परित्याग होता है इसके सम्बन्ध मे कोई तथ्य या पाठ उपलब्ध नही हुआ है। अवशेष अर्द्ध काययोग का निरोध होकर जब जीव अयोगी हो जाता है तब वह अलेशी भी हो जाता है। अलेशी होने की क्रिया योग निरोध के प्रारम्भ होने के साथ-साथ होती है या अर्द्ध काययोग के निरोध के प्रारम्भ के साथ-साथ होती है – वह कहा नही जा सकता। लेकिन यह निश्चित है कि जो सयोगी है वह सलेशी है तथा जो अयोगी है वह अलेशी है। जो सलेशी है वह सयोगी है तथा जो अलेशी है वह अयोगी है। इस प्रकार योग और लेश्या का पारस्परिक सम्बन्ध है।

योग और लेश्या से प्राप्त लाभ –

शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक और भावात्मक-लाभ
भावों के अनुरूप लेश्या का रग
शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श का रूपान्तरण
रसास्वाद से हानि और रस विजय से लाभ
वर्ण ध्यान से वृत्तिसक्षय।

३. तनाव का मूल केन्द्र बन्ध हेतु का स्वरूप

योग और बन्ध

आगम के अनुसार योग और बन्ध का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जहाँ बन्ध होता है वहाँ योग का होना अनिवार्य है। सर्व प्रथमं आत्मा मे कर्मपुद्‌गल को ग्रहण करने का काम योग (मन, वचन और काया की क्रिया) का है जिसे जैन दर्शन आश्रव कहते है। आश्रव अर्थात् कर्म आने का स्थान।

जैसे—गरम लोहपिण्ड यदिं पानी मे डाला जाये तो वह चारो ओर से पानी को खींचता है उसी तरह कषाय से सतप्त जीव योग से लाये गये कर्मो को सब ओर से ग्रहण करता हैं।[१] इस प्रकार इन कर्म पुद्‌गलो को योग द्वारा आत्मा के साथ सयोजित करने का काम कर्म बन्ध का है।

कर्म रूप से परिणत होने वाले अणुओ का आत्मप्रदेशो के साथ सम्बन्ध होता है। सम्बन्धं तथा आत्मा की शुभाशुभ प्रत्येक प्रवृत्ति मे मन, वाणी और शरीर का किसी न किसी प्रकार से सम्बन्ध रहता है अत मानसिक, वाचिक और कायिक रूप योग व्यापार ही बन्ध कहलाता है।[२]

बंध व्युत्पत्ति

ससारी आत्मा सक्रिय है वह प्रतिक्षण कर्म बध से आबद्ध रहती हैं। इस दृष्टि से बन्ध शब्द की व्युत्पत्ति—बधन बॅध । जो बाधा जाता है उसे बध कहते हैं कषाय सहित होने से जीव जिन कर्मयोग पुद्‌गलो को ग्रहण करता है उसे बध कहा जाता है।[३]

बंध की परिभाषा

'बन्धो जीवस्य कर्म पुद्‌गल सश्लेष'[४] अर्थात् जीव का कर्म पुद्‌गलो के साथ

---

१. राजवर्तिक—६/२/४. ५/५०६

२ स्थानाग सूत्र—३ स्था की वृत्ति पृ ८

३ स्थानाग सूत्र-स्था सू ८ की वृत्ति पृ २५

४. समवायाग सूत्र-सम सूत्र १ की वृत्ति पृ ५

सयोग बध कहा जाता है। तत्वार्थसूत्र के शब्दो मे कषाय के सम्बन्ध मे जीव कर्म योग्य पुदगलो को ग्रहण करता है अत वह बध है। जैसे दीपशिखा तैल को ग्रहण करती है वैसे ही आत्म प्रदेशो के साथ पुद्गलो का होना बन्ध होता है जैसे–दूध और पानी, लोहा और अग्नि एक दूसरे मे मिश्रित हो जाते हैं।[५]

योग प्रवृत्ति के स्वभावानुसार कर्म प्रकृति का समूह एकत्र होता है और कषाय की तरलमता के अनुसार कर्म का अनुभाग तथा स्थितिबध होता है। इतना अवश्य समझना चाहिए कि जिन कारणो से आस्रव होता है उन्ही कारणो से बध भी होता है। अन्तर इतना ही है कि आस्रव द्वारा कर्म पुद्गलो की वर्गणा कर्मरूप मे ग्रहीत होती है और बन्ध द्वारा वे पुद्गल आत्म प्रदेशो से आबद्ध होते हैं।

बन्ध हेतु का स्वरूप

राजवर्तिक मे योग और कषाय को बन्ध हेतु का कारण माना है।

– आचार्य कुन्द। कुन्द ने बन्ध हेतु के विषय मे एक स्थान पर मिथ्यात्व अविरति, कषाय और योग को बन्ध हेतु कहा है।

– द्वितीय स्थान पर राग, द्वेष और मोह को बन्ध हेतु कहा है।

– तत्त्वार्थ सूत्र मे मिथ्यात्व आदि पॉच बन्ध हेतु माने हैं।

तत्त्वानुशासन मे रामसेनाचार्य ने मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इन तीन को बन्ध का हेतु माना है।[६] आचार्य हेमचन्द्राचार्य ने कषाय, विषय, योग प्रमाद, अविरति, मिथ्यात्व और आर्त रौद्र ध्यान इन अशुभ कर्मों को बन्ध हेतु माना है।[७]

इस प्रकार बन्ध हेतुओ की सख्या के विषय मे तीन परम्पराएँ देखने में आती हैं। प्रथम परम्परा मे कषाय और योग दो बन्ध हेतु हैं। द्वितीय परम्परा मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार बन्ध हेतुओ की हैं। तीसरी परम्परा उपर्युक्त चार और प्रमाद मिलाकर पॉच प्रकार की है।

मन, वचन और कायरूप योग से प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है और कषाय से स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध होता है। कर्म पुद्गल जब केवल योगनिमित्त से आत्मा मे आते हैं–तब से वहॉ स्थिति और अनुभाग रूप से परिणत होकर वहॉ रहते हैं–तथा

---

५ राजवर्तिक-१, ४, १७, २६, २९
६ तत्वानुशासन गा ८ पृ १५
७ योगशास्त्र-४१७८ पृ १३३

मन्द, तीव्र, तीव्रतर आदि रूप मे रस देने की योग्यता इनमे आती है वह कषाय के निमित्त से आती हैं।

सामान्यत बन्ध अनिवृत्तिकरण से लेकर सूक्ष्मसपराय गुणस्थान वाले जीवो की अपेक्षा से जानना चाहिए तथा जो विशेष रूप मे उपशान्त मोह, क्षीण मोह और सयोगि केवलियो को होता है वह योग प्रत्यय ही होता है। जैनागमो मे इसे ईर्यापथिक बन्ध कहा है।

बन्ध के प्रकार—

बन्ध के चार प्रकार है—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश। कर्म पुद्‌गल जीव द्वारा ग्रहण होते हैं और परिस्थिति के अनुसार कर्मरूप परिणाम को प्राप्त होते हैं। उसी समय उसमे चार प्रकार प्राप्त होते हैं। वे प्रकार ही बध के भेद कहे जाते है। जैसे गाय के द्वारा खाया हुआ घास दूध मे परिणत होता है तब उसमे मधुरता का स्वभाव निर्मित होता है। वह स्वभाव कुछ समय तक उसी रूप को धारण कर सके वैसी काल मर्यादा उसमे निर्मित होती है। इस मधुरता मे तीव्रता, मदता आदि विशेषताएँ होती हैं और इस दूध का पौद्‌गलिक परिणाम भी साथ ही बनता है। ठीक उसी प्रकार जीव द्वारा प्राप्त हुए कर्म पुद्‌गलों मे भी चार प्रकारो का निर्माण होता है। वे चार प्रकार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एव प्रदेश बध हैं।[८]

योग और बन्ध से प्राप्त हानि

दु ख प्राप्ति रूप शारीरिक वेदना,
सक्लेश भाव से मानसिक हानि,
ईर्ष्या, अहं, वैर से प्रतिपक्ष की भावना,
विषम भाव मे निरन्तर रहना,

---

८. कर्मग्रन्थ भा १ गा २

४. काम - वासना की मुक्ति का परम उपाय – ब्रह्मचर्य

योग और ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य का अर्थ मैथुन-निवृत्ति तो है ही, किन्तु उसका व्यापक अर्थ है इन्द्रिय और मन का निग्रह करना। जहॉ भी इच्छाओ का निरोध होता है वहॉ (**इच्छानिरोधो तवो**) तप कहा जाता है। ब्रह्मचर्य सभी तपो मे उत्तम तप माना गया है। इसी तप के द्वारा शरीर बल, मनोबल और आत्मबल की वृद्धि होती है। कामाग्नि मे जलते हुए कामी की कामना इसी तप से निर्जरित होती है।

सम्पूर्ण दु.ख का मूल स्रोत काम-वासना है। कामे कमाही, कामियं खु दुक्खं[1]—दु ख से मुक्त होने का उपाय ब्रह्मयोग है। मन, वचन, और काया के शुभ योग से चिरपुरातन और समय-समय पर होने वाले नूतन कर्म अनेक आत्मा मे ऐसी गहरी जड जमाए होते हैं कि उनका उन्मूलन करने के लिए जन्म-जन्मातर में साधना करनी पडती है। अनुराम-विराग जैसी साधारण मनोवृत्तियॉ राग और द्वेष के बीज अकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित करती रहती हैं।

ब्रह्मचर्य किसे कहते हैं ?

"सूत्रकृताग" की आचार्यशीलाक कृत सस्कृत टीका मे सत्य, तप, दया, इन्द्रियनिरोध रूप ब्रह्म की चर्या-शुद्ध अनुष्ठान मे केन्द्रित होना ब्रह्मचर्य कहा है।

उमास्वाति के "तत्त्वार्थ सूत्र" ९-६ के भाष्य मे गुरुकुल वास को ब्रह्मचर्य कहा है।

अणगार धर्मामृत मे पर द्रव्य से रहित विशुद्ध आत्मा मे जो लीनता होती है, उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं।[2] भगवती आराधना के अनुसार जीव ब्रह्म है और शरीर सेवा से विरक्त होकर जीव मे ही जो चर्या होती है उसे ब्रह्मचर्य कहा है[3] पद्मनदि पचविशिका के अनुसार ब्रह्म शब्द का अर्थ निर्मल ज्ञान स्वरूप आत्मा और उसमे लीन होना ब्रह्मचर्य है।

---

१ दश अ २ गा ५
२ अणगार धर्मामृत ४/६०
३ भगवती आराधना ८७८

शुभयोग को ब्रह्मविद्या कहते हैं अत इसी हेतु साधना के क्षेत्र मे जो स्थान शुभ योग का है, वही स्थान ब्रह्मचर्य का भी है। शुभ योग ब्रह्मचर्य का पूरक है और ब्रह्मचर्य शुभयोग का पूरक है। जहाँ शुभ योग होता है वहाँ ब्रह्मचर्य अवश्य रहता है और जहाँ ब्रह्मचर्य की साधना होती है वहाँ शुभ योग अवश्य होता है।

ब्रह्मचर्य शब्द मे दो शब्द है—ब्रह्म और चर्य। इसका अर्थ है—ब्रह्म मे चर्या। ब्रह्म का अर्थ है आत्मा का शुद्ध-भाव और चर्या का अभिप्राय है विचरण करना, रमण करना।

ब्रह्मचर्य का महत्त्व

योग-साधना मे विशेष रूप से ब्रह्मचर्य की साधना को महत्त्व दिया गया है। भगवान महावीर ने अपने आचार-योग की आधारशिला रूप पच महाव्रतो मे ब्रह्मचर्य को भी साधु के लिए महाव्रत और गृहस्थ के लिए अणुव्रत के रूप मे स्वीकार किया है। पतजलि ने योग दर्शन मे ५ यमो मे ब्रह्मचर्य को भी एक यम माना है। बुद्ध ने भी अपने पचशीलों मे ब्रहमचर्य को एक शील माना है। इस पर से यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मचर्य की साधना बहुव्यापी एव विस्तृत साधना है। जो साधक योग की साधना करना चाहते हैं और उसके फल की उपलब्धि करना चाहते हैं, उन्हे सबसे पहले ब्रह्मचर्य की साधना की ओर विशेष लक्ष्य देना पडता है। योग साधना मे वासना, कामना, तृष्णा और आसक्ति बाधक तत्व हैं।

योग और ब्रह्मचर्य से लाभ

इन्द्रिय और मन का निग्रह,
दु ख मुक्ति का परम उपाय-ब्रह्मयोग
वीर्य ऊर्ध्वीकरण की साधना
आत्मा का विशुद्ध स्वरूप-आत्म-रमणता
जड-चेतन का भेद ज्ञान।

५. शुभ योग का अंतिम बिन्दु-निष्पत्ति और फलश्रुति

योग और समाधि

शुभ योग के आलबन से साधक प्रथम चिन्तन मे फिर ध्यान मे और अन्त मे समाधि मे सलीन होता है। शुभ योग समाधि की पूर्व भूमिका है और समाधि शुभ योग का अतिम स्वरूप है, अत शुभ योग की सलग्नता से जो समरसता रूप निष्पत्ति या फलश्रुति प्राप्त होती है, वह समाधि है।

समाधि शब्दार्थ

योग अर्थ मे समाधि अतर्निहित है। तत्त्वार्थ राजवार्तिक मे योग शब्द का अर्थ समाधि और ध्यान दोनो किया गया है।[१] "पद्मनन्दि पचविशतिका मे समाधि के अर्थ मे साम्य, स्वास्थ्य, योग चित्त निरोध और शुद्धोपयोग इत्यादि शब्दो का प्रयोग मिलता है।[२]

ध्यान जब ध्येय के आवेश के प्रभाव से ध्यानभाव, ध्येय भाव और ध्यातृभाव दृष्टि से शून्य हो जाता है—केवल प्रशस्त ध्येयाकार को धारण करता है, तब उसे समाधि कहते हैं।[३] जैन योग मे समाधि का स्थान शुक्लध्यान की प्रारम्भावस्था है। वास्तव मे ध्यान, योग का अपर नाम ही समाधि है और उसकी उत्कृष्टता शुक्लध्यान मे है। शुक्लध्यान के चार चरणो मे से पूर्व के दो चरण समाधि अवस्था मे होते हैं। शुक्लध्यान के अंतिम दो चरण चौदहवे गुणस्थान मे अयोगी अवस्था मे होते है, यह शुक्लध्यान की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। ऐसी अवस्था मे समाधि की आवश्यकता ही

---

१ युजे समाधिवचनस्य योग समाधि ध्यानमित्यनर्थान्तरम्।
राजवार्तिक ६/१/१२/५०५/२७

२ साम्य स्वास्थ्य समाधिश्च योगश्चेतो निरोधनम्।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थ वाचका
पद्मनन्दिपचविशतिका अधिकार-४-श्लो ६४

३ तदेव ध्यान यदा ध्येयावेशवशाद ध्यान-ध्येय-ध्यातृ भाव दृष्टि शून्य सद्ध्येयमात्राकार भवति, तदासमाधि रुच्यते।
योगसार सग्रह-२ अश पृ. ४६

नही रहती। अतिम दो चरणो के पूर्व मे समाधि का उल्लेख जैनागमो मे पर्याप्त मात्रा मे पाया जाता है और समाधि के लिए उपयुक्त स्थानो का भी अनेक स्थान पर वर्णन मिलता है किन्तु समाधि शब्द से सभी स्थान पर ध्यानविशेष ही ग्रहण हुआ है।

समाधि की परिभाषा

शीलाकाचार्य की भाषा मे समाधि अर्थ मे तीन परिभाषा उपलब्ध होती हैं।

१ समाधि इन्द्रिय प्राणिधानम।[४]

२ समाधि सन्मार्गनिष्ठानरूपम्।[५]

३ मोक्ष तन्मार्ग वा प्राप्ति येनात्मा धर्मध्यानात् सा समाधि।[६]

तीनो परिभाषा सापेक्ष हैं।

शब्द रूप, रस, गध, स्पर्श आदि विषय-वासनाओ का उदात्तीकरण इन्द्रिय प्राणिधान है। हमारी विषय-वासना वृत्तियो का क्षयोपक्षम (सब्लीमेशन) होता है, और क्षय (ट्रान्सफोरमेशन) होता है। उससे भी आगे आवेगो का समाप्तिकरण भी होता है। जब आवेगो का सवेग और निर्वेद मे रूपान्तरण होता है तब समाधि का प्रथम चरण प्रारम्भ हो जाता है।

द्वितीय परिभाषा मे सन्मार्गानुष्ठान से सम्यक् अनुष्ठान या सम्यक् आचार को समाधि माना है। भौतिक जीवन मूर्च्छामय प्रगाढ तिमिरमय होता है। उस तिमिर मे ज्योति लाने का कार्य सन्मार्गानुष्ठान से प्रारम्भ होता है और समाधि मे अन्त होता है। राग और द्वेष की तीव्र ग्रन्थि का ह्रास होने पर सम्यक् क्रान्ति होती है वही क्रान्ति समाधि मे प्रकाश लाती है।

तृतीय परिभाषा धर्मध्यान और धर्मध्यान से मोक्ष प्राप्ति के रूप मे मिलती है।

आध्यात्मिक चेतना के अतरग भाव से साधक अनुकूल-प्रतिकूल, मनोज्ञ-अमनोज्ञ आवेगो का उपशम क्षयोपशम और क्षय करने मे समर्थ होता है। यह समाधि की ऐसी भूमिका है इसमे साधक धर्मध्यान से शुक्लध्यान और शुक्लध्यान से पुन धर्मध्यान की स्पर्शना करता रहता है। साधक धर्मध्यान से समाधि मे स्थिर होता है किन्तु अधिक समय टिकता नही है अत पुन समाधि से धर्मध्यान मे आता-जाता रहता है, इस प्रकार समाधि से अतिम ध्येय मोक्ष तक पहुँच जाता है।

---

४ आचाराग—श्रु. १ अ ६ उ ४ सू १८५ की टीका

५ सूत्रकृताग—श्रु. १, अ १४ की टीका पृ १९७

६ सूत्रकृताग—टीका अ १०

शुभयोग का चरम ध्येय मुक्ति की प्राप्ति है। कार्य सिद्धि शुभ योग के आलम्बन से ही होती है अत साधक की कार्यसिद्धि की सम्पूर्ण प्रवृत्ति समाधि कही जा सकती है। इस प्रकार सामान्यत समाधि की अवस्था चतुर्थ गुणस्थान से चतुर्दश गुणस्थान तक कही जा सकती है।

आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार समाधि का स्वरूप द्रव्य और भाव उभय स्वरूप मे है। **"सामाधानं समाधि"** ।[७] जिस वस्तु से मन, वचन और काया को समाधान मिलता हो वह समाधि है। वस्तुत किसी भी पदार्थ को प्राप्त कर जीवन मे जो शाति और आनन्द प्राप्त होता है, उसे समाधि कहा जाता है। ऐसी समाधि को द्रव्य समाधि कहते हैं।[८]

भाव समाधि योग दृष्टियो मे आठवी "परादृष्टि" मे प्राप्त होती हैं। इस दृष्टि तक पहुँचा हुआ साधक समाधिनिष्ठ हो जाता है।[९] यह ऐसी अवस्था है जहॉ साधक असग अर्थात् शरीर से भी पर हो जाता है। परादृष्टि समाधि की चरमावस्था है उसे आत्म-समाधि कहते है। जो सद्ध्यान रूप होने से निर्विकल्प होती है, अत यहॉ पर ध्याता-ध्यान का भेद समाप्त हो जाता है और अभेद स्वरूप होकर वह उस त्रिपुटी मे लय को प्राप्त करता है।[१०]

अभयदेव सूरि ने समाधि को तीन स्वरूप मे प्रयुक्त किया है –

१ सम्यक मोक्ष मार्ग की स्थिरता[११]
२ चित्त की प्रशमवाहिता[१२]
३ तथा श्रुत और चारित्र की विशुद्धता[१३]

इन परिभाषा मे स्थिरता, प्रशमवाहिता और विशुद्धि के स्वरूप से समाधि स्वाभाविकता और सरलता का समाधान मिलता है।

आचार्य मलयगिरि ने चित्त की स्वस्थता को समाधि कहा है।[१४] चित्त की स्वस्थ होने पर ही मन एकाग्र होता है और काया स्थिर होती है।

---

७ ललित विस्तरा–पृ ३५५
८. आवश्यक सूत्र–अ २
९. योगदृष्टि समुच्चय श्लो १७६
१०. श्री देवचन्द्रजी चौविशी
११. सम्यग्मोक्षमार्गावस्थाने–समवायाग सूत्र–स्म २० की टीका
१२. प्रशमवाहितायाम्ज्ञानादौ च–स्थानाग सूत्र–स्था ४ उ १ की टीका
१३. समाधि श्रुत चारित्र च–स्थानाग सूत्र स्था ६ उ १ की टीका
१४ आवश्यक सूत्र मलयगिरि टीका अ २

हेमचन्द्राचार्य ने कायोत्सर्ग को ही समाधि कहा है।

उपाध्याय यशोविजयजी ने एकाग्र और निरुद्ध चित्त को समाधि कहा है।[१५]

आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार मे वीतराग भाव मे भावित आत्मा परम समाधि को पाता है ऐसा बताया है।[१६]

योगीन्दु देव ने समस्त विकल्पो का विलय होने को परम समाधि कहा है परमसमाधि मे स्थित साधक शुभ या अशुभ सभी प्रकार के विकल्पो से विमुक्त होता है।[१७]

आचार्य जिनसेन के शब्दो मे चित्त जब उत्तम परिणामो मे स्थित होता है तब यथार्थ समाधान होता है, इस समाधान को ही समाधि कहा है।[१८]

रामसेनाचार्य ने समरसीभाव को समाधि कहा है[१९] जिसमे ध्याता ध्येय मे लीन हो जाता है। इस तद्रूप क्रिया को समाधि कहते हैं।

पूज्यपाद स्वामी के अनुसार चैतन्य स्वरूप मे एकाग्र होना योग समाधि है।[२०]

इस प्रकार निरवद्य क्रिया के समस्त अनुष्ठान को योग कहते है। जो समाधि और सम्यक् प्रणिधान अर्थ मे प्रयुक्त है।[२१]

समाधि के प्रकार

सामान्य रूप से समाधि दो प्रकार की है—१ द्रव्य समाधि, २ भाव समाधि।

१. द्रव्य समाधि—द्रव्यमेव समाधि द्रव्य समाधि जिस द्रव्य से समाधि प्राप्त होती है, उसे द्रव्य समाधि कहते हैं। जैसे व्यक्ति, परिस्थिति, पदार्थ अवस्था आदि के सयोग से होने वाली शाति, आनन्द, प्रसन्नता इत्यादि। अर्थात् जो भी द्रव्य सयोग से समाधान मिलता है, वह द्रव्य समाधि है।

२. भाव समाधि—जिस भाव मे साधक, सम्यक् चारित्र मे स्थित होता है, वह भाव समाधि है।

---

१५ एकाग्रे निरुद्धे चित्ते समाधिरति—द्वा ११ द्वा

१६ नि सा/मू १२२

१७ परमात्म प्रकाश—२/१९०

१८ महापुराण सर्ग—२१ श्लो २२६

१९ तत्त्वानुशासन गा १३७

२० समाधितन्त्र—गा १७ की टीका पृ ३२

२१. एकाग्रे निरुद्धे चित्ते समाधिरति—द्वा ११ द्वा

भाव समाधि सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के भेद से चार प्रकार की है।

दर्शन समाधि मे साधक आत्म-साक्षात्कार मे सलग्न रहता है।

ज्ञान समाधि मे साधक आत्मा को जानता है। और–

चारित्र समाधि मे स्थित साधक परमात्मा की आज्ञा मे स्थिर रहता हुआ आराधना मे सलग्न रहता है।

तप समाधि मे स्थित साधक क्षुधा परिषह जयी और ग्लानि रहित ज्ञान ध्यान से स्वात्मा में संलीन रहता है।

समाधि के और भी दो प्रकार हैं–सविकल्प और निर्विकल्प।

सविकल्प समाधि–सविकल्प समाधि मे साधक मन को विशिष्ट ध्येयतत्त्व पर एव मन्त्र पर स्थिर करता है तथा शुभ सकल्प करता है कि मेरे चतुर्गति के दुखो का क्षय हो, अष्ट कर्मों का नाश हो, बोधिलाभ की प्राप्ति हो, समाधिमरण हो, जिनेश्वर भगवन्त की भक्ति-गुणानुरागी हो।

वैज्ञानिको के अनुसार समाधि अल्फा तरगो का एक रूप है। अल्फातरगो के सवर्धन से आनन्द की उपलब्धि होती है। आनन्द के अवसर मे व्हाइट सैल्स रेड सैल्स के रूप मे रूपान्तरित होते हैं। इसलिए, प्रसन्नता मे जितने रेड सैल्स बढ़ते हैं उससे अधिक मा के वात्सस्य मे बढते हैं, उससे अधिक गुरुवर्यों के आशीर्वाद से बढते हैं, उससे अधिक परमात्मा के अनुग्रह से प्राप्त समाधि मे स्थित होने से बढते हैं।

हठयोग मे शारीरिक श्वास, प्राणायाम आदि को समाधि कहा है।

भक्तियोग मे परमात्मा की भक्ति मे सलग्न रहना ही समाधि मानी है।

राजयोग मे चित्तवृत्ति निरोध को समाधि कहा है।

किन्तु ज्ञानी महापुरुषो ने सच्चिदानन्दमय आत्मस्वरूप मे सलग्न रहने वाले साधक की समाधि को मान्य किया है। ऐसी समाधि सविकल्प समाधि है।

निर्विकल्प समाधि–सविकल्प समाधि का परिपूर्ण अभ्यास होने पर ही निर्विकल्प समाधि मे प्रवेश हो सकता है। सविकल्प ध्यान से ही निर्विकल्प समाधि पर पहुँचा जा सकता है, अत सविकल्प समाधि के बिना निर्विकल्प समाधि असभव है।

निर्विकल्प समाधि मे समस्त विकल्प विलीन हो जाते है। अत निर्विकल्प दशा मे साधक ज्ञाता-दृष्टा रूप स्वात्मा मे सलग्न रहता है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य का आस्वादन करता है। क्रमश गुण श्रेणी

पर आरूढ होता है तथा मन, वचन, काया का निरोध होने से शैलेशीकरण की अवस्था मे स्थित होता है ।

परम समाधि—निर्विकल्प समाधि मे स्थित साधक परम समाधि को प्राप्त करता है। निर्विकल्प दशा चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ होकर तेरह-चौदहवे गुणस्थान मे पूर्ण होती है। तेरहवे गुणस्थान मे स्थित साधक पूर्व कोटी तक परम समाधि मे स्थित रहता है।

सयम, नियम और तप तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान जो आत्मा ध्याता है, उसे परम समाधि कहते हैं ।

वीतराग भाव से युक्त निर्विकल्प समाधि कैवल्यज्ञान का बीज है।

परम समाधि से अज, अविनाशी, अजर, अमर, निराबाध, निरजन, निराकार, परम, अरूपी, चैतन्य स्वरूप की रमणता होती है। साक्षात्कार के अनन्तर सालबन ध्यान की अपेक्षा निरालबन ध्यान मे विशेष अनुभव होता है। यह आत्मा की सहज दशा है । आलबन समाधि की अपेक्षा निरालबन समाधि मे अनत गुण उत्तमता, अनन्तगुण कर्म निर्जरा एव अनन्तगुण शक्ति की प्रभुता प्राप्त होती है।

जैनागमो मे सिद्धावस्था प्राप्त होने से पूर्व चौदहवे गुणस्थान मे अयोगी अवस्था होती है। यह अवस्था शुक्लध्यान की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। इस अवस्था मे समाधि की आवश्यकता ही नही रहती। महर्षि पतञ्जलि ने योगागरूप से जिस समाधि का उल्लेख किया है वह तो जैन दर्शन के अनुसार शुक्लध्यान के आरम्भ से ही प्राप्त हो जाती हैं। और ध्यान तथा समाधि मे जो अन्तर बतलाया है वह भी शुक्ल ध्यान के प्रथम और दूसरे चरण मे ही अन्तर्निहित हो जाता है। अत महर्षि पतञ्जलि का समाधियोग शुक्लध्यान का ही दूसरा नाम है। सप्रज्ञात-समाधि प्रथम शुक्लध्यान का प्राय रूपान्तर ही है और द्वितीय भेद शुक्लध्यान मे असम्प्रज्ञात-समाधि का अन्तर्भाव हो जाता है।

अत मोक्ष का उपायभूत धर्म व्यापार जो कि योग के नाम से प्रसिद्ध है वह मुख्यतया शुक्लध्यान ही है और महर्षि पतञ्जलि की योग की चित्तवृत्तिनिरोध व्याख्या भी इसमे सम्यग्रूप से सघटित होती है तथा अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश भी इसके द्वारा भलीभाँति सम्पादित होता है। एव योग के यम-नियमादि अन्य साधनो की सफलता भी इसी मे पर्यवसित होती है। इसलिये शुक्लध्यान ही परमोत्तम समाधि योग है।

योग और समाधि से लाभ

समत्व की साधना, एकत्वभाव की आराधना
अनासक्त, अप्रमत्त और वैराग्य की प्राप्ति
सवेदन नियन्त्रण
जागृत अवस्था

६. वृत्तियों के निरोध का सृजन उपाय और अनुभूति रूप आनन्द

बाह्य और आंतरिक भावना

आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध जोडने वाली जो भी प्रक्रिया है, उसे योग कहा जाता है। अपने आपको सम्पूर्ण रूप मे जान लेना परमात्मा को जानना है। स्वानुभूति ही स्वत का आनन्द है। दु खो की निवृत्ति आनन्द का सृजन है और चित्त की एकाग्रता आनन्द का उपाय है।

योग के आठ अगो के अनुष्ठान से चित्तगत अशुद्धि की विशुद्धि होने पर स्वानुभव मे सलग्न साधक को सम्य ज्ञानादि का आविर्भाव होता है। वे आठो अग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के नाम से प्रसिद्ध हैं।[१]

इनमे से प्रथम के पॉच अग बहिरग साधन कहे जाते हैं और अत के तीन अग अतरग साधन माने जाते हैं, क्योकि प्रथम के पॉच अग चित्तगत मलादि दोषो को दूर करने मे अपना विशेष स्थान रखते हैं, जबकि अन्त के तीन सम्यग्ज्ञानादि के उदय मे विशेष उपयोगी होते हैं। इन आठ अगो का स्वरूप, सम्यग्, अनुष्ठान और फलश्रुति जैन दर्शन मे निम्न प्रकार से प्राप्त होते हैं। जैन दर्शन मे वे आठो अग - महाव्रत, योगसग्रह, काया क्लेश, भाव प्राणायाम, प्रति सलीनता, धारणा, ध्यान और समाधि के नाम से प्रसिद्ध है।

१ महाव्रत (यम)

जैनागमो मे अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये सज्ञा अणुव्रत और महाव्रत शब्दो मे प्रसिद्ध हैं। वैसे ही योगदर्शन मे यम और बोद्ध दर्शन मे शील

---

१ पातञ्जल योगदर्शन मे योग के आठ अग का विस्तृत षर्णन है वही योग जैनागमो में अन्य नामो से प्राचीन युग से प्राप्त है –

पातजल योग	जैन योग
१ यम	१ महाव्रत
२ नियम	२ योग सग्रह
३ आसन	३ काय क्लेश
४ प्राणायाम	४ भाव प्राणायाभ
५ प्रत्याहार	५ प्रतिसलीनता
६ धारणा	६ धारणा
७ ध्यान	७ ध्यान
८ समाधि	८ समाधि

अर्थ मे प्रसिद्ध हैं । जैनागमो मे और पातञ्जल योगदर्शन मे इस विषय मे कुछ विभिन्नता भी प्रतीत होती है। महर्षि पतञ्जलि ने इनका विधि रूप मे प्रतिपादन किया है और आगम मे इसका निषेध रूप मे विधान किया है । जैसे—हिंसा से निवृत्ति, मृषावाद का त्याग इत्यादि ।

इस प्रकार हिसा, चोरी, मैथुन और परिग्रह का—मन, वचन, काया से परित्याग करना, उससे निवृत्त होना व्रत है। निवृत्ति और प्रवृत्ति व्रत के ये दो पहलू हैं। सत्कार्य मे प्रवृत्त होने के लिए सर्वप्रथम साध्य है, असत्कार्यो से निवृत्त होना । इसी प्रकार असत्कार्यों से निवृत्त होने के लिए आवश्यक है उसके विरोधी सत्कार्यो मे मन, वचन, काय आदि की प्रवृत्ति करना । ये दोनो प्रवृत्तियॉ स्वत प्राप्त है ।

त्याग अर्थात् दोषो से निवृत्त होना। प्रत्येक आत्मा अपनी योग्यतानुसार ही त्याग अपना सकते हैं। एतदर्थ यहाँ हिसादि दोषो की अल्प और विशेष सभी निवृत्तियो को व्रत मानकर उनके सक्षेप मे दो भेद किये गये हैं जैसे— अल्प अश मे विरति वह अणुव्रत और सर्वांश विरति वह महाव्रत है ।[२]

स्थानाग सूत्र मे हिसा की निवृत्ति के विषय मे **"सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमण"** शब्द का प्रयोग भी मिलता है ।[३]

२ योगसंग्रह (नियम)

ऊपर महाव्रतो मे बताया है कि पाचो व्रतो का मन, वचन और काया से परित्याग करना व्रत है। इन्ही व्रतो का परित्याग जब तक नही होता है तब तक योग का सग्रह माना जाता है। सग्रह सका निग्रह करना है , इसलिए प्राचीन युग मे द्वितीय योग अग का नाम योग सग्रह रखा गया है, जो आज के युग मे नियम के रूप मे प्रचलित हैं।

नियम अर्थात् इच्छाओ पर विजय ।

णियमेण य जं कज्ज तण्णियम— अर्थात् जो करने योग्य हो, ऐसा नियम ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के लिये होता है । नियम द्वारा रागादि भावो का निवारण[४] और भोगोपभोग तथा कालादि की मर्यादा होती है जैसे—भोजन, सवारी, शयन, स्नान, कुकुमादिलेपन, पुष्पमाला, ताम्बूल, वस्त्र, अलकार, कामभोग, सगीत

---

२ तत्त्वार्थसूत्र—७/२

३ स्थानागसूत्र—स्था ५ उ १, पृ ३

४. नियमसार—३/१२०

और गीत इन विषयो मे—आज, एक दिन, एक रात, एकपक्ष, एकमास, दोमास, छहमास इस प्रकार काल के विभाग से त्याग करना भी नियम कहा जाता है।[५]

श्रावको के लिये भी अनेक नियम रखे गये है जैसे—मधु, मद्य, मास, जुआ, रात्रिभोजन, वेश्यासमागमन इत्यादि का नियम आवश्यक रूप से होता है।

नियम शब्द का एक अर्थ रक्षण भी होता है।

जैनधर्म निवृत्तिप्रधान है, अत यम और नियम का अर्थ भी निवृत्तिपरक ही होगा। अतएव विभाव परिणति से हटकर स्वभाव की ओर रुचि होना ही यम और नियम है। यम अर्थात् , सयम, सयम के प्रधान दो भेद है—प्राणिसयम और इन्द्रियसयम। समस्त प्राणियो की रक्षा करना, मन, वचन, काय से किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना तथा मन मे राग-द्वेष की भावना न उत्पन्न होने देना प्राणिसयम है और पचेन्द्रियो (पॉचो इन्द्रियो) पर नियन्त्रण करना इन्द्रियसयम है। पॉचो व्रतो का धारण, पॉचो समितियो का पालन, चारो कषायो का निग्रह, तीन दण्डो-मन, वचन, काय की विपरीत परिणति का त्याग और पॉचो इन्द्रियो को विजय करना ये सब सयम के अग है। जैन यम नियमो का विधान राग-द्वेषमयी प्रवृत्ति को वश मे करने के लिए ही किया गया है। अत नियम को प्राचीन युग मे योग सग्रह कहा जाता था।

३. कायाक्लेश (आसन)

योग का तीसरा अग कायाक्लेश है। परिहार विशुद्ध चारित्र मे प्रवृत्त होने वाले साधक को ध्यान के लिये कायाक्लेश की नितान्त आवश्यकता है। जैनागमो मे छ प्रकार के बाह्य तप मे पॉचवे कायक्लेश नामक तपोभेद मे योग के इस तीसरे आसन अग का भलीभॉति वर्णन किया गया है और उसमे अनेक प्रकार के आसनो का नाम निर्देश किया है।

स्थानाग सूत्र मे सात प्रकार का कयक्लेश रूप आसन योग का निरूपण प्राप्त होता है जैसे—

सत्तविहे कायकिलेसे पण्णत्ते त जहा-
ठाणाइए, उक्कुडुयासणिए, पडिमट्ठाइ, वीरामणिए
णेसणिज्जे, दडाइए, लगडसाई।[६]

कायक्लेश सात प्रकार का बताया है—कायोत्सर्ग करना, उत्कटूक आसन से

---

५ रत्नकरड श्रावकाचार-८७-८८-८९
६ स्थानाग ७ / सूत्र ५५४

ध्यान करना, पडिमा धारण करना, वीरासन करना, निपद्या स्वाध्याय आदि के लिए पालथी मार कर बैठना, दडवत होकर खडे रहना, लगड-लकडी की भाति खडे रहकर ध्यान करना ।

उववाई सूत्र[७] मे इन्ही भेदो को विस्तार के साथ बताकर चौदह भेद कर दिये गये हैं—जो इस प्रकार हैं—

१ ठाणट्ठिइए—कायोत्सर्ग करे ।
२ ठाणाइए—एक स्थान पर स्थित रहे ।
३ उक्कुडु आसणिए—उत्कुटुक आसन से रहे ।
४ पडिमट्ठाई—प्रतिमा धारण करे ।
५ वीरासणिए—वीरासन करे ।
६ नेसिज्जे—पालथी लगाकर स्थिर बैठे ।
७ दडाइए—दडे की भॉति सीधा सोया या बैठा रहे ।
८ लगडसाई—(लगण्डशायी) लक्कड (वक्रकाष्ठ) की तरह सोता रहे ।
९ आयावए—आतापना लेवे ।
१० अवाउडए—वस्त्र आदि का त्याग करे ।
११ अकडुयाए—शरीर पर खुजली न करे ।
१२ अणिट्ठुहए—थूक भी नही थूके ।
१३ सव्वगायपरिकम्मे—सर्व शरीर की देखभाल (परिकर्म) से रहित रहे ।
१४ विभूसाविप्पमुक्के—विभूषा से रहित रहे ।

कायक्लेश रूप आसन सिद्धि मे सर्वप्रथम कायोत्सर्ग की साधना पर बल दिया है ।

इन आसनो के अभ्यास से चित्त अपनी स्वाभाविक चचलता का परित्याग करके एकाग्रता की ओर अग्रसर होता है । परन्तु इतना स्मरण रहे कि ध्यान मे प्रवृत्त होने वाले साधक को जिस आसन से किसी प्रकार की व्यग्रता न हो और मन की शान्ति बनी रहे वही आसन उसके लिए उपयोगी है ।

जैन योग मे आसनो की साधना का प्रयोग कायक्लेश तप मे माना गया है, कायाक्लेश तप से शारीरिक कष्ट की अपेक्षा सहिष्णुता, स्थिरता एव दृढता का सवर्धन होता है । हठयोग की सात भूमिकाओ मे शरीर को स्थिरता एव दृढता प्रदान करने के लिए आसन एव मुद्राओ का अभ्यास बताया गया है । विविध आसन आदि के

---

७ उववाई समवसरण अधिकार तप वर्णन

द्वारा शरीर को दृढ बनाना और फिर खेचरी आदि मुद्राओ के द्वारा उसकी चचलता को कम कर स्थिरता का अभ्यास करना यह हठयोग की दो मुख्य भूमिकाएँ है ।

आसन साधना से शरीर को सुदृढ बनाना, मुद्राओ द्वारा स्थिरता का अभ्यास करना, प्रत्याहार द्वारा इन्द्रिय निग्रह करना, प्राणायाम द्वारा श्वास प्रक्रिया पर अधिकार जमाना इत्यादि का प्रयोग ध्यान और समाधि के अभ्यास काल मे अनिवार्य हैं। अत साधको के लिए अधिक आसान प्रयोग अनुपयुक्त माना है। उन्होने आसन बहुत कम बताये है और जो है वह सिर्फ साधना के उपयोग में आने वाले है ।

आगमो मे जिन आसनो की अधिक चर्चा आती है वे आसन इस प्रकार है ।

ठाणट्ठिइए-कायोत्सर्ग

काय +उत्सर्ग इन दो शब्दो के सयोग से कायोत्सर्ग बना है । काय-शरीर, उत्सर्ग-विसर्जन, त्याग, विवेक इत्यादि--

कायोत्सर्ग बाह्य और आभ्यतर दोनो प्रकार से होता है ।

बाह्य--शारीरिक तनाव से मुक्ति,

आभ्यतर--दैहिक ममत्व से मुक्ति।

बाह्य प्रवृत्तियो से चचल शरीर अनेक द्वद्वो का शिकार बनता है। इन द्वद्वो द्वारा अनेक प्रकार के तनाव उत्पन्न होते है । तनाव से अनेक ग्रथियॉ वृत्तियॉ उत्तेजित हो जाती है । अनेक प्रकार की दुविधाएँ और विषमताएँ उत्पन्न होती है । इन विषमताओ का शमन बाह्य कायोत्सर्ग से स्थिर होता है ।

साधना काल मे बाह्य वृत्तियो को स्थिर करके आतरिक समता पर अग्रसर होकर परिसह उपसर्ग पर विजय पाना है। कषाय शमन की मिशाल समत्वयोग है। आतरिक स्थिरता से यथार्थता की अनुभूति होती है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह सज्ञा के सक्लेशो का विसर्जन होता है और मन, वचन, काय योग का निरोध होता है।

हेमचन्द्राचार्य ने इसे कायोत्सर्गासन कहा है ।[८]

शरीर के ममत्व का त्याग करके दोनो भुजाओ को नीचे लटका कर शरीर और मन को स्थिर करना "कायोत्सर्गासन" है। शरीर की ममता ही सबसे बडा बन्धन है। कायोत्सर्ग मे साधक--राग-द्वेष से रहित होकर अन्तर्मुखी हो जाता है। आत्मचितन मे गहरा डूब जाता है। तब उसे शरीर की सुध भी नही रहती है। शरीर को मच्छर काटते हैं या कोई चन्दन आदि का शीतल लेप कर देता है किसी भी स्थिति मे वह शरीर की चिता से चलित नही होता। कायोत्सर्ग प्राय जिन मुद्रा (दोनो पैरो के बीच चार अगुल का अतर रखकर सीधे सम अवस्था मे खडे रहना--जिन मुद्रा है) मे ही किया जाता है।

---

८ योगशास्त्र ४/३३

इसका उद्देश्य है शरीर की ममता एव चचलता को कम करना और स्थिरतापूर्वक आत्मलीन होना।

यह आसन खडे होकर, बैठकर या कमजोरी की हालत मे लेटकर भी किया जा सकता है। इस आसन की मुख्य विशेषता यही है कि मन, वचन एव काय के योग अधिकाधिक स्थिर होवे।

सभी तीर्थंकर किसी न किसी आसन मे कैवल्य-ज्ञान प्राप्त करते थे। जैसे—परमात्मा महावीर ने गोदोहासन मे कैवल्य-ज्ञान पाया था।

४ कायोत्सर्ग का कालमान

कायोत्सर्ग की प्रक्रिया कष्टप्रद नही है। उससे शारीरिक विश्रान्ति और मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। इसलिए वह चाहे जितने लम्बे समय तक किया जा सकता है। कम से कम पन्द्रह बीस मिनट तो करना ही चाहिए। कायोत्सर्ग मे मन को लोगस्स आदि सूत्र मे लगाया जाता है, इसलिए उसका कालमान उसकी गिनती से भी किया जा सकता है, जैसे – १२ लोगस्स, २० लोगस्स, ८ लोगस्स इत्यादि कायोत्सर्ग है।

ठाणाइए—स्थान, स्थिर होकर शात बैठना, इसमे सिद्धासन भी लगाया जा सकता है। किसी एक पैर को वृषण के पास उरु के निम्नवर्ती भाग से सटाकर बैठिए और दूसरे पैर को जघा और उरु के बीच मे रखिए। दूसरी बार मे पैरो का क्रम बदल दीजिए।

१ इस आसन से वीर्य ऊर्ध्वीकरण होता है।

२ मन की एकाग्रता होती है।

३ कामवाहिनी नाडी पर नियन्त्रण होने से वृत्तियो का निरोध।

उक्कुडु आसाणए-[९] उत्कटिकासन—दोनो पैर और नितम्ब भूमि से लगे रहे वैसे बैठना।

उकड् बैठना—उत्कटिकासन है। अर्थात् अगूठो को भूमि पर टिकाकर, एडियो को ऊपर की ओर उठा कर, उन पर गुदा रखकर बैठना।

पद्मासन

एक जाघ के साथ दूसरी जाघ को मध्यभाग मे मिलाकर रखना "पद्मासन" है। पद्मासन[१०] ध्यान और समाधि के लिए उपयुक्त आसन है। इस आसन मे अनेक तीर्थंकर भगवन्तो को कैवल्यज्ञान हुआ है।

---

९ योगशास्त्र—४/१३४
१० योगशास्त्र श्लो १२९

पद्मासन से लाभ

१ इस आसन मे ध्यान की प्रधानता
२ शारीरिक धातुओ की समानता
३ मानसिक एकाग्रता
४ जघा, उरू आदि स्नायुओ की सशक्तता
५ इन्द्रियो पर विजय

शरीर मे ग्रथियो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पद्मासन और योगमुद्रा द्वारा ये ग्रथियॉ सुदृढ़ होने से विशेष रसस्रावी होती है, उसमे अनेक ग्रथियॉ ऐसी है जैसे–पिच्यूटरी, पिनियल, थायरॉइड इत्यादि विशेष स्थान मे परिवर्तन लाती है तथा वृत्तियो पर नियन्त्रण लाती है।

एड्रीनल ग्रन्थि नाभि के नीचे के स्तर पर होती है। इसका सम्बन्ध मद्य, विषय, कषाय कामनाओ से है। सिहासन, पद्मासन, पर्यकासन, योगमुद्रा आदि आसन से ग्रथियो का सम्यक् स्राव होता है और देहात्मभिन्नता, मानसिक सतुलन, और वृत्तियो की निरोधता होती है।

वीरासन, सिद्धासन,पद्मासन आदि से तेजस्विता, ओजस्विता, स्थिरता, धीरता इत्यादि गुण प्रकट होते है। वृक्क ग्रथि रक्त को शुद्ध बनाती है और शुक्रग्रथि इन आसनजय द्वारा विकारो का उपशमन करती है।

सभी आसनो से ब्रह्मचर्य साधना सिद्ध होती है। मानसिक तनाव से मुक्ति होती है। आध्यात्म योग जागृत होता है। विकल्प शक्ति का अभाव होता है, सकल्प शक्ति सुदृढ बनती है। वीर्य का ऊर्ध्वीकर्रण होता है। प्रसन्नता और आनन्द सहज मिलता है और योग के प्रत्येक द्वार खुल जाते हैं।

५ भाव प्राणायाम (प्राणायाम)

प्राण अर्थात् बल, शक्ति; ऊर्जा, जैन दर्शन मे ऐसी शक्ति के देश प्रकार प्रसिद्ध हैं। १ श्रोतेन्द्रिय बल प्राण, २ चक्षुरेन्द्रिय बल प्राण, ३ घ्राणेन्द्रिय बल प्राण, ४ रसेन्द्रिय बल प्राण, ५ स्पर्शेन्द्रिय बल प्राणं, ६ मन बल प्राण, ७ वचन बल प्राण, ८ काय बल प्राण, ९ श्वासोश्वास बल प्रांण और १० आयुष्य बल प्राण, इन दशो प्राण पर विजय प्राप्त करने से अद्भुत शक्ति प्रकट होती है।

अशुभ योग और कषाय का नाश करने का उपाय भाव प्राणायाम है। ध्यान सिद्धि के लिए भाव प्राणायाम विशेष उपयोगी है।

सास और उच्छ्वास् को अनुशासित विस्तृत और व्यवस्थित करना तथा उसकी गति का निग्रह करना प्राणायाम है। प्राणवायु पर विजय प्राप्त करने से आसन–शुद्धि, नाडी-शुद्धि और प्राणशक्ति का ऊर्ध्वारोहण होता है।

हेमचन्द्राचार्य के शब्दो मे जहाँ मन है, वहाँ वायु है, और जहाँ वायु है वहाँ मन है अत समान क्रिया वाले मन और वायु क्षीर-नीर की भाँति आपस मे मिले हुए हैं फलत् प्राणायाम से बाह्य तेजस्विता ओजस्विता और प्राण होने पर भी निष्प्राण हो की सक्षमता का एक विराट रूप प्रज्जवलित होता है।

प्राणायाम का लक्षण और भेद

मुख और नासिका के अन्दर सचार करने वाला वायु "प्राण" कहलाता है। उसके सचार का निरोध करना "प्राणायाम" है। **"प्राणायामो भवेद् योगनिग्रह शुभभावनः** मन, वचन और काय–इन तीनो योगो का निग्रह करना तथा शुभभावना रखना भी प्राणायाम है।[11]प्राणायाम अर्थात् प्राणश्वास्-प्रश्वास की गति उसका आयाम-विच्छे अवरोध करना प्राणायाम है। बाहर की वायु को भीतर लेना श्वास है और भीतर की वायु को बाहर निकालना प्रश्वास कहलाता है। श्वास और उच्छवास की गति का निरोध करना "प्राणायाम" कहलाता है।

महर्षियो ने प्राणवायु के विस्तार को भी प्राणायाम कहा है। उसके तीन अग हैं।

प्राणायाम के अंग

कोष्ठक न ६

	मात्रा	लाभ
१ **पूरक**–बाहर से वायु को अदर खीचना	आठ मात्रा	पुष्टि
२ **रेचक**-अदर से वायु को बाहर फेकना	सोलह मात्रा	व्याधियाँ क्षीण
३ **कुम्भक**–दोनो वायु का निग्रह करना	बत्तीस मात्रा	आन्तरिक शक्तियं जागृत

इस प्रकार अनुलोम-विलोम प्राणायाम, शीतली प्राणायाम, केवल कुम्भक प्राणायाम, उज्जाई प्राणायाम, चन्द्र प्राणायाम, सूर्य प्राणायाम, सूक्ष्म भस्त्रिका प्राणायाम इत्यादि प्राणायाम के अनेक प्रकार हैं।

प्राण या विज्ञान

प्राण एक यौगिक शक्ति है। तैजस शरीर और चैतन्य शक्ति का योग होते ही प्राण-शक्ति उत्पन्न होती है। प्राण के साथ गति, ध्वनि, स्पदन क्रिया आदि की शक्ति

---

११ महापुराण–२१/२२७

१२ ज्ञानार्णव–२९/३

का भी सचार होता है। शरीर मे होने वाली सक्रियता का आधार ऊर्जा है। वैज्ञानिको ने सशोधन द्वारा परिणामो का निर्देशन करते हुए कहा है, कि प्राण को धारण करने वाला जो प्राणी है वह एक दिन रासायनिक प्रयोग द्वारा जीवन निर्माण कर सकेगा।

शिकागो विश्वविद्यालय वैज्ञानिक **स्टैन्ली मिलर** प्रयोग के बल पर अनुमान करता है कि वायुमडल मे हाइड्रोजन, अमोनिया और मीथेन ही थे। ऑक्सीजन केवल पानी मे ही था। तीनो को ट्यूब मे सयोजित कर अल्ट्राबायोलेट किरणो से विद्युत को मिलाया गया। फलत उसमे एमिनो एसिड बने। वैज्ञानिको ने सोच लिया कि हमे सफलता मिल गई।

उन्होने एक ग्रुप डॉ'वी इन्थशिक, वी ग्रीसचेको, एन वोरोवेव, सर ओलिवर लॉज आदि को तैयार किया। वैज्ञानिको ने रासायनिक तत्वो द्वारा एसिड तो बना लिया, किन्तु जीव या प्राण तत्त्व के निर्माण मे सफल नही हुए हैं।

हमारे शरीर मे सक्रियता का आधार जो प्राण ऊर्जा है, इसका नाम "द बायोलॉजकल प्लाज्माबाडी" है। यह ऊर्जा शरीर ही भविष्य और टेलीपैथी का अनुभव करता है।

प्राणायाम के प्रकार

१ **अनुलोम-विलोम प्राणायाम**--वायु शुद्धि के लिए अनुलोम-विलोम सर्वाधिक निर्दोष प्राणायाम है।

२. **शान्त प्राणायाम**--साधना के क्षेत्र मे शान्त प्राणायाम की नितान्त आवश्यकता है। तालु, नासिका और मुख के द्वारो से वायु का निरोध कर देना "शान्त" नामक प्राणायाम है। प्राण हमारी नाडियो से प्रवाहित होता है। बाये नाक के छिद्र से प्रवाहित होने वाला प्राण इड़ा नाडी या चन्द्रस्वर कहा जाता है, दाये छिद्र से प्रवाहित होने वाला प्राण पिगला नाड़ी या सूर्यस्वर कहा जाता है और दोनो नाडियो के बीच मे प्रवाहित होने वाला प्राण सुषुम्ना कहा जाता है। चन्द्रस्वर शीत और सूर्यस्वर उष्ण होता है। सुषुम्ना मे सहज ही मन स्थिर हो जाता है। कपालभाति प्राणायाम से सुषुम्नास्वर चलने लग जाता है। अनेक प्रकार की विद्युत तरगे भी प्रवाहमान होने लगती है। इन तरगो मे अल्फा तरगे विशेष होती है। इनमे से बीटा, डेटा, थीटा आदि तरगो मे मानसिक तनाव विशेष रहता है। प्राणायाम द्वारा तनाव मुक्त हो कर साधक अल्फा तरगो मे तरगित होता है। तनावग्रस्त मानव जो कार्य दस घटे मे करता है वही कार्य शान्त मानव दो घटे मे कर सकता है। क्योकि तनाव से रक्त मे लेक्टर एसिड का प्रवाह बेटा आदि तरगो के प्रभाव से बढ जाता है। अत भाव प्राणायाम से सुषुम्ना जागृत होती है और अल्फा तरगे लम्बे अरसे तक चलती रहती हैं।

प्राणायाम से लाभ

प्राणायाम से शरीर वायु, मानसिक तनाव और अनेक व्याधियॉ आदि विशुद्ध होती है ये बाह्य शुद्धि है। आन्तरिक शुद्धि इन्द्रियजय, मनोजय, कषायजय इत्यादि हैं जिसका प्राणजय से रूपान्तर होता है।

इन्द्रियविजय, मनोविजय, कषायविजय–इन शब्दो से हम सुपरिचित हैं किन्तु प्राणविजय शब्द से हम सुपरिचित नही है। जैन परम्परा मे ऐसी धारणा है कि प्राणायाम हमारी परम्परा मे मान्य नही है, वह महर्षि पतजलि तथा हठयोग की परम्परा मे मान्य रहा है। क्योकि आवश्यकनिर्युक्ति मे श्वास का निरोध न किया जाए ऐसा उल्लेख मिलता है। किन्तु यह निषेध किसी विशेष स्थिति मे किया गया प्रतीत होता है। भद्रबाहु स्वामी महाप्राण ध्यान की साधना कर रहे थे। उसकी आधार-भित्ति भाव प्राणायाम है।[१३] अन्य अनेक आचार्यो ने ध्यान सवरयोग की साधना की है। उसमे भी भाव प्राणयाम प्रमुख होता है। महाप्राण साधना या ध्यान योग की साधना मे अनेक वर्ष व्यतीत हो जाते थे तथा किसी प्रमादवश प्राणहानि भी हो जाती थी। सभव है इसी कारण आवश्यकनिर्युक्ति मे श्वास-निरोध का निषेध किया गया होगा।

प्राणायाम जैन-परम्परा से असम्भव नही है। प्राणायाम के बिना प्राण-विजय नही हो सकती और उसके बिना इन्द्रियविजय, मनोविजय और कषायविजय का होना साधारणतया सभव नही है।

६ प्रतिसंलीनता (प्रत्याहार)

आगमो मे प्रत्याहार के स्थान मे प्रतिसलीनता शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्रतिसलीनता का अर्थ है – स्व लीनता अर्थात् आत्मा के प्रति लीनता। परन्तु विभाव मे लीन आत्मा को स्वभाव मे लीन बनाने की प्रक्रिया ही वास्तव मे प्रतिसलीनता है। इसलिए सलीनता को स्व-लीनता अपने-आपमे लीनता भी कह सकते हैं।

मन और इन्द्रियो को शब्दादि विषयो से हटाकर अपनी इच्छा के अनुकूल स्थापना करना प्रत्याहार है।[१४] प्रतिकूल–आहार वृत्ति प्रत्याहार। अर्थात् इन्द्रियो की बहिर्मुखता नष्ट होने पर वे अन्तर्मुखी हो जाती हैं, मन के साथ निरुद्ध हो जाती हैं, तब

---

१३ जैनागमो मे दस प्राण हैं उसमे श्वासोच्छ्वास भी एक प्राण है। चौदह पूर्वों मे बारहवाँ पूर्व "प्राणायु' नाम का था उसमे भाव प्राणायाम योग आदि का स्वरूप बनाया था। भद्रबाहु स्वामी ने नेपाल जाकर महाप्राण की आराधना की थी।

१४ ज्ञानार्णव २७/१

उनका प्रत्याहार निष्पन्न होता है। इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने के लिये प्रतिसलीनता की परम आवश्यकता है।

इन्द्रिय, कषाय तथा मन, वचन, काय आदि योगो को बाहर से हटाकर भीतर मे गुप्त करना सलीनता है। शास्त्र मे इसे "सयम" तथा "गुप्ति" भी कहा गया है।

इन्द्रिय, कषाय व योग आदि का सयम-सकोच एव निग्रह करना प्रतिसलीनता है। उस दृष्टि से प्रतिसलीनता सयम-सकोच एव निग्रह रूप तप का परम उपाय है तथा सयम की विशुद्ध साधना है।

प्रतिसंलीनता के भेद

प्रतिसलीनता चार प्रकार की है--

इन्द्रिय-प्रतिसलीनता, कषाय-प्रतिसलीनता, योग-प्रतिसलीनता तथा विविक्ता-शयनासन सेवना।[१५]

यद्यपि उत्तराध्ययन मे प्रतिसलीनता के स्वरूप मे सिर्फ विविक्तशयनासन को ही लिया गया है। वहाॅ पर मुख्य दृष्टि से साधक को ध्यान व समाधि के उपयुक्त एकात स्थान की गवेषणा करने को कहा है, ध्यान से सयम की वृद्धि होती है, इस कारण ध्यान व समाधि मे साधन रूप विविक्तशयनासन को वहाॅ प्रतिसलीनता बताकर बाकी भेदो के प्रति सहज उपेक्षा बतायी गयी है। किन्तु भगवती सूत्र आदि मे विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है, वहाॅ उसके सभी रूपो पर विचार किया गया है। जैसे वह रूप यदि सुन्दर है तो राग का हेतु है और असुन्दर है तो द्वेष का हेतु हैं। जो उस रूप मे राग और द्वेष नही करके समभाव रखता है--वही वीतराग है।

७. धारणा

योग का छठा अग धारणा है। चित्त की एकाग्रता के लिए उसको किसी एकदेश-स्थानविशेष मे स्थित करना--जोड देना-धारणा है।[१६] यहाॅ पर देश स्थानविशेष आदि शब्द से--नाभि, हृदय, नासिका का अग्रभाग, कपाल भ्रकुटि, तालु, नेत्र, मुख, कान और मस्तक आदि यह ध्यान करने के लिए धारणा के, स्थान हैं। अर्थात् इन स्थानो मे से किसी भी एक स्थान पर चित्त को स्थिर करना चाहिए। चित्त का स्थिर करना ही "धारणा" है।

---

१५. भगवती सूत्र २५/७

१६. 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (यो ३/१)

ध्यान के लिए वचन और काय के साथ मन को एकाग्र करना आवश्यक है। अत ध्यान, आत्म-चिन्तन मे स्थिर किया जाए। वस्तुत ध्यान मन को एक स्थान पर एकाग्र करने--स्थित रखने की साधना है। इसके अतिरिक्त धारणा के निमित्त निश्चित किये गये देशनिर्णय के अन्तर्गत आधारचक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपुरकचक्र, अनाहतचक्र, विशुद्धि- चक्र, आज्ञाचक्र और अजरामरचक्र, इन सात चक्रो का भी योगग्रन्थो मे उल्लेख देखने में आता है। यह अनुभव सिद्ध बात है कि चित्तनिरोध के लिए मन की एकाग्रता अपेक्षित है और एकाग्रता के लिए उसका किसी एकदेश मे स्थापना करना आवश्यक है। इसलिये आगमो मे किसी एक पुद्गलविशेष पर, स्थूल या सूक्ष्म पदार्थ पर दृष्टि को स्थिर करके मन की एकाग्रता (सम्पादनार्थ धारणा) का समर्थन किया है।[१७]

इन्द्रियो को और मन को विषयो से खींच लेना भी धारणा होती है। विषयो से विमुख बने हुए मन को नासिकाग्र आदि स्थानो पर स्थापित कर लिया जाता है। इस प्रक्रिया से कुछ ऐसा साक्षात्कार होने लगता है, जो पहले कभी अनुभव मे न आया हो। कभी-कभी दिव्य-गध, दिव्य-रूप, दिव्य-रस, दिव्य-स्पर्श और दिव्य-नाद की अनुभूति होती है। किन्तु उन्हे भी इन्द्रियो के सूक्ष्म विषय मानकर मन से बाहर धकेल देना चाहिए। ऐसा करने पर मन मे अपूर्व शान्ति का अनुभव होगा। इस प्रकार बाह्य और आन्तरिक विषयो से विरक्त मन में ही धारणा की योग्यता आती है। धारणा की योग्यता प्राप्त हो जाने पर ही यथार्थ ध्यान हो सकता है।

यहाँ पर इतना अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि--प्रथम धारणा का विषय स्थूल होता है और बाद मे वह सूक्ष्म और सूक्ष्मतर बनता चला जाता है। तात्पर्य यह है कि साधक को प्रथम तो बाह्यविषय मे किसी स्थूल मूर्त पदार्थ को ध्येय बनाकर उसमे दृष्टि को स्थिर करना होता है। उसमे दृष्टि के परिपक्व हो जाने के बाद फिर सूक्ष्म पदार्थ को ध्येय बनाकर धारणा करनी होती है। इसी प्रकार प्रगति करते-करते वह अन्त मे अपने चेतन स्वरूप को ही ध्येय बनाकर उसके साक्षात्कार मे सफल हो जाता है। इतना ध्यान रहे कि योग के प्रथम पाँचो अग मद अधिकारी के लिए हैं, अर्थात् योग की प्रक्रिया को न जानने वाले के लिए विशेष उपयोगी है और पीछे के तीन अग-धारणा, ध्यान और समाधि मध्यम और उत्तम अधिकारी के लिए उपयोगी है।

ध्यान--देखिए पृ न १६६

---

१७ भगवती सूत्र श ३ उ २

समाधि–

अष्टाग योग मे सप्तम स्थान ध्यान का है और अतिम स्थान समाधि का है। अंगो की अपेक्षा ध्यान और समाधि विशेष महत्त्व के अग हैं। इनको योग का सर्वस्व कहे तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।[१८]

---

१८. समाधि के लिए देखिए पृ न ७६

तृतीय विभाग

(३) योग ऊर्जा और स्वरूप दर्शन

१. साधना की फलश्रुति जड़ - चैतन्य का विवेक ज्ञान

ज्ञान योग

ज्ञानयोग का स्वरूप

ज्ञानानुसार आचरण के समान न तो कोई विवेक है, न कोई त्याग है, न कोई प्रायश्चित है और न कोई तप है। क्योकि अनुभवात्मक ज्ञान होते ही स्थूल और सूक्ष्म, नित्य और अनित्य, योग और भोग, आसक्ति और अनासक्ति, प्रमाद और अप्रमाद अवस्था का भेद स्वत प्राप्त होता है।

शास्त्रवार्ता समुच्चय मे **"ज्ञानयोग स्तप"**[१] तप को ही ज्ञानयोग कहा है। **"भव कोडी संचय कम्म कवसा निज्जरिज्जइ"**[२] क्योकि ज्ञान युक्त तप मे करोडो भव के सचित कर्म को तोडने की शक्ति विद्यमान है।

जिस प्रकार भूमि रहित बीज फलित नही होता उसी प्रकार ज्ञानयोग के अभाव मे मन, वाणी और कर्म रूप सद्प्रवृत्ति के सस्कार फलित नही होते। अत ज्ञानयोग ही जड और चैतन्य का भेद ज्ञान कराने मे समर्थ है।

सम्पूर्ण साधना का समावेश ज्ञानयोग मे निहित है क्योकि सभी साधना का फल अवश्य मिलता ही है। चाहे हेय साधना हो या उपादेय हो, हर प्रवृत्ति का स्वतन्त्र प्रभाव होता ही है। जैसे पुण्य से सुख मिल सकता है, किन्तु चिर शाति तथा स्थायी प्रसन्नता नहीं मिल पाती। चिर शाति और स्थायी प्रसन्नता की प्राप्ति ज्ञानयोग से ही प्रकट होती है।

जहॉ मन, वचन और कायरूप शुभयोग सत्प्रवृत्ति है वहॉ ज्ञानोपयोग होता ही है, जहॉ ज्ञान है वहॉ अज्ञान टिक नही सकता जैसे सूर्य की प्रथम किरण आते ही अन्धकार टूटता जाता है, वैसे ही ज्ञान होते ही अज्ञान टूटता जाता है।

हेतु की दृष्टि से–

ज्ञानी के ज्ञान मे जो अनुभूत है वही जाना जाता है, माना जाता है, और स्वीकारा

---

१. शास्त्रवार्ता समुच्चय श्लो २१ पृ ७४
२ उत्तराध्ययन ३०/६

जाता है। अत असयमी की दृष्टि मे जो हेय है वही सयमी की दृष्टि मे उपादेय है। यही ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि मे अतर होता है।

कायवाङ्मनः कर्मयोगः स आस्रवः[३]

कायिक, वाचिक और मानसिक शुभाशुभ प्रवृत्ति योग कहलाती है और वही आस्रव हैं। अत आस्रव और अनास्रव की प्रवृत्ति शुभ और अशुभ योग पर आश्रित है। आस्रव जन्य दु ख, धन, सत्ता और भोग्यपदार्थों के विषय मे होते हैं। अत अज्ञानी की दृष्टि मे ये कर्मबन्ध के हेतु होने पर भी भौतिक सुख के हेतु होते हैं और वे ही पदार्थ विषय सुखों से पराङ्मुख ज्ञानी की दृष्टि मे अध्यात्म चितन का विषय बनकर कर्म निर्जरा का हेतु बन जाता है।

किसी भी वस्तु, परिस्थिति, घटना, प्रवृत्ति और भावना व्यक्ति के सम्बन्ध में समान रूप से परिणमन नहीं होती हैं। दो व्यक्तियो की भी योग्यता और रुचि समान नही मिल पाती जो परिस्थिति ज्ञानी के ज्ञान मे सर्व हितकारी है, वही अज्ञानी के लिए स्वार्थ भाव मे होती है। इस प्रकार सर्वात्मभाव देहभाव मे, वैराग्यभाव भोग प्राप्ति मे, और त्यागभाव रागभाव मे बदल जाता है।

आचार्य अमितगति ने योगसार मे ज्ञानी के लिए ठीक ही कहा है कि जिस इन्द्रिय विषय के सेवन से अज्ञानी अनत भव ससार भोगता है वहाँ ज्ञानी उसी विषयो के ज्ञान से अन्तर्मुहूर्त मात्र मे ससार मुक्त होते हैं [४]

अज्ञान का आवरण टूटने पर ज्ञान प्रज्ज्वलित होता है और भ्रम टूट जाता है। कोई आग्रह अवशेष नहीं रहता। अवशेष रहता है यथार्थ, केवल सत्य।

ज्ञान दृष्टि

यथार्थ की एक धारा है सम्यग्दर्शन और दूसरी धारा है सम्यग्ज्ञान ; ज्ञान आत्मा का गुण है। वह गुणी के अभाव मे नहीं रह सकता। जहाँ गुणी है वही गुण परिलक्षित होता है, अत जहाँ गुण की अनुभूति होती है वहाँ गुणी का अस्तित्व अवश्य होता है। क्योंकि गुण-गुणी का तादात्म सम्बन्ध है।

मैंने जान लिया, मैं जानता हूँ या मैं जानूँगा। इस प्रकार जो तीनो काल में "मैं" का प्रयोग हुआ है वह आत्मा है और जान लिया, जानता हूँ या जानूँगा यह प्रयोग आत्मा का गुण ज्ञान के लिए प्रयुक्त हुआ है।

---

३ तत्वार्थ सूत्र ६/१, २

४ योगसार–६/१८

अज्ञान का आवरण हटते ही स्व और पर का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होता है। अन्य व्यक्ति के शरीर मे स्थित आत्मा को हम ज्ञान द्वारा ही प्रत्यक्ष कर सकते हैं। पदार्थ को जानने की, कार्य करने की, जीतने की, त्यागने की, भोगने की, ग्रहण करने की, छोडने की इत्यादि सर्व प्रवृत्ति मे हेय और उपादेय का बोध ज्ञान द्वारा ही उद्भूत होता है।

मैं ज्ञान के द्वारा अपना सुख, दुख का सवेदन करता हूँ, उसी तरह अन्य व्यक्ति के लिए भी ज्ञान और सवेदन होता है, अत सिद्ध होता है कि ज्ञान आत्मा का गुण है। निश्चयपूर्वक प्रत्येक आत्मा मे रहता है। इसलिए कहा जाता है कि यह ज्ञानवान है।

इन्द्रियॉ पौद्गलिक है अत पुद्गल निर्मित पदार्थों को ही देख सकती हैं, अत इन्द्रिय द्वारा होने वाला ज्ञान परोक्ष ज्ञान माना जाता है और अतीन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष माना जाता है।

जब तक अज्ञान अवस्था होती है, इन्द्रियादि विषयो की मूर्च्छा छायी रहती है, बाह्य प्रवृत्ति विद्यमान रहती है, भौतिकता की रुचि जागृत रहती है, तब तक साधक अतीन्द्रिय ज्ञान की सत्ता को पाने मे सफल नही रहता। शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श का कुहरा चारो ओर छाया हुआ रहता है। मन, वाणी और शरीर के आवर्त्त मे उस अज्ञानी मे जो भी प्रक्रिया होती है, स्पदन होते हैं, सवेदना होती है, वह इन्द्रियो का, मन का, प्राण का, शरीर का बन्धन होता है। ज्ञान दृष्टि के उद्घाटन से ही सत्य उपलब्ध होता है। शुभ योग से ज्ञान की दिशा को गति मिलती है।

ज्ञान की कसौटी

अप्पणा सच्चमेसेज्जा— स्वय सत्य की खोज करो। सत्य की खोज के लिए ज्ञान योग की आवश्यकता है। आज जो वैज्ञानिक यन्त्रो से खोज करता है, वही खोज ध्यानी अपने ज्ञान से करता है। ज्ञानयोग से चित्त की चचलता स्थिर होती है, विकल्पो का जाल टूटता है और यथार्थ का साक्षात्कार होता है। अस्थायी मन ज्ञान को नहीं पा सकता। ज्ञान को पाने के लिए मन का स्थिरीकरण ही उपयुक्त है। जानने योग्य क्या है इसे खोजते-खोजते ही उसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। जहॉ ज्ञाता ज्ञेय पर अपने ज्ञान का उपयोग लगाता है वहॉ ज्ञान ध्यान रूप हो जाता है। ज्ञान और ध्यान मे कोई अन्तर नही। किसी एक ज्ञेय पर एकाग्र होना ही ज्ञानी के लिए ध्यान है।

जानना और देखना—ज्ञाता-दृष्टा यह मेरा स्वभाव है, मै सोचता हूँ, बोलता हूँ, मैं खाता हूँ ये क्रिया अवश्य हैं किन्तु स्वाभाविक नहीं हैं। जो प्रवृत्ति सायोगिक होती है वह किसी न किसी अज्ञान का रूप लेकर ही आती है। आत्मा का स्वभाव जानना और

देखना है, किन्तु जब वह स्वभाव अन्य के संयोग की अपेक्षा रखता है, तब स्वभाव विभाव मे तथा ज्ञान अज्ञान मे परिणत हो जाता है। मन का कर्म, वचन का कर्म, शरीर का कर्म अस्वाभाविक है। जहाँ अस्वाभाविकता है वहाँ बधन है, ऐसा कार्य कारण का नियम है। कोई भी कार्य कारण के बिना नहीं होता है। बन्धन भी कारण के बिना नहीं होता है। जहाँ अस्वाभाविक प्रवृत्ति होगी वहाँ बन्धन होगा, वैभाविक क्रिया होगी वहाँ अज्ञान होगा ही।

जहाँ योग और बन्धन दोनो एक हो जाते हैं वहाँ हमारी स्वाभाविकता अस्वाभाविक हो जाती है। अत जहाँ योग है वहाँ बन्धन है, जहाँ बन्धन है वहाँ योग है। एक को देखकर दूसरे को भी जाना जाता है जैसे जहाँ सूर्य है वहाँ प्रकाश है, जहाँ प्रकाश है वहाँ सूर्य है।

हमारी कोई भी प्रवृत्ति हो फिर वह मन सम्बन्धी हो, वचन सम्बन्धी हो या काय सम्बन्धी हो, प्रवृत्ति प्रवृत्ति है, बन्धन बन्धन है। प्रवृत्ति है तो बन्धन है ही। बन्धन है तो प्रवृत्ति का क्रम है ही। दोनो को मुक्त कराने वाला यदि कोई है तो वह है ज्ञान। अकेला ज्ञान कुछ नहीं कर सकता अत ज्ञान योग से प्रवृत्ति और बन्धन का विवेक ज्ञान जागृत होता है।

ज्ञानयोग से प्रवृत्ति निवृत्ति मे रूपातरित होती है। पुनरावृत्ति नहीं होती। प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। जो भी कार्य करो समाप्त होता है किन्तु कार्य की प्रतिक्रिया समाप्त नहीं होती, ध्वनि समाप्त होती है किन्तु प्रतिध्वनि समाप्त नही होती। इसी प्रकार बध समाप्त होता है किन्तु अनुबध समाप्त नहीं होता। बन्ध योग से होता है और अनुबध योग से जमे हुए सस्कार से चलता है, इस प्रकार क्रिया और प्रतिक्रिया रूप तेरहवे गुणस्थान संयोगी केवली तक चलता रहता है। इस अवस्था मे साधक ज्ञानयोगी कहा जाता है।

योग का मतलब है चित्त वृत्ति का निरोध, इस मार्ग पर चलने वाला स्वेच्छा से आगे बढ सकता है। जब वृत्तियाँ तीव्रता का रूप धारण करती हैं। मन उतना ही विक्षिप्त रहता है। इस विक्षिप्त मन को कैन्द्रित करने के लिए एकाग्रता विशेष आवश्यक है। जैसे सूर्य के प्रकाश को बादल आवृत्त करते हैं, वैसे ही वृत्तियाँ ज्ञान पर सवार हो जाती हैं। किन्तु बादल सम्पूर्ण सूर्य को आवृत्त नहीं कर पाते। वैसे ही वृत्तियाँ ज्ञान पर आवरण जरूर करती हैं, फिर भी सम्पूर्ण ज्ञान आवृत्त नहीं होता उसकी कोई न कोई किरण प्रज्ज्वलित रहती है अन्यथा जड और चैतन्य की भिन्नता प्रतीत नहीं हो पायेगी।

आत्मा के असख्य प्रदेश है, ज्ञानावरण उन सबको आवृत्त किए हुए है। ये आत्मप्रदेश सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त है और प्रत्येक आत्मप्रदेश मे ज्ञान का आलोक छाया हुआ है। मानव अपनी वृत्तियो का निरोध करके जैसे-जैसे आवरण को हटाता है वैसे-वैसे ज्ञानशक्ति प्रस्फुटित होने लगती है। आवरण की क्षमता विलीन होते ही स्थूल शरीर मे ज्ञान की अभिव्यक्ति के केन्द्र निर्मित हो जाते है।

ज्ञान के भेद

सामान्य तौर पर ज्ञान के पॉच भेद मान जाते है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान और केवलज्ञान। मात्र मतिज्ञान ही इतना व्यापक है कि सारा ससार क्रम इसी की कडी मे जुडा हुआ है। हम किसी पदार्थ को जानते है, पदार्थ का जानना-मानना ये सस्कार है, ये सस्कार मतिज्ञान का प्रथम चरण "अवग्रह" है। पदार्थ का सामान्य बोध पूर्वकृत सस्कार—वासना से उद्‌भूत होता है। पश्चात् तर्क पैदा होता है क्या है प्रश्न पैदा होता है। निर्णय के लिए सशोधन होता है, वहॉ मतिज्ञान का द्वितीय चरण "ईहा" का बोध होता है। तर्क-वितर्क की उलझने सुलझ जाती है, निर्णय विवाद को समाप्त करता है, तब किसी एक निष्कर्ष पर सत्ता प्राप्त होती है, वह है मतिज्ञान का तृतीय चरण "अवाय"। निश्चयात्मक ज्ञान, प्राप्त होने पर कोई शका तर्क विमर्शन शेष नही रहता तब मतिज्ञान का चतुर्थ चरण "धारणा" बनती है। यह धारणा ही स्मृति बन जाती है। वही सस्कार के रूप मे जम जाती है। इस प्रकार सस्कार का क्रम जन्म-जन्मातर मे चलता रहता है। इसी सस्कार से स्मृति उभरती है। कडी से कडी जुडती है और इसी से राग और द्वेष का जन्म होता है। **"रागो य दोसो वि य कम्मबीयं"**[५] राग और द्वेष ही ज्ञान का आवरण रूप हेतु है।

ज्ञानयोग प्रत्यक्ष ज्ञान है। जब तक आवरण होता है वह तब तक परोक्ष ज्ञान ही रहता है, इन्द्रिय जन्य ज्ञान ही रहता है, स्मृति जन्य ज्ञान ही रहता है। वासना और सस्कार जन्य ज्ञान अज्ञान होता है। जैसे ही परिस्थिति पदार्थ, परिणाम उभरकर हमारे सामने आता है, हमारी स्मृति उजागर हो उठती है। हमारा स्मृतिज्ञान जवाब देता है यह वही है। स्मृति, शब्द के रूप मे हो दृश्य के रूप मे हो, ज्ञात हो या अज्ञात रूप मे हो, सचित्र हमारे सामने अकित होती है। इस परिस्थिति मे आत्मा स्मृति से सम्बन्धित होकर जुड जाती है। अत राग-जन्य या द्वेष-जन्य ज्ञान आवृत्त होता है। यह आवर्त्त का क्रम चलता रहता है यही ससार है।[६] ज्ञान योगी इस आवर्त से पर होता है। ज्ञान योग मे इस आवर्त्त से पर होने का सामर्थ्य है।

---

५ उत्तराध्ययन सूत्र ३२/७

६. आचाराग अ २ उ १ सू ६३

ज्ञानयोगी दूसरो के मन के विचार जान लेता है। आगम मे मनयोगी के मानस का चिन्तन विशद् रूप मे मिलता है, आगम को श्रुतज्ञान कहा जाता है। सम्पूर्ण रूपी पदार्थो का ज्ञान अवधिज्ञानी जानता है और देखता भी है। मन पर्यवज्ञानी मनोगत भावो को जानता और देखता है। नदिसूत्र मे कहा है कि मन पर्यवज्ञानी अतीत और अनागत काल को पल्योपम के असख्यातवे भाग को वर्तमान की तरह जानता है और देखता है।[७] ज्ञानयोगी अपने ज्ञान से मनोगत भाव को जानते और देखते हैं। वैसे ही वाणीगत भावो का व्यापक रूप यथार्थ स्वरूप को भी जानते और देखते हैं। इस प्रकार कायिक चेष्टा से सर्वभावो को उजागर कर सकते हैं।

हम पुस्तकीय ज्ञान को ज्ञान मान बैठे हैं। पढकर, रटकर, जो स्मृति के आधार पर कार्य को क्रियान्वित किया जाता है यह स्मृति मतिज्ञान है।

आधुनिक विज्ञान केवल मक्खी के ही इतने प्रकार बताते हैं कि उनकी प्रक्रिया समूह व्यवस्था आदि का अध्ययन या ज्ञान प्राप्त करे तो सारी जिन्दगी खत्म हो जाय तो भी पूरा नही होगा। केवल पत्ता, भाजी को ही देखो कितने प्रकार हैं उनके वनस्पति विज्ञान के अध्ययन मे ही जीवन समाप्त हो जायेगा और वनस्पति का ज्ञान अधूरा रह जायेगा।

एक डॉक्टर के लिए शारीरिक चिकित्सा, रोग का निदान, रोगो का इलाज दवाओ का ज्ञान आवश्यक है। एक वकील के लिए कानून का, साक्षियो का, मानसिक स्थिति का ऊट्पटाग (Cross Examination) वाणी एव वैभव का ज्ञान आवश्यक है। व्यापारी के लिए ग्राहक का, माल आदि का, बाजार की मदी-तेजी का ज्ञान उपयोगी माना जाता है। उसी प्रकार ज्ञान योग वही माना जाता है जो आत्म-सम्बन्धी हो क्योकि बाह्य ज्ञान बौधिक उपज है ज्ञानयोग आत्मिक उपज है।

तेजाब मिश्रित पानी के साथ विद्युत का प्रयोग करके एक रूप बने हुए हाइड्रोजन और ऑक्सीजन वायु को वैज्ञानिक अलग कर सकता है उसी प्रकार जड और चैतन्य जो एक रूप प्रतीत होते हैं उनका भेद ज्ञान स्वाध्याय और ध्यान के सहयोग से होता है।[८]

ज्ञान प्राप्ति के लिए बुद्धि की निर्मलता-मन की विशुद्धता, अन्त करण की

---

७ नदिसूत्र ३७

८ तत्त्वानुशासन अध्याय ३ श्लोक ७ (८१)

विशालता, सयम की सार्थकता, सकल्प शक्ति की सुदृढता, चित्त की शान्तता तथा एकाग्रता की सम्पदा नितात आवश्यक है ऐसी स्थिति मे ही ज्ञान की प्राप्ति होती है।[९]

इस प्रकार जीव ज्ञान से पदार्थो को जानता है। दर्शन से श्रद्धा करता है। चारित्र से निग्रह करता है और तप से शुद्ध होता है।[१०]

वैज्ञानिक दृष्टि से हमारे शरीर मे जो पिनियल और पिच्युटरी दो ग्लेण्डस है। इनके द्वारा हमारा ज्ञान विकसित होता रहता है। इन्ही दोनो ग्लेण्ड्स से चेतना का ऊर्ध्वीकरण होता है। जिस चेतना मे शक्ति के साक्षात्कार की क्षमता आती है उस चेतना का नाम है ज्ञान। ज्ञान स्वय साक्षात् अनुभव है। वह इन्द्रियातीत है, बुद्धि से पर है, अलौकिक फलश्रुति है।

जे आया से विण्णाया जे विण्णाया से आया। जेण विजाणति से आयो।[११]जो आत्मा है, वह विज्ञाता है जो विज्ञाता है वह आत्मा है, क्योकि मति आदि ज्ञानो से आत्मा स्व पर को जानता है।

ज्ञान योग का फल

"ज्ञानस्य फलमं विरति" ज्ञान का फल विरति है। विरति अर्थात् व्रत नियम। अज्ञान टूटते ही सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होती है। सम्यक् ज्ञान प्राप्त होते ही व्रत नियम की आराधना होती है। इस प्रकार **णाणेन विजानहुंति चरण गुणा**[१२]ज्ञान विहीन कोई भी क्रिया काड-तप-जप की सिद्धि नही हो सकती। ज्ञान दो स्वरूप मे फलित होता है–१ बुद्धि, और, २ अनुभव। बुद्धि का काम है तर्क करना और अनुभव की प्राप्ति का कार्य है ध्यान और सयम। जो अनुभव के गर्त मे डुबकी लगाता है, गोता खाता है वही जानता है कि ध्यान क्या है, सयम क्या है ? जो केवल तर्क करता है समुद्र के तट पर खडा रहकर केवल अनुभव शब्द का उपदेश देता है वह क्या जाने भीतर मे क्या है। हमारा ज्ञान बाहरी स्वरूप तक सीमित रहा है अत बौद्धिक फल जरूर पाता है। किन्तु भीतर का ज्ञान सम्यक् ज्ञान है और उसका फल कैवल्य ज्ञान है।

ज्ञान से स्व स्वरूप का बोध और यौगिक पर्यायो का परिवर्तन होता है। स्व स्वरूप का बोध और यौगिक पर्यायो के परिवर्तन से ज्ञानी ज्ञान दर्शन का अनुभव

---

९ विशतिविशिका १, गाथा १७-२०

१० उत्तराध्ययन २८/३५

११ आचाराग-अध्य ५, उद्दे ६, सू १७१

१२. उत्तराध्ययन २८/३१

करता है। उसके सामने घटनाये आती हैं वह जानना है भोगना नही। ज्ञान योग का फल है जानना और देखना। केवल ज्ञाता, केवल दृष्टा ज्ञानी के लिए न कोई प्रिय है, न कोई अप्रिय। न किसी का सयोग है, न किसी का वियोग है। परिस्थिति घटना के रूप मे घटित होती रहती है। परिवर्तन परिस्थिति के अनुरूप बदलता है। ज्ञान ज्ञान स्वरूप मे विद्यमान रहता है। ज्ञेय का पर्याय ज्ञान नही होता और ज्ञान का स्वभाव ज्ञेय नही होता। दोनो भिन्न होते है। एक ज्ञेय है और एक ज्ञान है। ज्ञानी, ज्ञेय को जानता है और देखता है। उसके लिए ज्ञान ज्ञान ही रहेगा और ज्ञेय ज्ञेय ही रहेगा। अगर इतना हो जाय तो ज्ञान योग फलित हो जायेगा। फिर खाते हैं तो क्या, बैठे है तो क्या, चलते है तो क्या, बोलते है तो क्या ज्ञाता सदा जागृत है। क्योकि उसके जीवन मे ज्ञान घटित हो जाता है।

१ योग एक पयोग है ज्ञान की कसौटी का

अभ्यास क्रम मे

अपने आपको जानो और पूछो

क्या आपको अस्तित्त्व का बोध है ?
क्या शरीर और आत्मा भिन्न है ?
क्या ज्ञान बाह्य प्रवृत्ति मे है ?
क्या ज्ञानी को कल्पना, स्मृति, विकल्प सताते है ?

२. साधना की चरमावस्था प्रीति, अनुराग, भाव - भक्ति

भक्ति-योग

भक्ति शब्दार्थ

भक्ति शब्द 'भज' धातु को क्तिन् प्रत्यय जोडकर निष्पन्न हुआ है ।[१] इसकी व्युत्पत्ति भजनम् भक्ति भज्यते अनया इति भक्ति भजन्ति अनया इति भक्ति इत्यादि रूप मे की जा सकती है ।

भक्ति के पर्यायवाची शब्द

जैसे **पाइअसद्द**[२]**—महण्णव** मे निशीथ चूर्णि[३] मे **चेइअ वंदण**[४] महाभाष्य मे भक्ति को सेवा कहा गया है ।

भक्ति के पर्यायवाचियो मे श्रद्धा का स्थान भी सेवा की तरह विशेष है जैसे श्री हेमचन्द्राचार्य कृत प्राकृत व्याकरण मे, आचार्य समन्तभद्र कृत समीचीन धर्मशास्त्र मे और तत्त्वार्थ सूत्र मे भक्ति को श्रद्धा कहा है ।[५]

आचार्य पूज्यपाद ने भक्ति के स्थान पर अनुराग को स्थान दिया है । उन्होने अरिहत, आचार्य बहुश्रुत और प्रवचन मे भावविशुद्धि युक्त अनुराग को भक्ति कहा है ।[६] आचार्य सोमदेव के अनुसार जिन, जिनागम और तप, तथा श्रुत मे तत्पर आचार्य के प्रति सद्भाव इत्यादि से विशुद्धि सम्पन्न अनुराग को भक्ति कहा है ।[७]

पूज्यपाद श्री रूपगोस्वामी के अनुसार—

स्वाभाविक अनुराग को ही भक्ति कहा है ।

---

१ अभिधान राजेन्द्रकोश भा ५, पृ १३६५
२ पाइअसद्दमहण्णवो—पृ ७९६
३ निशीथचूर्णि—१३०
४ चैइअ—वदण महाभास पाद टिप्पण—१
५ आचार्य हेमचन्द्राचार्यकृत प्राकृत व्याकरण
६ सर्वार्थसिद्धि—६१२४ का भाष्य पृ ३३९
७. Yasastilak and Indian Culture p 262
८. हरिभक्ति रसामृतसिन्धु पृ ८७-८८

आचार्य कुन्दकुन्द ने वीतरागियो मे अनुराग करने वालो को सच्चा योगी कहा है।[९] उनके अनुसार आचार्य, उपाध्याय और साधुओ के प्रति भक्ति करने वाला सम्यक्‌दृष्टि कहा जाता है।

भक्ति और ज्ञान

सेवा, श्रद्धा और अनुराग की तरह ज्ञान और भक्ति का भी अविनाभावी सम्बन्ध है। ज्ञान के बिना भक्ति अन्धभक्ति है, क्योकि ज्ञान और भक्ति दोनो का लक्ष्य एक है—मोक्ष प्राप्त करना। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार ज्ञान आत्मा मे विद्यमान है, किन्तु गुरु की भक्ति करने वाला भव्य पुरुष ही उसको प्राप्त कर पाता है।[१०]उन्होने भाव पाहुड मे भगवान जिनेन्द्र से बोधि अर्थात् ज्ञान देने की प्रार्थना की है।[११]आचार्य समन्तभद्र के अनुसार भक्ति वही कार्य करती है जो कार्य पारस करता है। जिस प्रकार पारस के स्पर्श से लोहा स्वर्णरूप हो जाता है उसी प्रकार भगवान की भक्ति से सामान्य ज्ञानी कैवल्य ज्ञानी हो जाता है।[१२]

भक्ति योग का महत्त्व

जैन योग मे भक्ति योग का महत्त्व उच्च कोटि का है। अरिहत सिद्ध परमात्मा की भक्ति ही साधक को योगी-महात्मा बनाने मे समर्थ रहती है। हरिभद्रसूरि ने योग बिन्दु मे **"योगीवृन्दारकवन्दनीयौ"**[१३]कहकर भगवन्त की भक्ति की है। योगमार्ग की प्राथमिक भूमिका भक्ति ही है ऐसा प्रमाण उन्होने योगदृष्टि समुच्चय नामक अपने ग्रन्थ मे किया है। जैसे **"जिनेषकुशलंचित"**[१४]अर्थात् जिनेश्वर भगवन्तो के प्रति भक्तियुक्त चित्त को योगबीज कहा जाता है। हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र मे **"अर्हते योगिनाथाय"**[१५]अर्थात् योगियो के नाथ कहकर भगवन्त की स्तुति की है।

भक्तियोग मे अनुरक्त बने हुए मानतुगाचार्य का परमात्मा के प्रति जो सद्‌भाव है वह भक्तामर स्तोत्र मे मननीय है। जैसे **"भक्त्या मया रुचिर वर्ण विचित्रपुष्पाम्"**[१६]यहॉ आचार्य स्वय कहते हैं कि प्रभु तेरा गुणगान करने मे मैं असमर्थ हूँ फिर भी जो कुछ भी

---

९ अष्टपाहुड मे मोक्षपाहुड गा ५२
१० बोधपाहुड गा २२
११ भावपाहुड गा १५२
१२ स्तुतिवीद्या श्लो ६, पृ ७०
१३ योगबिन्दु गा १
१४ योगदृष्टि समुच्चय गा २३
१५ योगशास्त्र गा १
१६. भक्तामर स्तोत्र श्लो ६

हो जाता है वह भक्तिवशात् हो जाता है। वादिराजमुनि ने भी इसी प्रकार भक्तियोग मे सलीन होकर भक्ति की मस्ती मे गाया है कि—

त्व सर्वेश सकृप इति च त्वामुपेतो स्मि भक्त्या ----।
त्यकर्तव्य तदिह विषयेयदेव एव प्रमाणम् ॥[१७]

यहाँ साधक भक्तिपूर्वक परमात्मा को समर्पण हो जाता है।

श्री सिद्धसेनदिवाकर के अनुसार श्री भक्ति का महत्व विलक्षण है जैसे—

भक्त्या नते भयि महेश। दया विधाय दु खाकुरो दलनतत्परता विधेहि।[१८]

प्रभु ! आप शरणागत प्रतिपालक हो, दयालु हो और समर्थ भी हो। अत भक्तिभाव से विनम्र प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरे दु खो को दूर करने के लिए तत्पर होवे।

समर्पण, आदरभाव एव भक्ति से युक्त ऐसे साधक के विशिष्ट लक्षणो को अभिप्रेत करते हुए वे कहते है—

भक्त्योल्लसत्पुलकपक्ष्यदेहदेशा ।
पादद्वयं तव विभो । मुवि जन्म भाज.[१९]।

अर्थात् जिन्होने अन्य काम को छोड दिये हैं और भक्ति से प्रकट हुए रोमाचो से जिनके शरीर का प्रत्येक अवयव व्याप्त है, ऐसे साधक भक्ति भाव मे भावित हो जाते है। अत इस क्रिया को अमृत क्रिया कहते हैं। भक्तियोग के लक्षणो मे अमृत क्रिया का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। अमृत क्रिया के ऐसे लक्षण दर्शाते हुए एकीभाव स्तोत्र मे कहा गया है।

आनन्दाश्रुस्नपितवदनं गदगदं चाभिजल्पन्
यश्चायेत त्वयिदृढमना. स्तोत्रमंत्रर्भवन्तम् ।
तस्याभ्यस्तादपि च सुचिरं देहवल्मीकमध्या—
न्निष्कास्यते विविधविषमव्याधयः का देवया. ॥[२०]

अर्थात् भगवन् ! जो मनुष्य शुद्ध चित्त से आपकी भक्ति करता है उसके समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं।

---

१७ एकीभाव स्तोत्र श्लो ११
१८ कल्याणमदिर स्तोत्र श्लो ३९
१९. कल्याणमदिर स्तोत्र श्लो ३४
२०. एकीभाव स्तोत्र श्लो ३

भक्तियोग का परिणाम (आवश्यकता)

अध्यवसायो की विशुद्धि के बिना की जाने वाली भक्ति साधक को परिणाम की सफलता तक नही पहुँचा सकती है। अध्यवसायों की विशुद्धता से ही प्राणिधान अर्थात् चित्त की एकाग्रता हो सकती है। अत **"प्राणिधान कृते कर्म, मन्येतीव्र-विपाकँवत् ।"**

प्रणिधान द्वारा की जाने वाली क्रिया ही तीव्रविपाक याने उत्कट फलदायी होती है। किन्तु यह सब कुछ तभी होता है, जब साधक की भक्ति के प्रति रुचि हो। भक्तिपूर्वक रुचि को प्रीति अनुष्ठान भी कहते हैं। बिना प्रीति के भक्ति सिद्ध नही हो सकती अथवा स्थायी नही रह सकती। अत अनुष्ठानो मे भक्ति से प्रथम प्रीति को स्थान दिया गया है। अत यहॉ भक्तियोग के विवेचन मे प्रीतियोग को समझना बहुत आवश्यक है। प्रीति और भक्ति को बहुधा एक समझने की भ्रान्ति इसी से टूट सकती है।

"प्रीति एवं प्रीति अनुष्ठान तथा भक्ति अनुष्ठान"

जिसमे अधिक प्रयत्न हो और जिससे करने वाले का अधिक हित हो ऐसी प्रीति–रुचि होती है और अन्य प्रयोजनो को त्याग कर जिसे एकनिष्ठा से करते हैं, वह प्रीति अनुष्ठान है।

विशेष गौरव (महत्त्व) के योग से बुद्धिमान पुरुष की अत्यन्त विशुद्ध योग वाली क्रिया प्रीति अनुष्ठानवत् होने पर भी उसे भक्ति अनुष्ठान कहते हैं।

दोनो अनुष्ठान में अन्तर–भक्ति अनुष्ठान को विशेष रुचि के साथ किया जाने वाला अनुष्ठान प्रीति अनुष्ठान है, किन्तु भक्ति अनुष्ठान मे साधक कुछ विशिष्ट अभ्युदयवाला होता है। यद्यपि आदर एव महत्त्व प्रीति अनुष्ठान मे भी होता है, किन्तु भक्ति अनुष्ठान मे यह आदर और गौरव के साथ हृदय मे अकित हो जाता है। प्रीति मे समान भाव होता है, उदाहरणार्थ एक पुरुष का अपनी पत्नी के प्रति स्नेह भाव प्रीति कहलाता है और माता के प्रति स्नेह भाव भक्ति कहलाता है। यह दोनो पात्र भिन्न हैं पुरुष का स्नेह भाव दोनो के प्रति है, वह दोनो का पालन-पोषण एव रक्षण करता है, किन्तु दोनो के प्रति रहे हुए स्नेह-भाव मे अन्तर है। एक के प्रति प्रीति है और दूसरे के प्रति भक्ति है। प्रीति मे समर्पण भाव परस्पर रूपेण होता है। परन्तु भक्ति मे समर्पण भाव एकपक्षीय एव उच्चकोटि का होता है।

यह तो हुआ लौकिक परिणाम, किन्तु भक्ति से साधक अलौकिक सिद्धि भी पाता है। श्री जिनभद्रगणि जी कहते हैं–जिनवर की भक्ति करने से पूर्व सचित कर्मों

का क्षय हो जाता है।[२१] भक्तिपूर्वक ध्यान मे सलीन होने से जन्म-जन्म के निबिड कर्मबन्धन सहज विमोचन हो जाते है।[२२]

अरिहंत भक्ति से बोधिलाभ की प्राप्ति

श्री अरिहत जिनवर की भक्ति से दर्शन विशुद्धि की प्राप्ति होती है। दर्शन विशुद्धि के बिना अरिहन्त भक्ति सभव नहीं होती। इस प्रकार दर्शन विशुद्धि द्वारा अरिहन्त भक्ति से अनेक लाभ होते है।[२३] जैसे प्रवचन की आराधना, सन्मार्ग की दृढता, कर्त्तव्यता का निश्चय, शुभाशय की वृद्धि तथा सानुबन्ध–शुभ अनुष्ठान की प्राप्ति होती है। भगवान की भक्ति मुक्ति की दाता है। भक्ति और मुक्ति का परस्पर साध्य-साधक का सम्बन्ध है। मुक्ति साध्य है, भक्ति साधक है। भगवद् भक्ति के प्रभाव से दुखक्षय, समाधि मरण और बोधिलाभ की प्राप्ति होती है।[२४]

भक्ति अर्थात् प्रकृष्ट नमन, काया से नमन, वचन से स्तवन, मन से सत् चितवन, अर्थात् मन, वचन, काया का सानुकूल वर्तन भक्ति की पराकाष्ठा है। भगवत को भाववदन उत्कृष्ट भक्ति है। अरिहन्त परमात्मा की भक्ति रूप महिमा को शास्त्रकार भगवन्तो ने इस तरह बताया है –

भत्तीए जिणवराणं पदमामाए खिणपिज्ज दोसाणं
आरुग्ग बोहिलार्भ समाहि मरण च पावेति [२५]

तात्त्विक दृष्टि से देखा जाये तो जहाँ और जिस प्रकार अरिहन्त परमात्मा की आज्ञा का पालन होता है, वह अरिहन्त भगवन्त की भक्ति के ही प्रकार हैं। अत परमात्मा के प्रति जो श्रद्धा, विनय, वैयावृत्य, सद्भाव, सेवा, समर्पण, वदन, पूजन, सत्कार, सन्मान, प्रमाण, प्रशसा, प्रार्थना, प्रमोद, प्राणिधान, स्मरण, स्तवन, कीर्तन, कथा, उत्सव, उपासना, आदर, आराधना, एकाग्रता, शरणागति, वात्सल्य और योग इत्यादि भक्ति के ही प्रकार है। इस प्रकार भक्ति का स्वरूप व्यापक और अनेक अपेक्षाओं से परिपूर्ण है।

---

२१ भत्तिए जिणवराण खिज्जन्ती पुव्वसचिया कम्मा।
गुणपगरिसबहुमाणो कम्मवणदवाणलो जेण ॥
श्री जिनभद्रगणीजी

श्री जिनभद्रगणीजी

२२. कल्याणमन्दिर स्तोत्र-श्री सिद्धसेन दिवाकर श्लो ✓
२३ कल्याणमन्दिर स्तोत्र-८/३ ४/१८९/५
२४ कित्तिय वदिस महिया-जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा
आरूग्ग बोहिलाभ समाहि वर मुत्तम दिन्तु ॥-लोगस्स सूत्र स्वाध्याय गा ६
२५ आवश्यक निर्युक्ति।

प्रभु भक्ति मे लीन बने हुए अनेक कविगण भक्ति रस मे आप्लावित होकर काव्यो का सर्जन करते हैं। प्राचीन काव्यो का आलम्बन प्राप्त कर अनेक भक्त आत्मा भगवद् भक्ति के अनुरागी होते हैं। आत्मकल्याणकारी मार्ग मे प्रयाण करने की इच्छा वाले मुमुक्षु आत्मा का आशय शुभ होने पर भी भूमिका भेद से एव क्षयोपशम की भिन्नता से अपनी-अपनी क्षमतानुसार जीव अरिहन्त परमात्मा की भक्ति मे अधिकाधिक सुस्थिर होते हैं। इस प्रकार अरिहन्त परमात्मा के अनन्य भक्ति भाव स्वरूप मे आप्लावित आत्मा अरिहन्त स्वरूप को प्राप्त करता है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने शक्रस्तव मे स्पष्ट किया है कि–**"यो जिन सो हमेव च"**।[२६] हम सब ऐसी परमात्म भक्ति मे सल्लीन होवे और हम सभी को ऐसा महत् पद प्राप्त होवे कि हम शक्ति मे लीन होकर भगवान् हो जावें।

"भक्ति की अचिन्त्य शक्ति

ऐसे तो भक्ति वैराग्य और ज्ञान की पूर्व भूमिका है। भक्ति के अभाव मे ज्ञान और वैराग्य अस्थिर होते हैं। कई महर्षियो ने तो भक्ति मे तल्लीन होकर मुक्ति से भी भक्ति को श्रेष्ठ स्थान दिया है। उपाध्याय यशोविजयजी ने एक स्थान पर "भक्तिभागवती बीज" कहकर भक्ति को वीतराग का, मोक्ष का, सम्पदा (लक्ष्मी) का, बीज माना है। प्रभु भक्ति अवश्य मुक्ति का साधन है, उपाय है और मोक्ष प्राप्ति का कारण है। मुमुक्षुओ के लिये मोक्ष प्राप्ति यह कार्य है और प्रभु भक्ति यह कारण है। अत जिसे कार्य की इच्छा हो, उसे अनवरत आदर, सत्कार और भावोल्लास से भक्तिमय होना आवश्यक है। वही कार्य सिद्धि का महामन्त्र है। अरिहतो मे जो गुणानुराग स्वरूप भक्ति होती है वह अरहन्त भक्ति कहलाती है।[२७] ऐसी गुणयुक्त भक्ति ही सर्वकल्याणकारिणी होती है, जिन गुणो को प्राप्त करने का ध्येय है, वे समस्त गुण परमात्मा मे पराकाष्ठा तक पहुँचे हुए हैं। उन गुणो का भक्तियुक्त चिन्तन समस्त दु ख, दारिद्र दौर्भाग्य, आपत्ति और विपत्ति सरक्षण रूप है। अरिहंन्त, आचार्य बहुश्रुत और प्रवचन इनमे भावो की शुद्धता के साथ अनुराग रखना अरिहन्त भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत भक्ति और प्रवचन भक्ति है।[२८] इन भक्तियो का तात्कालिक फल चित्त की प्रसन्नता, मस्तिष्क की सात्वना और हृदय की पवित्रता है एव परम्परा से उसका फल सद्गति और मोक्ष है।

---

२६. सिद्धसेन दिवाकर कृत शक्रस्तव।

२७ धवला–८/३. ४/८९-९०/४

२८ सर्वार्थसिद्धि–६/२४/३३९/४
राजवार्तिक–६/२४/१०/५३०/६
चारित्राचार–५१/३. ५५/१
भावपाहुड टीका–७७/३२१/१०

प्रभु भक्ति की लीनता मे परमात्मा की अनन्त करुणा, "सवि जीव करूँ शासन रसी" की उत्कृष्ट भावना एव परोपकार प्रविणता कारणभूत है। गुण प्रकर्षण और अचिन्त्य शक्ति से ही यह सारा कार्य होता है। भगवद् भक्ति से अनन्त जन्मो के कर्मो का क्षय होता है, और करोडो वर्षो के तप का फल मिलता है और सर्व कामनाए सिद्ध होती हैं। जन्म, जरा और मृत्यु का भय टलता है। अनेक प्रकार के कष्ट, विघ्न और दुविधाएँ दूर होती है। मगल और कल्याण का वरदान मिलता है। दुर्जन सज्जन हो जाता है। भव जल तरण, शिव सुख मिलन और आत्मोद्धार करण सहज हो जाता है। भक्ति रूप साधना से अज्ञान अन्धकार का नाश होता है, विषय कषाय मद होते हैं और सत्प्रवृत्ति की प्रेरणा मिलती है। फलत उत्तम जन्मो की परम्परा से अल्प समय मे घाती कर्मो के नाश से केवलज्ञान और सर्व कर्मो के नाश से अन्त मे मुक्ति मिल जाती है। इन अलभ्य लाभो की परम्परा का मूल हेतु भक्ति की तन्मयता है।

भक्ति के प्रकार

अध्यात्मसार मे उपाध्याय यशोविजयजी ने भक्ति के चार प्रकार बताए हैं–

(१) **आर्त**–ससार के दु खो से त्रस्त जीवात्मा।

(२) **तत्त्वजिज्ञासु**–दु खनाश, सुखप्राप्ति की अभिलाषा रहित परमात्म अनुग्रह प्राप्त कर परम तत्व का जिज्ञासु।

(३) **धनेच्छु**–धनादि की कामना वाले जीवात्मा।

(४) **ज्ञानी**–कर्मयोग और भक्तियोग द्वारा परमात्मा को ही परम सत्य मान उन्ही का अस्तित्व स्वीकार करने वाला ज्ञानी।

इन चारो मे धनेच्छु को छोडकर शेष तीन प्रशसनीय हैं, क्योकि उन तीनो का ध्येय परमात्मतत्व है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि धनेच्छु भक्ति अर्थ आदि की प्राप्ति के हेतु होती है। अत ऐसी भक्ति विष अनुष्ठान कही जाती है उसे परमात्म भक्ति कैसे कहा जा सकता है? तथा उपाध्यायजी के अनुसार उसे प्रशसनीय भी कैसे कहा जा सकता है ? इसका समाधान ऐसे है कि यहाँ जो धनेच्छू अर्थात् धन के अर्थी को प्रशसनीय कहा है वह वस्तु विशेष के रूप मे कहा है। यहाँ वस्तुलक्ष्य परमात्मा है। धन का अर्थी होने पर भी यहाँ भक्त धन के लिए कही याचना करने नही जाता किन्तु परमात्मा की भक्ति मे लीन रहता है। अत उसका लक्ष्य भक्ति होने से वह प्रशसनीय है।[२९]

---

२९ आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी चचित चतुर्विधा ।
उपासकास्त्रयस्तत्र धन्या वस्तुविशेषत ॥

—अध्यात्मसार गा ५०१, पृ ३३४

भक्ति का चौथा नबर ज्ञान का है। ज्ञानी वही होता है जो रागादि विक्षेपो से रहित शान्त चित्तवाला, सर्वज्ञ परमात्मा की नित्य भक्ति करने वाला और पूर्वोक्त तीनो प्रकार के उपासको से विलक्षण कोटिवाला होता है। ऐसा साधक सदाशय वाला होने से, ब्रह्म स्वरूप के निकट पहुँचता है।[३०]

योग एक विरक्ति है भक्ति मे खोने की
अभ्यास क्रम में
अपने आपको खोजो
भक्ति की लीनता एकाग्रता लाती है ?
कैसी भक्ति स्वार्थ या परमार्थ
भक्ति की मस्ती स्वाभाविक या कृत्रिम
भक्ति एक मे है या अनेक मे।

३० ज्ञानी तु शान्तविक्षेपों नित्यभक्तिविशिष्यते।
भत्यासन्नोह्यसो भर्तुरन्तरात्मा सदाशय ॥
—गाही गा ५७२, पृ ३३५

३. प्रवृत्ति का परिणमन बन्ध हेतु का कारण

कर्मयोग

कर्म का अर्थ

कर्म का शाब्दिक अर्थ, कार्य प्रवृत्ति या क्रिया है। सामान्यत हम जो कुछ भी करते है, वह कर्म है। उठना, बैठना, खाना, पीना, सोना इत्यादि। जीवन व्यवहार मे हम जो कुछ करते है वह कर्म कहलाता है। व्याकरण की दृष्टि से देखा जाये तो पाणिनि ने भी कहा है कि कर्तुरीप्सिततम कर्म[१] जो कर्ता के लिए अत्यन्त इष्ट हो यह कर्म है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से जीव द्वारा जो कुछ किया जाता है उसे कर्म कहते हैं, अर्थात् आत्मा की रागद्वेषात्मक क्रिया चुम्बक के समान होने से आकाश प्रदेशो मे विद्यमान अनन्तानन्त कर्म के सूक्ष्म पुद्गल आकर्षित होकर आत्मप्रदेशो मे सश्लिष्ट हो जाते हैं, उन्हे कर्म कहते हैं।[२]

कर्म पौद्गलिक है। जिसमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हो, उसे पुद्गल कहते है।[३] पृथ्वी, पानी, हवा आदि पुद्गल से बने है। जो पुद्गल कर्म बनते हैं, अर्थात् कर्म रूप मे परिणत होते हैं, वे एक प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्म रज अर्थात् धूलि है, जिसको इन्द्रियॉ (यन्त्र आदि की मदद से भी) नही जान सकती है, किन्तु सर्वज्ञ केवलज्ञानी अथवा परम् अवधिज्ञानी उसको अपने ज्ञान से जान सकते हैं। कर्म बनने योग्य पुद्गल जब जीव द्वारा ग्रहण किये जाते है, तब उन्हे कर्म कहते हैं।

ससारी जीव सक्रिय होने से मन, वचन और काया के योग से शुभ या अशुभ प्रवृत्ति करता रहता है। इस प्रवृत्ति का परिणाम कर्म बन्ध कहा जाता है। हर प्रवृत्ति का परिणाम कर्म बध का हेतु है। कर्म के साथ-साथ बध होता ही है। क्योकि प्रत्येक क्रिया परिणाम तत्काल लाती है। फिर उसका उपभोग जब कभी भी होवे। बन्ध उसी क्षण

---

१ पाणिनि व्याकरण–१/४/४८ (राजवर्तिक)
२ परमात्म प्रकाश १/६२
३ (क) तत्त्वार्थसूत्र अ ५, सूत्र २३
(ख) व्याख्या प्रज्ञप्ति–श १२ उ ५ सू ४५०

होता है और उसका उपभोग दीर्घकाल तक चलता है। क्रिया होते ही क्रिया का बन्ध होता है, बन्ध होने के पश्चात् अनेक कर्मो का क्षय होता है और अनेक कर्मो का सचय होता है। सचित कर्म कब सक्रिय होगे इसका कोई नियम नही है।

आज बीज बोया है इसलिए कि मीठे फल मिलेगे किन्तु आज ही फल का वह अधिकारी नही हो सकता, जब काल परिपक्व होगा तब फल मिलेगे। कर्म का जो बन्ध हुआ है वे कर्म सत्ता काल मे पडे रहेगें। इस सत्ता काल को अबाधा काल कहते हैं। यहाँ कर्म का अस्तित्व है किन्तु उदय मे आने का समय परिपक्व नही हुआ है। परिणाम की क्षमता जब तक उदित नही होती तब तक सत्ता मे कर्म पडे रहते हैं।

लकडी मे अग्नि का अस्तित्व है किन्तु जब तक सयोग नही मिलता अग्नि प्रज्ज्वलित नहीं होती। कर्म सत्ता मे पडे हैं जब तक काल परिपक्व नही होता कर्म उदय मे नही आते। स्थिति बन्ध पूर्ण होते ही कर्म उदय मे आते हैं, भोगे जाते है और नष्ट होते जाते हैं। इस प्रकार रागात्मक और द्वेषात्मक प्रवृत्ति से कर्म का बन्ध होता है और यथा समय भोगने पर टूटते हैं। बन्धन और मुक्ति दोनो प्रक्रिया का चक्र परिभ्रमण करता है। हमारी वासना कर्म को आकर्षित करती है और कषाय द्वारा बध करती है। आकर्षण होता है मन, वचन और काया की चचलता के द्वारा और बन्ध होता है काषायिक वृत्ति द्वारा। इस प्रकार पुरातन कर्म अपना फल देकर अलग हो जाते हैं और अभिनव कर्मो का बन्ध होता रहता है।

जैसे सरिता मे प्रवाहमान जलकण भिन्न-भिन्न हैं, विराट जलराशि बह जाती है, फिर भी पीछे से आने वाले जल कण उसके प्रवाह को चालू रखते हैं। उसी तरह पूर्व के आबद्ध कर्म अपने समय पर फल देकर क्षय होते रहते हैं और नये कर्म स्थान ग्रहण करके कर्म, प्रवाह को चालू रखते हैं।

इस प्रकार आत्मा और कर्म का अनादि सम्बन्ध है अकेले कर्म से सम्बन्ध नहीं होता है, प्रवाह की तरह नये और पुराने कर्म की बन्ध और मुक्त दोनो अवस्था प्राप्त होती है।

जैन दर्शन की मान्यता है कि ससारी आत्मा स्वय कर्मो का कर्त्ता और भोक्ता है। आत्मा ही अच्छे या बुरे कर्मों को करता है और उसका उसी रूप मे फल भोगता है और प्रयत्न से उन कर्मों को बिना भोगे भी तोड सकता है। कर्मो को भोगता हुआ जीव चारो गतियो मे नाना रूप धारण करता है और मुक्त होने पर सिद्धत्व स्वरूप को भी प्राप्त करता है। जीव जैसे कर्म बन्धन को बाधने मे समर्थ है वैसे ही कर्मबन्धन से मुक्त होने मे भी समर्थ है। कर्म का आदि है तो अंत भी है।

कर्म बन्ध के हेतु

कर्मबन्ध के दो हेतु है राग और द्वेष। इन दोनो के द्वारा मोह प्रबल होता है। फलत जानना और देखना दोनो प्रवृत्ति पर आवरण छा जाता है। इस आवरण से मिथ्या दृष्टि, बहिर्वृत्ति, और दुर्बुद्धि उजागर होती है। यह निर्विवाद है कि जब तक मिथ्यात्व का उदय होगा आकाक्षा जीवित रहेगी, आकाक्षा प्रमाद को जन्म देती है। यह प्रमाद ही दु ख है और दु ख ही ससार है। इस प्रकार कर्म के बन्धन से ससार परिभ्रमण होता है। कहा भी है—ससार अध्रुव है अशाश्वत है और प्रचुर दुख से भरा हुआ है।[४] इस प्रकार दु ख कर्म बन्ध का परिणाम है।

दु ख का सम्बन्ध राग से भी है और द्वेष से भी है। इन्ही सम्बन्ध से क्रोध, काम, मद, लोभ, रूप आसक्ति पुष्ट होती है। माया और लोभ का राग मे और क्रोध और मान का द्वेष मे समावेश होता है। इस प्रकार कर्म से रागद्वेष और रागद्वेष से कर्म बन्ध होता ही रहता है। इस चक्रव्यूह की गति वीतराग दशा मे ही रुकती है अन्यथा चलती ही रहती है।

इस प्रकार कर्म का आकर्षण केन्द्र राग-द्वेष है। कर्म की तीव्रता और मदता राग-द्वेष पर निर्भर है। कर्म सक्रमण की प्रक्रिया राग-द्वेष है। राग-द्वेष जितने तीव्र होगे कर्म परमाणु उतने ही तीव्र चिपकते रहेगे। अत राग-द्वेष से वैरभाव होता है, राग-द्वेष से विरोध भाव होता है, राग-द्वेष से मानसिक अशान्ति होती है, राग-द्वेष से मानसिक बीमारी होती है और राग-द्वेष से सक्लेश होता है।

कर्म के हेतु—भाव और द्रव्य

राग और द्वेष से जिन कर्मो का आकर्षण होता है वे हमारे भावो पर निर्भर होते हैं। मन वचन और काया के अशुभ योग से, अशुभ लेश्या और अशुभ अध्यवसाय भाव कर्म कहे जाते है। कर्म, कर्म का बन्ध, कर्म का अनुबन्ध आदि का विस्तृत वर्णन करने से कोई लाभ नही है। लाभ है हमारे भावो का निरीक्षण करने मे। राग-द्वेष का क्षण भाव कर्म हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ का क्षण भावकर्म है। भाव-कर्म ही द्रव्य कर्मो को प्रभावित करता है। द्रव्य कर्म भाव को उत्तेजित करता है। इस प्रकार भाव का प्रभाव द्रव्य पर और द्रव्य का प्रभाव भाव-कर्म पर होता रहता है।

हमे इस भाव कर्म को रोकना है। ध्यान द्वारा, साधना द्वारा, अप्रमत्तता द्वारा जागृति द्वारा इन भावकर्मो को निष्प्राण करना है। जब तक भाव कर्म जिन्दा है तब तक

---

४ उत्तराध्ययन अ ८ गा १

द्रव्य कर्म जिन्दा है। भाव कर्म के प्रति जागृत होना ही हमारी साधना है, ध्यान है, जागृति है।

इस प्रकार भाव कर्म राग और द्वेष के रूप मे उभरते है और द्रव्य कर्म चचलता का नर्तन करता है। इन कर्मो को रोकने के दो ही उपाय हैं– समभाव और स्थिरता। निर्विचार और निर्विकल्प की साधना करने से मन की चचलता शान्त होती है। व्यक्त और अव्यक्त रूप से वाचिक मौन की साधना वाणी की चचलता को स्थिर करती है। कायोत्सर्ग के विधान से काया की चचलता कम होती है। मन, वचन और काया की चचलता अल्प होते ही कर्म बन्ध की प्रक्रिया का परिवर्तिन होता है। समत्व की साधना प्रवाहित हो जाती है। साधना का सार ही समता है।

कर्म के हेतु-आश्रव

आत्मा और कर्म पुद्गल दोनो स्वतन्त्र द्रव्य हैं। आत्मा कभी कर्म को आकर्षित नही करता किन्तु कर्म को आकर्षित करने का माध्यम है आश्रव। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग आश्रव के पॉच हेतु है।

१ मिथ्यात्व

कर्मयोग मे बाधक तत्त्व मिथ्यात्य है। सत्य को सत्य की दृष्टि से नही देखना, यथार्थ को यथार्थ की दृष्टि से नही परखना, अज्ञान है। जब जानने और देखने पर आवरण होता है तब मिथ्यात्व आता है। मिथ्यात्व के उदय से भोग को सुख मानता है। और त्याग को दु ख, त्याग मे सुख और भोग मे दुख की मान्यता को वह गलत मानता है। यह अवस्था बुद्धि की विपर्यास अवस्था है। इस अवस्था मे सत्य को विपरीत ग्रहण किया जाता है , जैसे आत्मा मे देह बुद्धि स्वीकार करना। ज्यो–ज्यो देह बुद्धि सबल तथा स्थायी होती जाती है, भोगेच्छाओ की जिज्ञासा जागृत होती जाती है।

२. अविरति

कर्मयोग मे बाधकतत्त्व है अविरति–अविरति अर्थात् गुप्त वासना, इच्छा, चाह इर्षा मे मृगमरीचिका की तरह भोग मे सुख को खोजना। सयोग की लालसा और वियोग मे विवाद अनुकूल की प्राप्ति के लिए दौड धूप, प्रतिकूलता के नाश के लिए दौडधूप, मान मिल गया खुश हो गया, अपमान मिला नाखुश हो गया। जहॉ पदार्थो के प्रति ममत्व, भोगेच्छा है वहॉ अविरति है और जहॉ ममत्व और भोगेच्छा का अभाव है, वहॉ विरति है।

३. प्रमाद

कर्म योग मे बाधक तत्त्व-प्रमाद भी है। भोगेच्छाओ की लालसा का तीव्र होना

प्रमाद है। अविवेक प्रमाद को जन्म देता है। अतीत का होना और अनागत की चिन्ता ही प्रमाद है। मद् विषय, निन्दा, विकथा इत्यादि इन्द्रिय जन्य उपभोग प्रमाद है।

४. कषाय

कर्मयोग मे बाधक तत्व कषाय भी है—क्रोध, मान, माया और लोभ, चार कषाय कहे जाते है। इष्ट पदार्थ का योग और उसके सुख की अनुभूति तथा प्रतिकूल पदार्थ का योग और उससे दुख की अनुभूति इन दोनो से कषाय की पुष्टि होती है। बुरे विचारो से, बुरी भावनाओ से, बुरे आचरणो से कषाय के अनेक द्वार खुल जाते है। एक बुराई हजारो बुराइयो को पैदा करती है, एक सक्लेश अनेक सक्लेशो को जन्म देता है। एक दु ख अनेक दु खो को पैदा करता है।

कोहो पीइ पणासेइ

कोध प्रीति का नाश करता है। अत साधक के भीतर रहने वाला आनन्द का प्रवाह सूख जाता है। क्रोध होने पर मैत्रीभाव समाप्त होता है, शरीर की शक्ति क्षीण होती है, धैर्य समाप्त हो जाता है, निराशा छा जाती है, प्रतिभा नष्ट होती है, चिन्तन शक्ति का ह्रास होता है तथा शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक शक्ति छिन्न-भिन्न हो जाती है। नाभि के पास एड्रिनल ग्रन्थि है, जब वह उत्तेजित होती है तो वृत्तियाँ उजागर होती हैं और क्रोध आदि कषाय प्रज्ज्वलित करती है।

५ योग

कर्म योग मे बाधक तत्व योग भी है-मन, वचन और काया की चचलता को योग कहा है। हमारे मन मे अनेक विकल्पो का जाल पैदा होता है। इच्छाएँ पूर्ण होवे या न होवे हमारी उससे तृप्ति होवे या न होवे पर इच्छाएँ समाप्त नही होती। सम्पूर्ण इच्छाओ का उद्गम स्थान मन ही है।

जिस प्रवृत्ति के मूल मे राग-द्वेष और मोह की वृत्ति है, वस्तुत वह प्रवृत्ति भी कर्म रूप क्रिया है। राग और द्वेष के निमित्त से उत्पन्न होने वाली क्रिया राग प्रत्ययिकी और द्वेष प्रत्ययिकी क्रिया है। दशवे गुणस्थान मे जीव कषाय की अपेक्षा क्रियाशील है। जहाँ लेश्या है, वहाँ किसी न किसी प्रकार की क्रिया अवश्य है, अत सलेशी जीव सक्रिय है, योग की अपेक्षा से भी जीव सयोगी है, अत वह भी सक्रिय है।

"क्रिया और ध्यान"

तेरहवे गुणस्थान की शेष अवस्था मे सूक्ष्म काय योग से सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति शुक्लध्यान होता है। यहाँ तक सब ध्यानो मे जीव सक्रिय होता है, अर्थात् शुक्लध्यान के तृतीय पाद तक सक्रिय रहता है। चतुर्थ पाद मे सर्व क्रियाए विच्छिन्न हो जाती हैं।

चौथे ध्यान मे निमग्न जीव क्रिया रहित होता है। इसीलिए तीसरे ध्यान मे तो जीव सूक्ष्म कायिक क्रिया सहित ही रहता है।

"क्रिया का अभाव"

अयोग अर्थात् निरोध क्रिया **"शैलेषीकरण योग निरोधात् नौ एजले"** योग का निरोध होने से शैलेशी अवस्था मे ऐर्यापथिक.और एजनादि क्रियाए बन्द हो जाती हैं क्योकि क्रियाओ का न होना अक्रिया है। कर्म के शोधन से अक्रिया होती है। अक्रिया से निर्वाण अर्थात् कर्मो से मुक्ति होती है, तत्पश्चात् जीव सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है तथा परिनिर्माण को प्राप्त कर सर्व दु खो का अन्त करता है। सिद्ध-गतिगमन रूप पर्यवसान फल अर्थात् अन्तिम फल को प्राप्त करता है।

ससार समापन्न और अससार समापन्न के अनुसार जीव सक्रिय और अक्रिय होता है। अससार समापन्न जीव सिद्ध होते हैं, और वे अक्रिय होते हैं। ससार समापन्न जीव शैलेशी प्रतिपन्न तथा अशैलेषी प्रतिपन्न ऐसे दो प्रकार है। शैलेषी प्रतिपन्न ही अक्रिय है।

अत प्रथम गुणस्थान से लेकर तेरहवे गुणस्थान तक के सभी जीव सक्रिय हैं। वे प्रतिक्षण कोई न कोई क्रिया करते रहते है, किसी भी क्षण मे अक्रिय नही होते हैं अत सर्व आत्मप्रदेशो का परिस्पदन होता ही रहता है।

कर्मयोग और ज्ञानयोग से होने वाली स्थितियॉ

	कर्मयोग		ज्ञानयोग
१	कर्म की प्रधानता मे कर्म योग।	१	ज्ञान की प्रधानता मे ज्ञान योग।
२	आवश्यकादि सत् क्रियाओ की अपेक्षा।	२	इन्द्रिय और मन के शमन की अपेक्षा
३	देशविरति श्रावक धर्म की स्पर्शना	३	सर्वविरति मुनि महात्माओ की स्पर्शना।
४	सावद्य योग की प्रवृत्ति	४	निरवद्ययोग की पवृत्ति।
५	स्वर्गादि फल का सकल्प	५	मोक्ष फल का सकल्प।
६	चित्तशोधक रहित	६	चित्त शोधन।
७	कर्मयोग अभ्यास दशा	७	समाधि दशा।
८	स्थान उर्ण, अर्थ युक्त कर्म योग	८	सालबन और निरालबन ध्यान
९	प्रकृष्ट पुण्य कर्मोदपादक कर्मयोग	९	विशिष्ट निर्जरा।

१०	प्रमत्त दशा ।	१०	अप्रमत्त भाव की रमणता ।
११	ध्यान स्वरूप तप की अल्पता ।	११	ध्यान स्वरूप तप से विशुद्धि ।
१२	अतिचार शुद्धिकरण रूप आवश्य-कादि क्रिया की आवश्यकता।	१२	अतिचार शुद्धिकरण रूप प्रक्रिया ।

क्रिया योग का स्वरूप

ज्ञान और क्रिया का घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योकि दोनो के सयोग से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। क्रिया योग मे ज्ञान की गौणता और क्रिया की प्रधानता होती है, और ज्ञानयोग मे क्रिया की गौणता होती है।[५] ज्ञान योग की साधना के लिए क्रियायोग भूमिका स्वरूप है। क्रिया योग के अभ्यास से ही साधक क्रमश ज्ञानयोग को प्राप्त कर सकता है। क्योकि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। जैसे कनकोपन याने सोने और पाषाण-रूप मल का सम्बन्ध अनादि काल का है और बद्ध कर्म का स्वभाव जीव को रागादि रूप से परिणमाने का है। जैसे कोई व्यक्ति वस्त्र मे तेल लगाकर धूल मे सुखा दे तो वह धूल वस्त्र मे चिपक जाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग आदि से जब ससारावस्थापन जीव के आत्मप्रदेशो मे परिस्पन्दन-हलन-चलन होता है, उस समय अनन्तानन्त कर्म योग्य पुद्गल परमाणुओ का आत्मप्रदेशो के साथ सम्बन्ध होने लगता है । जैसे अयोगोलक--अग्नि से सतप्त लोहे का गोला प्रतिसमय अपने सर्वांग से जल को खीचता है, उसी प्रकार ससारी छद्मस्थ जीव अपने मन, वचन, काया की चचलता से मिथ्यात्व आदि कर्मबन्ध के कारणो द्वारा प्रतिक्षण कर्म पुद्गलो को ग्रहण करता रहता है। दूध-पानी, अग्नि-लोहे का गोला, स्वर्ण-पाषाण आदि का जैसे सम्बन्ध होता है उसी प्रकार का जीव और कर्मपुद्गलो का सम्बन्ध हो जाता है । यहाँ उन सभी कर्मपुद्गलो मे से आवश्यक क्रियायोग को स्वीकार किया गया है। व्यवहार से या निश्चय से आवश्यक कर्मयोग करने पर व्यवहार और निश्चयत चित्तविशुद्धि होती है ऐसा कारण कार्यभाव की अपेक्षा से कहा गया है। कर्मयोग की साधना से भय, द्वेष, खेद, क्रोध, मान, माया, लोभ, निन्दा आदि दोषो का नाश होता है ।

३ योग एक स्राव है कर्म के बन्धन का

अभ्यास क्रम में

अपने आपको देखो

---

५ अध्यात्मसार-श्लो ५१८

वृत्ति की प्रवृत्ति सुषुप्त या जागृत,
कर्तृभाव-कर्त्तव्यदृष्टि की भ्रान्ति मे,
क्रियमान कर्म मे सतुलन,
कर्म से अकर्म मे जाने का उपाय।

सवर योग

सवर शब्दार्थ

सवर शब्द "सम्" उपसर्गपूर्वक "वृ" धातु से बना है। "सम्" पूर्वक "वृ" धातु का अर्थ रोकना होता है। जिस प्रवृत्ति के द्वारा कर्म के बन्धन को रोका जाय वह "संवर" है। "सु" धातु का अर्थ बहना होता है। अत "आ-स्रव" का अर्थ कर्मपुद्गलो का आत्मा मे बहना ऐसा होता है। कर्मपुद्गलो के इस स्राव का रुधन ही "सवर" है। जैसे-जैसे आत्मदशा विशुद्ध होती जाती है, वैसे-वैसे कर्मबन्ध अल्प होते जाते है । आस्रव का निरोध होता जाता है और गुणस्थान की भूमिका होती जाती है। अत आस्रव निरोध ही सवर कहा जाता है।

"सव्रियते-निरुध्यते कर्मण कारणं प्राणातिपातादि येन परिणामेन स सवर" अर्थात् कर्म के कारण रूप-प्राणातिपातादि का आत्मा के साथ जिस परिणाम विशेष का निरोध होता है, उसे सवर कहते है। अथवा **"निरुद्धासवे सवरो"** अर्थात् आत्मा मे जिन कारणो से कर्मो का आना रुक जाता है, उसे सवर कहते हैं।

आस्रव का निरोध होने पर आत्मा मे जिस पर्याय की उत्पत्ति होती है, वह शुद्धोपयोग है, इसलिए उत्पाद की अपेक्षा से सवर का अर्थ "शुद्धोपयोग" होता है। उपयोग स्वरूप शुद्धात्मा मे उपयोग का रहना या स्थिर होना सवर योग है।[१] पर्याय की अपेक्षा से यह कथन निश्चयनय का है। उपयोग स्वरूप शुद्धात्मा मे जब जीव का उपयोग रहता है, तब नये विकारी आस्रव का निरोध अर्थात् पुण्य-पाप के भाव रुकते है। इस अपेक्षा से सवर का अर्थ नये पुण्य-पाप के भाव का निरोध होता है।

शुद्धोपयोग रूप निर्मल भाव प्रकट होने पर आत्मा मे आने वाले नये कर्म रुकते है। अत कर्म की अपेक्षा सवर का अर्थ होता है नये कर्म आस्रव का रुकना। इस प्रकार यहॉ सवरयोग का अर्थ अनेक दृष्टि से हुआ है।

---

१ समयसार श्लोक १८१

सवर की परिभाषा

कुदकुदाचार्य के अनुसार सवर की व्याख्या इस प्रकार मिलती है कि--भेद विज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है और शुद्धात्मा की उपलब्धि से राग-द्वेष और मोह का अभाव होता है, ऐसा लक्षण जिसका है, उसे सवर कहते हैं ।[२]

द्रव्यसग्रह सटीक के अनुसार कर्मो के आस्रव को रोकने मे समर्थ स्वानुभव मे परिणत जीव के जो शुभ तथा अशुभ कर्मो के आने का निरोध है, वह सवर है ।[३]

इस प्रकार आत्मा का शुद्ध पर्याय होने पर आस्रव का निरोध होता है तथा आत्मविजय की प्राप्ति से सवर तत्व उत्पन्न होता है । यह सवर रूप ज्योति अर्थात् पररूप से भिन्न स्व सम्यक् स्वरूप मे निश्चल रूप से प्रकाशमान, चिन्मय, उज्ज्वल और निज रस से परिपूर्ण हो जाती है तब उसे सवर कहते हैं ।[४]

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय मे बारह अनुप्रेक्षाओ का उल्लेख मिलता है, उनमे सवर को अनुप्रेक्षा भी कहा है,[५] वहॉ पडित उग्रसेन कृत टीका पृष्ठ २१८ मे सवर का अर्थ इस प्रकार प्राप्त होता है । जैसे--

जिन पुण्य पाप नहीं कीना, आतम अनुभव चितदीना,
तीन ही विधि आवत रोके, सवर लहि सुख अवलोके ॥

अर्थात् जो साधक पुण्य-पाप से पर होकर स्वानुभव मे स्थित होता है, वह साधक आने वाले कर्मो को रोकता है और सवर की प्राप्ति करवाता है । द्रव्य और भाव सवर के आधार पर जयसेनाचार्य ने भी अपना मतव्य प्रस्तुत किया है--

अत्र शुभाशुभ सवर समर्थ
शुद्धोपयोगो भाव सवर,
भाव सवराधारेण नवतर कर्म निरोधो द्रव्य संवर इति तात्पर्यार्थः[६] ।

यहॉ शुभाशुभ भाव को रोकने मे समर्थ जो शुद्धोपयोग है वह भाव सवर है, भाव सवर के आधार पर नवीन कर्मो का निरोध होना द्रव्य सवर है ।

---

२ समयसार/आ/१८३/क १२६

३ द्रव्यसग्रह/टीका/२८/८५/१२

४ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय गा २०५

५ पचास्तिकाय गा १४२ की टीका

६ पचास्तिकाय गा १४४ की टीका

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने सवर की परिभाषा को अनेकान्त की अपेक्षा से प्रस्तुत किया है—

"शुभाशुभपरिणामनिरोध संवरः शुद्धोपयोग."

शुभाशुभ परिणाम के निरोध से जो सवर होता है, वह शुद्धोपयोग है।"[७] इस प्रकार सवर से आस्रव का निरोध होता है, तथा आस्रव बध का कारण होने से सवर होने पर बन्ध का भी निरोध होता है।[८]

कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार मे कहा है कि शुद्धात्मा को जानने और अनुभव करने वाला जीव शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त होता है, और अशुद्ध आत्मा को जानने एव अनुभव करने वाला जीव अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त होता है।[९] इस प्रकार आत्मा का जो भाव ज्ञान दर्शन रूप उपयोग को प्राप्त कर योगो की क्रिया से विरक्त होता है, और नवीन कर्मो के आस्रव को रोकता है, वह सवर तत्व है। शुभाशुभपरिणामनिरोध रूप सवर और शुद्धोपयोग रूप योगो से सयुक्त भेदविज्ञानीजीव अनेक प्रकार के अतरग बहिरग सद् असद् अनुष्ठान तथा तप द्वारा उपाय करता है इससे निश्चय ही अनेक कर्मो की निर्जरा होती हैं।[१०] राग-द्वेष मोह रूप जीव के विभाव का न होना और दर्शन ज्ञान रूप चेतन भाव का स्थिर होना सवर है, यह जीव का निजी स्वभाव है। इससे पुद्गल कर्मजनित भ्रमण दूर होता है और कर्म की निर्जरा एव मोक्ष की प्राप्ति होती है।[११]

जितना प्रमाण सम्यग्दर्शन का होता है, उतना ही प्रमाण सवर का होता है, और जितना प्रमाण राग-द्वेष का होता है, उतना प्रमाण बन्ध का होता है। इस प्रकार ज्ञान और चारित्र के प्रमाणानुसार सवर का प्रमाण होता है।[१२]

सवर धर्म है, जीव जब सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तब सवर प्रारम्भ होता है, सम्यग्दर्शन के बिना कभी भी यथार्थ सवर नही होता। सम्यग्दर्शन प्रकट करने के लिये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन नव तत्वो का स्वरूप यथार्थरूप से जानना चाहिए।

सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद, जीव के आशिक वीतरागभाव और आशिक

---

७ श्लोकवार्तिक सस्कृत टीका २ पृष्ठ-४८६
८ समयसार गा १८६
९ पचास्तिकाय-गा १४४
१०. अष्ट पाहुड—भावप्राभृत—गा ११४
११. अष्ट पाहुड—भावप्राभृत—गा ११४
१२ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय गा २१२ से २१४

सरागभाव होता है वहाँ ऐसा समझना कि वीतराग भाव के द्वारा सवर होता है और सरागभाव के द्वारा बध होता है।

कई आचार्य अहिसा आदि शुभास्रव को सवर मानते है। किन्तु यह भूल है। शुभास्रव से तो पुण्यबध होता है। जिस भाव द्वारा बध हो उसी भाव के द्वारा सवर नही होता। किन्तु आत्मा के जितने अश मे सम्यग्दर्शन है उतने अश मे सवर है और बध नही, किन्तु जितने अश मे राग है उतने अश मे बध है, जितने अश मे सम्यग्ज्ञान है उतने अश मे सवर है, बध नही तथा जितने अश मे सम्यक्चारित्र है उतने अश मे सवर है, बध नही, किन्तु जितने अश मे राग है उतने अश मे बध है।[१३]

इस विषय मे प्रश्न उपस्थित होता है कि सम्यग्दर्शन सवर है और बन्ध का कारण नही तो फिर सम्यक्त्व को भी देवायुकर्म के आस्रव का कारण क्यो कहा ? तथा दर्शन विशुद्धि से तीर्थकर कर्म का आस्रव होता है ऐसा क्यो कहा ?

इसका अभिप्राय यही है कि तीर्थकर नामकर्म का बन्ध चौथे गुणस्थान से आठवे गुणस्थान के छठे भाग पर्यन्त होता है और तीन प्रकार के सम्यक्त्व की भूमिका मे यह बन्ध होता है। वास्तव मे (भूतार्थनय से-निश्चयनय से) सम्यग्दर्शन स्वय कभी भी बन्ध का कारण नही है, किन्तु इस भूमिका मे रहे हुए राग से ही बन्ध होता है। तीर्थकर नामकर्म के बन्ध का कारण भी सम्यग्दर्शन स्वय नही, परन्तु सम्यग्दर्शन की भूमिका मे रहा हुआ राग बन्ध का कारण है। जहाँ सम्यग्दर्शन को आस्रव या बध का कारण कहा हो वहाँ मात्र उपचार (व्यवहार) से कथन है ऐसा समझना, इसे अभूतार्थनय का कथन भी कहते हैं। सम्यग्ज्ञान के द्वारा नयविभाग के स्वरूप को यथार्थ जानने वाला ही इस कथन के आशय को अविरुद्ध रूप से समझता है।

निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव के चारित्र की अपेक्षा से दो प्रकार हैं- सरागी और वीतरागी। उनमे से सराग-सम्यग्दृष्टि जीव राग सहित है। अत राग के कारण उनके कर्म प्रकृतियो का आस्रव होता है और ऐसा भी कहा जाता है कि इन जीवो को सरागसम्यक्त्व है, परन्तु यहाँ ऐसा समझना कि जो राग है वह सम्यकत्व का दोष नही किन्तु चारित्र का दोष है। जिन सम्यग्दृष्टि जीवो को निर्दोष चारित्र है उनको वीतराग सम्यक्त्व कहा जाता है, वास्तव मे ये दो जीवो को सम्यग्दर्शन मे भेद नही किन्तु चारित्र के भेद की अपेक्षा से ये दो भेद है। जो सम्यग्दृष्टि जीव चारित्र के दोष सहित हैं उनको सराग सम्यक्त्व है ऐसा कहा जाता है और जिस जीव को निर्दोष चारित्र है उनके वीतराग सम्यक्त्व है ऐसा कहा जाता है। इस तरह चारित्र की सदोषता या

---

१३ देखिए पुरुषार्थ सिद्धयुपाय गाथा २१२ से २१४

निर्दोषता की अपेक्षा से ये भेद हैं। सम्यग्दर्शन स्वय सवर है और यह तो शुद्ध भाव ही है। इसीलिये यह आस्रव या बध का कारण नही है।

संवर साधना और प्रक्रिया

कर्म का केन्द्र बिन्दु है आस्रव और साधना का केन्द्र बिन्दु है सवर। अनन्त काल से आस्रव मे घिरा हुआ साधक घोर अधकार मे सोया है उसे पता ही नही कि प्रकाश का द्वार कहॉ है। आस्रव और सवर दोनो एक-दूसरे के विरोधी हैं। जहॉ आस्रव होता है वहॉ सवर नही रहता, जहॉ सवर होता है वहॉ आस्रव नही टिकता। आस्रव अधकार है, सवर प्रकाश। जैसे-जैसे अधकार टूटता है, प्रकाश छा जाता है। प्रकाश के रहने पर अधकार को अवकाश नही। राग-द्वेष को स्थान नही। सवर प्रकाश है। निरावरण चैतन्य का अनुभव है। निरावरण सम्यक् की साधना है। सम्यक् साधना ही सवर साधना है। सवर की साधना शाति की साधना है। निर्विकल्प की साधना है। सूक्ष्म साधना है, शुभयोग की साधना है, स्वाधीनता की साधना है।

सवर बीज रूप से तो स्वत सभी भव्यात्मा मे विद्यमान है, किन्तु जब व्यक्ति भोग्य पदार्थो मे आबद्ध हो जाता है तब आसक्ति, लोभ, मोह आदि विकारो मे बदल जाता है। जैसे नदी का निर्मल जल किसी गड्ढे मे आबद्ध होने से विकृत हो जाता है और अनेक विषैले कीटाणु पैदा करता है। इसी प्रकार आस्रव चारो ओर से सवर को घेरता है और विषैले कीटाणुओ को फैलाता है। इस विकृति का नाश करने के लिए प्रायोगात्मक उपाय ही आवश्यक हैं।

सवर के क्षेत्र मे चार प्रक्रिया समर्थ है—त्याग, वैराग्य, पश्चाताप, प्रायश्चित्त। इन्द्रियो की विजय, शब्द रूप, रस, गध आदि विषयो के त्याग से है। त्याग सवर की प्रक्रिया है। वैराग्य-त्याग करने पर जो सज्ञाऍ जागृत हैं उन पर वैराग्य होता है। जैसे उपवास आहार के त्याग से होता है, किन्तु पश्चात्ताप आहार के स्वाद से किये हुए पापो का होता है। पाप करना बुरा है किन्तु पाप होने के पश्चात् पश्चात्ताप न होना महापाप है। स्वस्वरूप को छोडकर राग-द्वेष की प्रक्रिया पाप है। राग-द्वेष के अनुभव से सक्लेश के ततु जुडे हुए है, इस ततु को तोडने के लिए पश्चाताप ही एक साधना है, पश्चाताप ही एक सवर है। पश्चाताप होने पर ही प्रायश्चित होता है। सकल्प करे कि राग-द्वेष जिससे पैदा होवे वैसी प्रक्रिया न करना प्रायश्चित सवर है।

संवर के कारण

तीन गुप्ति, पाच समिति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाबीस परीषहजय और पॉच चारित्र इन छह कारणो से सवर होता है। जिस जीव के सम्यग्दर्शन होता है उसके ही सवर के ये छह कारण होते हैं।

४ योग एक पद्धति है,
सवर मे जाने की
अभ्यास क्रम में
वृत्ति शोधन का उपाय समझो
काम, क्रोध आदि विषय-कषाय का प्रतिकार
गलत आदतो पर नियन्त्रण
क्रिया-प्रतिक्रिया से अक्रिया
निवृत्ति की साधना विकल्पो का शोधन।

आज्ञा योग

जैन वाड्ग्मय मे जैन आचार विधानो मे आज्ञायोग का स्थान अपूर्व है। जैनागमो मे धर्मध्यान एव शुक्लध्यान को मोक्ष का हेतु माना गया है। आज्ञायोग धर्मध्यान के चार भेदो (आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय) मे प्रथम हैं।[१] अत जैन वाड्ग्मय मे आज्ञायोग का स्थान सर्वोपरि है, सर्वोत्तम , एव मोक्ष सिद्धि का परम उपाय रूप है।

आज्ञायोग क्या है ?

आज्ञायोग याने जिनेश्वर भगवन्त का जिनवचन, जिनागम या जिनाचार का भाव युक्त बहुमान, आदर, सत्कार और पुरस्कार। आज्ञा बहुमान का बाह्यलिग आचार विधि है। जिन आज्ञा विधि और उसका विशुद्ध अनुष्ठान ही निरतिचार आज्ञापालन है।

विशेषावश्यक भाष्य मे अनुष्ठान को ही आज्ञा कहा है।[२] अनुष्ठान, आदेश, निर्देश, कर्त्तव्य, आचारविधि इत्यादि आज्ञा के ही पर्यायवाची शब्द हैं।

"आज्ञायोग की चिन्तन-विधि"

यथाशक्य आज्ञा जिनवचन का बहुमान शुभ धर्मध्यान रूप अनुष्ठान है। वीतराग भगवन्तो से प्ररूपित आगमानुसार पदार्थो का निश्चय करना, श्रवण करना, चिन्तन करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है।[३]

साधु जीवन आचार विधि का प्राण है। आचार विधि युक्त सदनुष्ठान से चारित्र

---

१ (क) तत्त्वार्थसूत्र--९/३७
(ख) ज्ञानार्णव श्लोक ५ पृ ३३७, सर्ग ३३
(ग) आवश्यक निर्युक्तेखचूर्णि पृ ८०
(घ) योग शास्त्र दशम प्रकाश श्लो ७ पृ २५ ६
(ङ) अध्यात्मसार श्लोक ३६ पृ ३५३
(च) शास्त्रवार्ता समुच्चय--९/२०

२ अभिधान राजेन्द्रकोष पृ १३०

३ ज्ञानार्णव--सर्ग ३३ श्लोक ८

मोहनीय कर्म के क्षयोपक्षम के अभाव मे छठवॉ गुणस्थान सभवित नही। चरित्र मोहनीय के क्षयोपशम से वीर्यान्तराय का क्षयोपशम होता है, क्योकि इन दोनो का अविनाभावी सम्बन्ध है। जिन-आज्ञा विधि युक्त आचारं से सम्पूर्ण पाप वृत्ति रूप विष का नाश होता है। जैसे बाह्य विष भयकर होने पर भी विधियुक्त मन्त्र जप से निष्फल होता है, उसी तरह अविधि से उत्पन्न कर्म का अनुबन्ध आज्ञा योग से, ही हटाया जा सकता है। विधियुक्त आलोचना-प्रायश्चित्त इत्यादि अनुष्ठानो का समावेश भी आज्ञायोग मे हो जाता है। ध्यानशतक मे जिनेश्वर भगवन्तो की आज्ञा चिन्तन विषयक तेरह विशेषण बताये हैं। जैसे-

(१) सुनिपुण, (२) अनादिनिधन, (३) भूतहिता, (४) भूतभावना, (५) अनर्घ्य, (६) अमिता, (७) अजिता, (८) महत्त्व, (९) महानुभाव, (१०) महाविषय, (११) निरवघ, (१२)अनिपुण दुर्ज्ञे और (१३) नयभर्ग[४]

योगशास्त्र मे सर्वज्ञो की आज्ञा को ही सर्वोपरि मानकर उसका तात्त्विक रूप से अर्थों का चिन्तन करना आज्ञा ध्यान कहा गया है, क्योकि सर्वज्ञ की आज्ञा तर्क एव युक्तियो से अबाधित, पूर्वापर विचारो से अविरोधी, सूक्ष्मतास्पर्शी एव असत्य भाषण रहित होती है।[५]

"आज्ञा योग ही धर्म है"

आज्ञायोग याने आगम युक्त विधि का धर्मयोग। शासन मान्य विधि युक्त धर्म से किया हुआ समस्त अनुष्ठान आज्ञायोग है। समस्त विभाग से आत्मा को व्यावृत्त कर स्वभाव मे अनुरक्त होना जिन भगवन्त की प्रमुख आज्ञा है। आज्ञायोग का प्रमुख सूत्र है **"आणाएधम्मो आणाए तवो"** आज्ञा ही धर्म है और आज्ञा ही तप है। जिन आज्ञा का आराधन सिद्ध पद का सर्वश्रेष्ठ उपाय है और विराधन ससार का हेतु है। आज्ञां को ही श्रीमद् राजचन्द्र जी ने परम् पुरुष की प्रमुख भक्ति कहा है। इसी प्रकार जिन भगवन्तो ने हेय स्वरूप आश्रव और उपादेय स्वरूप सवर को भी शाश्वत आज्ञा का स्वरूप दिया है। वीतराग स्तव मे श्री हेमचन्द्राचार्य ने आज्ञा को "आर्हती मुष्टिका" विशेषण दिया है। आश्रव से बन्ध और सवर से मोक्ष रूप "आर्हती मुष्टि" रूप आज्ञा की आराधना, उपासना और साधना में तत्पर तन्निष्ठ ऐसे अनन्तजीव अतीत मे परिनिवृत्त हुए हैं, वर्तमान मे क्षेत्र पर्यायानुसार परिनिर्वाण मोक्ष को प्राप्त कर रहे हैं, और अनागत काल

४ ध्यानशतक श्लोक ४५/४ पृ १४४
५ योगशास्त्रश्लोक-८/९ पृ २५७ दशम प्रकाश

मे निर्वाण को प्राप्त करेगे। यह नियम सत्य है।[६] "जिन वचन की आज्ञा का आराधक" अन्तर्मुहूर्त मे कैवल्यज्ञान प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार क्षीणमोह पर्यन्त सर्वज्ञ की आज्ञा का अवलम्बन आवश्यक है। अत कर्म रूपी कैद से मुक्त होने के लिये आज्ञा ही सर्वोत्तम है।[७]

"जिनाज्ञा ज्ञेय स्वरूप में विरोधी पॉच हेतु"

१ मतिदौर्बल्यता अर्थात् बुद्धि की जडता हो या मन की विक्षिप्त दशा हो,

२ दोनो स्थिति मे उपदेश श्रवण करते समय मन मे सम्यक अवधारणा नही होती,

३ अगर जड बुद्धि न हो तो भी विक्षिप्त और यातायात दशा होने से सम्यक् भाव की परिणति नही होती।

४ बुद्धि हो किन्तु तथाविध आज्ञार्थ का अभाव हो तो यर्थाथ बोध का प्रतिपादन भी नहीं हो सकता।

५ यदि बुद्धि एव यथार्थ दोनो की सप्राप्ति हो किन्तु ज्ञेय की गहनता हो तब भी यथार्थ बोध नही होता है।

विधि सेवन से लाभ

जिनेश्वर भगवन्त अचिन्त्य चिन्तनीय है[८] अत उनकी आज्ञा को मान्य करने वाला, धर्म का आदर करने वाला, विधि तत्पर और उचितवृत्ति वाला है।[९] धर्म के प्रति बहुमान होने पर ही विधि तत्परता पर श्रद्धा होती है। क्योकि विधि प्रयोग भाव प्रधान है, श्रद्धा का सम्बन्ध सवेगादि शुभ आत्मपरिणामस्वरूप की पुष्टि करता है। तात्पर्य यह है कि वह धर्म का अनुरागी हो अर्थात् अन्य पुरुषार्थ की अपेक्षा धर्म की प्रधानता रखता हो तभी वह धर्माचरण मे उपयोगी, अच्छा सवेग सभ्रमादि भावोल्लासी हो सकता है। भावोल्लास के सद्भाव से अर्थात् विधियुक्तता से उचित वृत्ति सभव है। विधि के अभाव मे उचित वृत्ति का भी अभाव होता है। अर्थात् इस लोक सम्बन्धी ही नही, परलोक मे अहित होने से कृत्य करने वालो का दूर से ही परित्याग करना चाहिए।[१०] आज्ञा का बहुमान करने से त्रिभुवन गुरु श्री अरिहन्त परमात्मा का सच्चा

---

६ वीतराग स्तव श्लोक ४ से ७, पृ ३५१ से ३५८
७ वही ८, पृ ३५९
८ सिद्धसेन दिवाकर कृत सक्रस्तव
९. ललित विस्तरा पृ १३
१० ललित विस्तरा पजिका पृ १५

बहुमान होता है, लोक सज्ञा का परित्याग होता है और वास्तविक धर्म का आचरण होता है। अत जिनाज्ञासुसारिता मे धर्मानुराग सुरक्षित रहता है।[११]

"अविधि के सेवन से महाअकल्याण"

विधिवत् सम्यक्त्व का आसेवन करने वाले महाकल्याण को प्राप्त होते हैं, किन्तु अविधि के आसेवन से अनधिकारी जीव महत् अकल्याण को प्राप्त होते हैं। अविधि से अनुष्ठान करने वाले पक्षपाती स्व मत की पुष्टि हेतु अपना प्रस्ताव रखते हैं कि अविधि से होने वाले अनुष्ठान से तीर्थ का रक्षण होता है। यह असत् आलम्बन है क्योकि अविधि युक्त धर्मानुष्ठान करने से मृषावाद का पाप और शुद्ध क्रिया का लोप, उभय हानि होती है। विपरीत विधि से अशुद्धता की वृद्धि, सूत्रोक्त क्रिया का अभाव, अतिक्रम, अतिचार और अनाचार का आसेवन इत्यादि दोष भी उपस्थित होते हैं।

आज्ञा विराधन अनुष्ठान मे स्वेच्छा से प्रवृत्ति करने पर उस महाविधि की लघुता होती है। इससे पूज्य की पूजा स्वरूप शिष्टाचार का परित्याग होता है। अर्थात् अर्हन्त भगवन्त का सर्व आदेश शिरोधार्य करना यही शिष्ट पुरुषो का आचार है, उसका लोप होता है। फलत दूसरे उपाय से भी सभावित ऐसे जो शुभ अध्यवसाय और इससे जनित विशिष्ट कर्म क्षय एव कल्याण स्वरूप इष्ट फल, उनकी सिद्धि की भी अवश्य रुकावट हो जाती है। आज्ञा भग से कल्याणकारी वास्तविक शुभ अध्यवसाय की भूमिका ही नष्ट प्राय हो जाती है।

पूर्वधर महात्माओ ने आत्महितार्थ धर्मानुष्ठान का उपदेश दिया है। उसका विनाश या अशुद्ध व्यवहार से अधर्म की वृद्धि और उससे महामोह कर्म का जो अनुबन्ध होता है उससे भी अविधि के उपदेशकर्त्ता महान् दोष के पात्र होते हैं। उत्सूत्र प्ररूपणा शरणागत का शिरोच्छेद्‌वत् है।[१२] लोक एव प्रमाणम्" इस उक्ति के अनुसार जो लोक सज्ञा गतानुगतिक प्रेरणा है, यह भी हानिप्रद है। क्योकि जहाँ तक सर्वज्ञ ।। सिद्धान्तो का रहस्य गीतार्थो से ज्ञेय नही तब तक विधि युक्त अनुष्ठान उपादेय नही हो सकता[१३]

जो शिथिलाचारी गुरु भोले शिष्यो को धर्म के नाम से अपने जाल मे फसाते ह और अविधि (शास्त्रविरुद्ध) धर्म का उपदेश करते हैं उनसे जब कोई . . . उपदेश न देने के लिये कहता है तब वे धर्मोच्छेद का भय दिखाकर उद्धत हो ...

---

११ ललित विस्तरा पजिका पृ १८
१२ योगविंशिका गा १४/१५ षोडषक १० गा १४/१५
१३ योगविंशिका गा १६

उठते हैं "जैसा चल रहा है वैसा चलने दो, वैसा चलते रहने से ही धर्म टिक सकेगा। बहुत विधि (शास्त्रअनुकूलता) का ध्यान रखने मे शुद्ध क्रिया तो दुर्लभ ही है, अशुद्ध क्रिया भी जो चल रही है वह छूट जायेगी और अनादिकालीन अक्रियाशीलता (प्रमाद्वृत्ति) स्वय लोगो पर आक्रमण करेगी, जिससे धर्म का नाश होगा। "इसके सिवाय वे अपने अविधि मार्ग के उपदेश का बचाव यह कहकर भी करते हैं कि "जैसे धर्मक्रिया नही करने वाले के लिए हम उपदेशक दोषभागी नही होते। क्योकि हम तो क्रियामात्र का उपदेश देते है, जिससे कम से कम व्यावहारिक धर्म तो चालू रहता है और इस तरह हमारे उपदेश से धर्म का नाश होने के बदले धर्म की रक्षा ही हो जाती है।"

ऐसा निरर्थक बचाव करने वाले उन्मार्गगामी उपदेशक गुरुओ से ग्रन्थकार कहते हैं कि एक व्यक्ति की मृत्यु स्वय हुई हो और दूसरे व्यक्ति की मृत्यु किसी अन्य के द्वारा हुई हो इन दोनो घटनाओ मे बडा अन्तर है। पहली घटना का कारण मरने वाले व्यक्ति का कर्म मात्र है, इससे उसकी मृत्यु के लिए दूसरा कोई दोषी नही है। परन्तु दूसरी घटना मे मरने वाले व्यक्ति के कर्म के उपरान्त मारने वाले का दुष्ट आशय भी निमित्त है, इससे उस घटना का दोषी मारने वाला भी है। इसी तरह जो लोग स्वय अविधि से धर्मक्रिया कर रहे हैं उनका दोष धर्मोपदेशकर्ता पर नही है, पर ज़ो लोग अविधिमय धर्मक्रिया का उपदेश सुनकर उन्मार्ग पर चलते है उनकी जवाबदारी उपदेशक पर अवश्य है। धर्म के जिज्ञासु लोगो को अपनी क्षुद्रस्वार्थवृत्ति के लिए उन्मार्ग का उपदेश करना वैसा ही विश्वासघात है जैसा शरण मे आये हुए का सिर काटना। जैसा, चल रहा है ऐसा चलने दो यह दलील भी ठीक नही है, क्योकि ऐसी अपेक्षा रखने से शुद्ध धर्मक्रिया का लोप हो जाता है।

विधि-मार्ग के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहने से कभी किसी एक व्यक्ति को भी शुद्ध धर्म प्राप्त हो जाय तो उसको चौदह लोक मे अमारीपटह बजवाने की सी धर्मोन्नति हुई समझना चाहिए अर्थात् विधिपूर्वक धर्मक्रिया करने वाला एक व्यक्ति भी अविधिपूर्वक धर्मक्रिया करने वाले हजारो लोगो से अच्छा है।

अनार्यो से आर्य थोडे है, आर्यो मे भी जैनो की सख्या कम है। जैनो मे भी शुद्ध-श्रद्धा वाले कम है और उनमे भी शुद्ध चारित्रवाले कम हैं। और कोई शुद्ध चारित्र वाले में भी समभावी अत्यन्त अल्प होते हैं।

क्रिया बिल्कुल न करने की अपेक्षा कुछ न कुछ क्रिया करने को ही शास्त्र मे अच्छा कहा गया है, इसका मतलब यह नही कि अविधि मार्ग मे ही प्रवृत्ति करने लगना। अगर असावधानीवश कुछ भूल हो जाये तो उस भूल से डरकर विधि मार्ग को

ही नहीं छोड देना चाहिए किन्तु भूल सुधारने की कोशिश करते रहना चाहिए। प्रथमाभ्यास मे भूल हो जाना सम्भव है पर भूल सुधार लेने की दृष्टि तथा प्रयत्न हो तो वह भूल भी वास्तव मे भूल नहीं है। इसी अपेक्षा से अशुद्धक्रिया को भी शुद्ध क्रिया का कारण कहा गया है। जो व्यक्ति विधि का बहुमान न रखकर अविधि क्रिया करता है उसकी अपेक्षा नही करने वाला किन्तु विधि के प्रति बहुमान रखनेवाला, श्रेष्ठ है।[१४]

४ योग एक विधान है परमात्मा की आज्ञा का
स्व निरीक्षण की क्षण
अभ्यास क्रम में
अनुशासन दूसरों की अपेक्षा अपने पर,
आज्ञा सबके लिए समान है,
सत्य की खोज आज्ञा विधि से,
आतरिक मलिनता का विशोधन।
आज्ञायोगवत् लेना।

१४ पातञ्जल योग वृत्ति—पृ १२६-१३२

६. तनाव मुक्ति का परम उपाय: आंतरिक दोषों की आवश्यक आलोचना

आवश्यक योग

प्रत्येक आवश्यक अनुष्ठान को योगियो ने योग क्रिया कहा है। आवश्यक प्रक्रियाओ से योग सिद्ध हो सकता है। इसलिए ही साधुओ को यह क्रिया सुबह-शाम अनिवार्य रूप से अवश्य करनी पडती है। शास्त्र मे भी ऐसा विधान है कि प्रथम और चरम तीर्थकर के साधु आवश्यक योग क्रिया नियम से करे। अतएव यदि वे उस आज्ञा का पालन न करे तो साधु पद के अधिकारी ही नही समझे जा सकते।

"आवश्यक" किसे कहते हैं ?

अवश्य करणाद् आवश्यकम्। जो क्रिया अवश्य करने योग्य है उसी को आवश्यक" कहते हैं।

आवश्यक के पर्याय

अनुयोगद्वार सूत्र मे आवश्यक के पर्याय शब्द प्राप्त होते हैं जैसे—आवश्यक, अवश्य करणीय, ध्रुव-निग्रह विशोधि, अध्ययन षट्क वर्ग, न्याय, आराधना और मार्ग इत्यादि।[१]

अनुयोग द्वार सूत्र मे कहा है कि भाव आवश्यक मे रहने वाला साधक अतर्दृष्टि मे स्थित, व्यवहार से पर, अध्यात्म मे लीन, समभाव मे आसीन रहता है। अन्तर्दृष्टि वाले साधक वदन, नमस्कार आदि गुणो से गुणानुरागियो की स्तुति प्रशसा करते हैं। इस प्रकार भाव आवश्यक करने वाले अन्तर्आत्म योगी बार-बार ध्यानकायोत्सर्ग आदि अनुष्ठानो मे क्रियान्वित रहते हैं। ध्यान द्वारा चित्त शुद्धि करते हुए वे आत्मस्वरूप मे विशेषतया लीन हो जाते हैं। भावआवश्यक का स्वरूप अनुयोगद्वार सूत्र मे इस प्रकार है—

"जं णं" इमे समणो वा समणी वा सावओं वा साविया वा लोगुत्तरियं भावावस्सयं"

अनुयोगद्वार सूत्र मे और भी आवश्यक सूत्र के छ प्रकार दर्शाये हैं—सामाइय, चउवीसत्थओ, वदणय, पडिक्कमण, काउस्सग्गो, पच्चक्खाण।

---

१. अनुयोगद्वार सूत्र २६ भा १ पृष्ठ १७८

१ **सामायिक**—समभाव, समता।
२ **चतुर्विंशतिस्तव**—वीतराग देव की स्तुति।
३ **वन्दन**—गुरुदेवो को वदन।
४ **प्रतिक्रमण**—सयम मे लगे हुए दोषो की आलोचना।
५ **कायोत्सर्ग**—शारीरिक ममत्व का त्याग।
६ **प्रत्याख्यान**—आहारादि की आसक्ति का त्याग।

१ **सामायिक योग**—सम् उपसर्गपूर्वक गति अर्थवाले इण् धातु से समय शब्द होता है। सम का अर्थ एक ही भाव और यिक का अर्थ गमन है। एक ही भाव रूप बाह्य परिणति से विमुख होकर आत्मा के समीप आना समय कहा जाता है और समय का भाव सामायिक[२]। सामायिक करने वाला साधक-राग और द्वेष के वश न होकर समभाव-माध्यस्थ भाव मे स्थिर रहता है, अर्थात् सबके साथ आत्मतुल्य व्यवहार करता है।[३] ऐसी सामायिक को हम तीन स्वरूप मे देख सकते हैं – १ सम्यक्त्व सामायिक, २ श्रुतसामायिक और ३ चारित्र सामायिक। तीनो प्रकार की सामायिक से समभाव मे स्थित रहा जा सकता है। चारित्र सामायिक भी अधिकारी की अपेक्षा से देश और सर्व मे दो प्रकार के हैं। देश सामायिक चारित्र-गृहस्थो को और सर्व सामायिक चारित्र-साधुओ को होता है।[४] समता, सम्यक्त्व शान्ति सुविहित आदि शब्द सामायिक के पर्याय है।[५]

२ **चतुर्विंशतिस्तव योग**—चौबीस तीर्थकर, जो कि सर्वगुणसम्पन्न आदर्श हैं, उनकी स्तुति-कीर्तन करना चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक है। इस आवश्यक के द्रव्य और भाव ऐसे दो भेद हैं। तीर्थकरो की पूजा अर्चना आदि द्रव स्तव है और उनके वास्तविक गुणो का कीर्तन आदि भावस्तव है।[६] भावस्तव द्वारा साधक के अहभाव का नाश होता है, सद्गुणो के प्रति अनुराग होता है, और पाप कर्मो से उन्मुक्त होता है।

३ **वदन योग**—मन, वचन और काया द्वारा पच अग से प्रणाम करना वदन है। वदन द्वारा पूज्यो के प्रति बहुमान प्रगट किया जाता है। आगमो मे वदन के चिति-कर्म, कृति-कर्म पूजा-कर्म आदि पर्याय प्रसिद्ध है।[७]

---

२ सर्वार्थसिद्धि—७-११
३ आवश्यक वृत्ति—पृ ५३
४ आवश्यक निर्युक्ति—७९६
५ आवश्यक वृत्ति—पृ ४९२
६ आवश्यक निर्युक्ति—गा ११०३
७ आवश्यक निर्युक्ति—गा ११०६

जैन धर्मानुसार द्रव्य और भाव, उभय चारित्र सम्पन्नमुनि, त्यागी, वैरागी, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर तथा गुरुदेव आदि वदनीय हैं।[८]

४. प्रतिक्रमण योग—**"प्रतीपं क्रमण प्रतिक्रमण", अयमर्थ—शुभ योगेभ्यो ऽशुभ** योगान्तर क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमाणात्प्रतीप क्रमणम्।[९] हेमचन्द्राचार्य कृत योगशास्त्र के **तृतीय प्रकाश** की सोपज्ञवृत्ति मे एक व्युत्पत्ति है।

शुभ योग से अशुभ योग मे पहुँचने पर पुन शुभ योग प्राप्त करना प्रतिक्रमण कहा जाता है।[१०]

द्वितीय व्याख्या मे आचार्यश्री ने प्रतिक्रमण का भाव इस प्रकार बताया है कि—रागद्वेषादि औदयिक भाव ससार का मार्ग है और समता, क्षमा, दया, नम्रता आदि क्षायोपशमिक भाव मोक्षमार्ग है। क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव मे परिणत साधक जब पुन औदयिक भाव से क्षायोपशमिक भाव मे लौटता है तो वह भी प्रतिफल गमन के कारण प्रतिक्रमण कहा जाता है।

तीसरी व्याख्या मे भी अशुभ योग से निवृत्त होकर नि शल्य भाव से उत्तरोत्तर प्रत्येक शुभ योग मे प्रवृत्त होना प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण के प्रतिवरण, परिहरण, करण, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शोधित इत्यादि समानार्थक शब्द है।[११] इसी आवश्यक निर्युक्ति मे इन शब्दो के भावो को आत्मसात करने हेतु समझाया गया है।[१२]

५. कायोत्सर्ग योग—प्रतिक्रमण आवश्यक के पश्चात् कायोत्सर्ग[१३] का स्थान है। कायोत्सर्ग शब्द दो शब्दो के योग से बना है—इसमे काय और उत्सर्ग ये दो शब्द है।

---

८ आवश्यक निर्युक्ति—गा ११९५
९ योगशास्त्र तृतीय प्रकाश वृत्ति देखना।
१०. आवश्यक निर्यक्ति—गा ५५३
११ आवश्यक सूत्र—पृ ५५३
१२. आवश्यक निर्युक्ति—गा १२४२
१३ इसमे साधक कुछ समय के लिए शरीर को स्थिर कर, जिन मुद्रा धारण करके खडा हो जाता है, और मन मे सकल्प करता है कि—तस्स उत्तरीकरणेण पायच्छित करणेण, विसोही करणेण विसल्ली करणेण पावाण कम्माण निग्घायणट्ठाए ठामि काउसग्ग। अर्थात् सयम जीवन को विशेष रूप से परिष्कृत करने के लिए, लगे हुए दोषों का प्रायश्चित्त करने के लिए, आत्मा को विशुद्ध करने के लिए, शल्य रहित करने के लिए, पाप कर्मों का निर्धात उन्हे नष्ट करने के लिए, मैं कायोत्सर्ग करता हूँ इत्यादि।

कायोत्सर्ग द्वारा साधक अपनी भूलों के लिए प्रायश्चित्त करता है, मन मे पश्चाताप करता है और शरीर की ममता को त्याग कर उन दोषों को दूर करने के लिए कृत सकल्प बनता है।

दोनो का मिलकर अर्थ होता है काया की ममता का त्याग। देह का नही किन्तु देहबुद्धि का विसर्जन करना कायोत्सर्ग का उद्देश्य है।

कायोत्सर्ग से प्राप्त लाभ

कायोत्सर्ग से शारीरिक और बौद्धिक जडता दूर होती है। सप्त धातुओ मे अनेक धातुओ की विशेषता विनष्ट होती है। सकल्प शक्ति दृढ होती है। विकल्पो से विमुक्ति होती है। अनुकूल और प्रतिकूल वातावरण मे समभाव की शक्ति प्रकट होती है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भाव जागृत होते हैं। भावना और ध्यान का अभ्यास भी कायोत्सर्ग से ही पुष्ट होता है। अविचार का चिन्तन भी कायोत्सर्ग से विशुद्ध होता है। इस प्रकार देखा जाय तो कायोत्सर्ग बहुत महत्त्व की क्रिया है।

आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग के पाच फल बताये हैं–

(१) **दैहिक जडता की शुद्धि**–श्लेष्म आदि के द्वारा देह मे जडता आती है। कायोत्सर्ग से श्लेष्म आदि के दोष मिट जाते हैं। अत उनसे उत्पन्न होने वाली जडता भी नष्ट हो जाती है।

(२) **बौद्धिक जडता की शुद्धि**–कायोत्सर्ग मे चित्त एकाग्र होता है और बौद्धिक जडता नष्ट होती है।

(३) **सुख-दुख तितिक्षा**–सुख-दुख सहने की शक्ति प्राप्त होती है।

(४) **शुद्ध भावना** का अभ्यास होता है।

(५) **ध्यान की योग्यता** प्राप्त होती है।

६ **प्रत्याख्यान आवश्यक**–आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति मे कहा है–प्रत्याख्यान करने से सयम होता है, सयम से आस्रव-निरोध होता है और आस्रव-निरोध से तृष्णा का नाश होता है। तृष्णा के नाश से अनुपम उपशमभाव अर्थात माध्यस्थ परिणाम होता है और अनुपम उपशमभाव से प्रत्याख्यान की शुद्धि होती है।[१४] उपशमभाव से चारित्र धर्म प्रगट होता है, चारित्र धर्म से कर्मो की निर्जरा होती है और उससे अपूर्वकरण प्राप्त होता है। अपूर्वकरण से कैवल्य ज्ञान और कैवल्य ज्ञान से शाश्वत सुख रूप मुक्ति की प्राप्ति होती है।[१५]

६ योग का निरोध अयोग की पृष्ठ भूमिका पर–

अभ्यास क्रम मे

---

१४ आवश्यक निर्युक्ति–गा १५९५
१५ आवश्यक निर्युक्ति–गा ११९५

आंक्रमण-अतिक्रमण का प्रतिक्रमण करे
स्वानुभूति का चिन्तन, मनन
ममत्व की मूर्च्छा से पर
कायोत्सर्ग मे स्थिरीकरण,
इच्छाओ का निरोध-तप,

१

दृष्टि योग से अयोग दर्शन

---

१ साधना का प्रवेश द्वार – इच्छायोग स्वाभाविक संरक्षा की क्षमता-शास्त्रयोग आत्मवीर्य के अंतिम चरण की दो रेखा–

(i) धर्म संन्यास

(ii) योग संन्यास

२ औघदृष्टि और योगदृष्टि की भेद रेखा

३. दृष्टिओ से रूपान्तरण

१ विवेक का अभाव,

२. अज्ञानता होने पर भी गुणानुरागी के प्रति जिज्ञासा,

३ योग उपाय का प्रथम चरण,

४. समापत्ति का प्रादुर्भाव,

५. आत्मानुभव का आस्वादन,

६. आत्मसंप्रेक्षण, आचार शुद्धि, एकाग्र बुद्धि और स्थिरीकरण का प्रारम्भ

७. तत्त्वप्रतिपत्ति, विवेक ज्ञान विशुद्धि और असंगानुष्ठान की प्राप्ति,

८. अनाशक्ति की संप्राप्ति, निर्विकल्प की प्राप्ति और निर्वाण का आनन्द।

४ चौदह गुणों का क्रमारोह

चतुर्थ विभाग

(४) दृष्टि योग का आदि बिन्दु तनाव और चरम बिन्दु मुक्ति

अध्याय १ दृष्टि योग से अयोग दर्शन

अध्याय २ दृष्टिओ के विकास क्रम मे उत्तरोत्तर सवर्धन

योग दृष्टियो से अयोग तक पहुॅचने के लिए आचार्य हरिभद्रसूरि ने जो अपना मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है वह जैन दर्शन के लिए एक नयी दिशा है। योगदृष्टिओ को प्राप्त करने के साथ-साथ आचार्यश्री ने पिछली चार दृष्टियो के समय पाये जाने वाले विशेष आध्यात्मिक विकास को इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग ऐसी तीन योग भूमिकाओ मे विभाजित करके उक्त तीनो योग भूमिकाओ का रोचक वर्णन किया है।

समर्थ साधको के लिए ही साधना मार्ग मे प्रवृष्ट होने की इच्छा या रुचि जागृत होती है। रुचि एक ऐसा रासायनिक तत्त्व है कि प्राप्त होते ही समाधान की खोज मे साधक निकल पडता है वह है शास्त्रयोग जो समाधान को जन्म देता है और उसका पूर्ण विकास है सामर्थ्य योग जिसके द्वारा साधक अपनी पूर्णता प्राप्त कर पाता है।

इच्छायोग

इच्छायोग अर्थात् पूर्ण इच्छा से भाव नमस्कार[१] प्रतिक्रमणसूत्र मे भी **"इच्छामिणंमंते"**, **"इच्छामिखमासमणो**, **"इच्छाकारेण सदिसह भगवन्"** इत्यादि इच्छा प्रदर्शक पद से प्रारम्भ होता है। इसी प्रकार इच्छायोग मगलाचरण है साथ योग का प्रथम सोपान है और साधना का प्रवेश द्वार है।

इच्छायोग मे धर्म प्रवृत्ति की इच्छा का प्राधान्य होता है और क्रिया शुद्ध गौण मानी जाती है।

क्रिया तीन प्रकार की होती हैं–

१. **विषय शुद्ध क्रिया**–क्रिया का लक्ष्य तो शुद्ध है किन्तु कार्य अशुद्ध है।

२. **स्वरूप शुद्ध क्रिया**–लौकिक दृष्टि से शुद्ध है।

३. **अनुबन्ध क्रिया**–इस क्रिया मे चित्त की प्रशान्तवाहिता ध्येय निष्ठा अ तत्वसविज्ञा का प्राधान्य होता है।

---

१ प्रतिक्रमण सूत्र

शास्त्र योग

शास्त्र शब्द दो धातुओ से बना है। "शास्" और त्रैङ् शास् अर्थात् अनुशासन और त्रैङ् अर्थात् पालन। अनुशासन का उचित पालन आचार सविधा या आज्ञायोग मे समावित होता है। अत शास्त्र वही है जिसमे आत्महित शिक्षा का सामर्थ्य हो, स्वाभाविक सरक्षण की क्षमता हो[२] और सर्वज्ञ प्रणीत सत्यता हो।

सर्वगुणसम्पन्न केवली भगवन्त ही सर्वज्ञ होते हैं अत सर्वज्ञो की वाणी ही शास्त्र है।[३] शास्त्र से उचित ज्ञान और ज्ञान से अभय, अद्वेष, अखेद आदि की अवस्था और मिथ्या अज्ञान समझा जाता है।

शास्त्रयोगी क्रमश ज्ञानाध्ययन द्वारा विकास को प्राप्त करता हुआ यथाप्रवृत्तिकरण, पश्चात अपूर्वकरण और ग्रंथिभेद करता हुआ अनिवृत्तिकरण से आगे सम्यक्त्व प्राप्त करता है। विशुद्धि का प्रादुर्भाव होते ही अप्रमत्तयोग तीव्र बोध से प्रयुक्त होता है और शास्त्रानुसार अखण्ड साधना सधती है। फलस्वरूप वही शास्त्र जीवन बन जाता है कैवल्यज्योति प्रगट हो जाती है।

आकृति न ३

यथाप्रवृत्तिकरण	अपूर्वकरण ग्रन्थिभेद	अनिवृत्तिकरण सम्यक्त्व
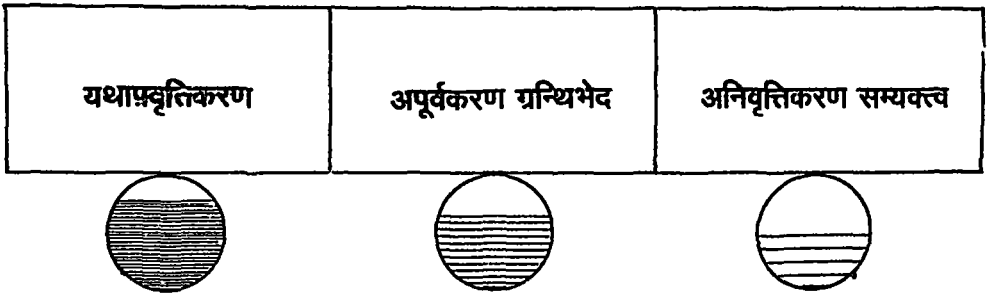
सामर्थ्य योग

सामर्थ्य साधक का स्वय का स्वात्म स्वभाव है। असमर्थता के आवरणो को तोडकर योग पद्धति द्वारा, शास्त्रयोग के अवलम्बन द्वारा जब साधक स्वात्म स्वभाव की सिद्धि स्वरूप सामर्थ्य को जगाता है जब सामर्थ्य योग सिद्ध होता है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने योग के भेदो मे अभेद सिद्धि से स्वात्म स्वभाव स्वरूप सामर्थ्य योग को इच्छायोग से प्रारम्भ कर शास्त्रयोग की सहायता से सिद्ध किया है।

---

२ प्रशमरति-श्लो १८८
३ ज्ञानसार-श्लो ३ शास्त्राष्टक

सामर्थ्ययोग का अर्थ है—आत्मा मे इतनी शक्ति (सामर्थ्य) प्रकट कर, जिससे अप्रमत्त योग की प्राप्ति होवे। आत्मा मे असख्यकाल से निहित विषय कषायादि दुष्ट भावो का नाश होवे। क्योकि सामर्थ्ययोग उच्चगुणस्थानो मे ही प्राप्त होता है। इसके मुख्यतया दो भेद है—(१) धर्मसन्यास सामर्थ्ययोग और (२) योगसन्यास सामर्थ्ययोग। ७वॉ गुणस्थान छोडने से ८वॉ गुणस्थान प्राप्त होने पर धर्म सन्यास – सामर्थ्ययोग आता है, जिसमे सातवे गुणस्थान तक करने के बाह्य धर्मानुष्ठान छोड देने होते हैं, जबकि योगसन्यास सामर्थ्य योग मे १३वे गुणस्थान अन्तर्मुहूर्त काल बाकी रहता है, तब मन, वचन, काया के निरोध करने की क्रिया शुरू होती है। वहॉ से ठेठ शैलेशीकरण के अन्तिम समय तक की अवस्था होती है।

आयोज्यकरण

आयोज्यकरण – योगसन्यास योग की पूर्वावस्था है। अचिन्त्य वीर्य शक्ति से और असाधारण सामर्थ्य से केवली भगवन्त समुद्घात करते हैं। केवली समुद्घात से पूर्व आयोज्यकरण होता है।

केवली समुद्घात

जिस केवली भगवन्त की वेदनीय आदि कर्मो की स्थिति आयुष्य कर्म से अधिक हो उन केवली भगवन्त को कर्मो के समीकरण के लिए समुद्घात करना पडता है[४] अथवा वेदना आदि निमित्तो से कुछ आत्मप्रदेशो का शरीर से बाहर निकलना समुद्घात है[५]।

शैलेशीकरण

आयोज्यकरण एव समुद्घात का परिणाम योगसन्यास है। इसमे मन-वचन-काया का सर्वथा निरोध होता है। यह योगसन्यास मोक्ष प्राप्ति के उतने निकट काल मे उत्पन्न होता है कि जितना समय पच-हस्वाक्षर के उच्चारण मे लगते हैं। योगसन्यास मे आत्मा की मेरू पर्वत की भॉति, निष्प्रकप अवस्था हो जाती है। शैलेशी अवस्था मे योग का निरोध होने से आत्मप्रदेश स्थिर अकपित हो जाते हैं और कर्मबन्धन से मुक्त होकर मोक्ष अवस्था प्राप्त होती है। इस प्रकार आयोज्यकरण से शैलेशीकरण और शैलेशीकरण से योगसन्यास की सप्राप्ति होती है।[६] और योगसन्यास से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

---

४ योगशास्त्र अ ११ गा ५०
५ राजवार्तिक-१/२०/१२/७७/१२ गोम्मटसार-५४३/९३९/३
६ ललित विस्तरा प टी पृ ५५

कोष्ठक न ७

प्रथम अपूर्वकरण	ग्रथिभेद					सम्यकत्व
	क्षपक श्रेणी					
द्वितीयअपूर्वकरण	८ गु	९ ण	१० स्था	१२ न		केवल ज्ञान
आयोज्यकरण	समुद्घात		शैलेशीकरण			मोक्ष

कोष्ठक नं ८

इच्छायोग	**शास्त्रयोग**	**धर्मसन्यास सामर्थ्ययोग**	**योगसन्यास सामर्थ्ययोग**
तीव्रइच्छा गुणस्थान से प्रमाद	तीव्रशास्त्र बोध-श्रद्धा अप्रमाद	प्रातिभ केवल ज्ञान ज्ञान क्ष | प | क | श्रेणी द्वितीय अपूर्व करण	मन, शैलेशी-मोक्ष वचन, करण काय, त्याग
१ ४ ५ ६		७ ८ ९ १० १२ १३	

इच्छादि योग का कोष्ठक

कोष्ठक न ९।

योग का नाम	**प्राधान्यता**	**मुख्य लक्षण**	**पात्र योगी**	**गुणस्थान**
इच्छायोग	इच्छा प्रधान	सत्य, धर्म, इच्छा, श्रुतार्थ, सम्यक्त्व, ज्ञानयुक्त, प्रमादजन्य एव विकलता ।	सत्यधर्म इच्छुक श्रुतज्ञानी, सम्यक्त्व ज्ञानी किन्तु प्रमाद युक्त	४ ५ ६ (उपलक्षण से व्यवहार •से १)
शास्त्र-योग	शास्त्र प्रधान	शास्त्रपटुता श्रद्धा-अप्रमत्ता	शास्त्रपटु, श्रद्धालु अप्रमादी.	६ ७
धर्म सन्यास	सामर्थ्य प्रधान	शास्त्र से पर विषय प्रातिभ-स्वसवेदन-अनुभवज्ञान, क्षयोपशम धर्म का त्याग,	क्षयक श्रेणीगत	८ ९ १० १[illegible] १३
योग सन्यास	सामर्थ्य प्रधान	मन, वचन, काया के योग का त्याग अयोग परम योग	अयोगीकेवली	१४ शैलेशी अवस्था मे

दृष्टियोग

दृष्टि का अर्थ बताते हुए योगदृष्टि समुच्चय मे कहा गया है कि सत् समीचीन श्रद्धा युक्त बोध का नाम यथार्थदृष्टि है[१]। इसके द्वारा विचार युक्त श्रद्धा रखने, निर्णय करने एव सत्य पदार्थ का ज्ञान करने की शक्ति उत्पन्न होती है। ज्यो-ज्यो दृष्टि की उच्चता प्राप्त होती है त्यो-त्यो बोध एव चारित्र का विकास होता जाता है। आत्मविकास के क्रमानुसार कर्मो का क्षयोपशम होता रहता है और उसके अनुसार साधक का दर्शन सुस्पष्ट होता रहता है। इस आत्मविकास क्रमोन्नति के असख्य भेद हैं, उन असख्य भेद मे से हरिभद्रसूरि ने प्रमुख ८ दृष्टियो के माध्यम से योगमार्ग को स्पष्ट किया है।

जिस प्रकार पातञ्जल योगसूत्र मे आत्मविकास अर्थात् चारित्र विकास की चरम अवस्था रूपमोक्ष की सिद्धि के लिए योग रूपसाधन के यम नियमादि आठ अग बतलाए गये है उसी प्रकार आचार्य हरिभद्रसूरि ने जैनाभिमत निम्न आठ योगदृष्टि का उल्लेख किया है।

(१) मित्रा, (२) तारा, (३) बला, (४) दीप्रा, (५) स्थिरा, (६) कान्ता, (७) प्रभा और (८) परा।

आकृति न. ६

दृष्टि की आकृति
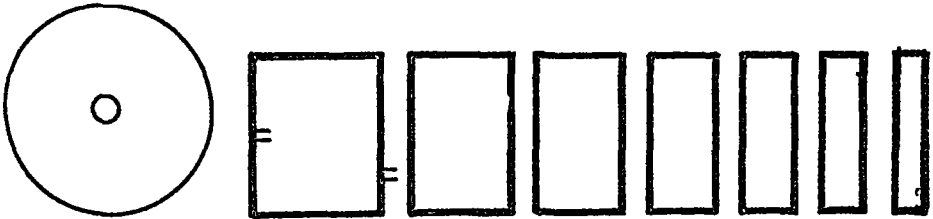
ओघदृष्टि एव योगदृष्टि

सामान्यतया दृष्टि दो प्रकार की होती है। ओघदृष्टि और योगदृष्टि। ओघ अर्थात् विवेकशून्य दृष्टि। जनसमूह का सामान्य ज्ञान[७] जिसमे विचार अथवा विवेक का अभाव होता हो, वह ओघदृष्टि कहलाता है। इसमे गतानुगतिकता का सद्भाव एव अभाव होता है। अत विवेकशून्य परम्परागत (रूढिगत) मान्यताओ का स्वीकार करना ओघदृष्टि है।

---

७ योगदृष्टि समुच्चय श्लो १७

योगदृष्टि का स्वरूप औघदृष्टि से विपरीत होता है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार आठ दृष्टियो का समावेश योगदृष्टि मे होता है। इन आठ दृष्टियो मे से प्रथम चार दृष्टियॉ मिथ्यादृष्टि जीवो को भी हो सकती हैं। इसमे पतन की भी सभावना हो सकती है अत यह प्रतिपाति है। अतिम चार दृष्टियॉ नियमत चारिसभवनी न्याय के अनुसार[८] सम्यग्दृष्टि को ही होती हैं और वे अप्रतिपाती हैं – इससे पतन कभी नही होता[९]। प्रथम चार दृष्टियॉ अस्थिर हैं जबकि अतिम चार स्थिर हैं। हालाकि प्रथम चार दृष्टिवालो का वर्तमान, गति से प्रगति की ओर होता है। सत्सग, सत्शास्त्र आदि निमित्तो द्वारा जीव का विकास होता है, किन्तु प्रथम-चार दृष्टि तक इतना ख्याल होवे कि वे कभी पतित भी हो जाता है। बहिरात्म, दशा, क्षिप्त विक्षिप्त और यातायात से मनोगत भाव उलझन मे कभी विकास क्रम रुक जाता है अत प्रथम चार दृष्टि को अपूर्ण भी कह सकते हैं।

कोष्ठक न १०

प्रतिपाति और अप्रतिपाति

	मि	थ्या	त्व		स	म्य	क	त्व	
दृष्टि	१	२	३	४	५	६	७	८	मुक्ति

प्रतिपति	अप्रतिपति	अप्रतिपति ही
सापाय	निरपाय	निर अपायही
भवभ्रमण	मुक्ति प्रति	अखड प्रयाण

यहॉ सहस्र दृष्टियो मे से प्रमुख आठ दृष्टियो के अनुशीलन की चर्चा की गई है।

---

८ योगबिन्दु - ११९
९ योगदृष्टि समुच्चय - गा १९

१. मित्रा दृष्टि

मित्रा, यह प्रथम दृष्टि है। राग-द्वेष की मात्रा अल्प होने के कारण इस अवस्था मे जो बोध होता है, उसकी उपमा अग्निकण से दी गई है। जिसका प्रकाश क्षणिक होता है। इस स्थितिवाला मनुष्य अच्छी तरह नही समझ सकता कि क्या इष्ट और क्या अनिष्ट है। फिर भी वह आत्मशिक्षा के लिए अहिसा करता है। शुभ कार्यो मे रुचि उत्पन्न होने के कारण उनमे अखेद और अद्वेष गुण जागृत होने लगते हैं। समस्त प्राणियो के प्रति मैत्रीभाव, अद्वेष भाव, निर्विकारभाव रखने लगता है। उसमे प्रगति के बीज, योग बीज आरोपण होने लगते हैं, राग-द्वेषादि घटने लगते हैं और परिणामो मे भी निर्मलता आने लगती है। जिससे उसके परिणाम "यथा प्रवृत्तिकरण" द्वारा अपूर्वकरण कर ग्रथि भेद के निकट पहुँच रहे हैं।

दर्शन की मदता, योग का प्रथम अग यम, खेद जैसे दोषो का त्याग अखेद और अद्वेष जैसे गुणो की सहज प्राप्ति से तप, त्याग, वैराग्य भक्ति, भाव वदन आदि योग बीजो का सयोग प्राप्त होता है।

योगबीज का प्राप्ति काल

योगबीज साधक को तभी प्राप्त होते है जब कर्मरूप भावमल क्षीण होता है तथा चरम पुद्गल परावर्तन जितना काल मोक्षमार्ग के लिए शेष रहता है। यथाप्रवृत्तिकरण द्वारा भावमल का क्षय होता है[१]।

योग बीज के अनुसधान से योगावचक, क्रियावचक और फलावचक समाधियोग फलित होता है। जैसे—लक्ष्यभेदी बाण लक्ष्य को भेदता है और कार्य की सिद्धि करता है वैसे ही साधक के अपने शुद्ध आत्मसिद्ध रूप लक्ष्य को अनुलक्षित योग, क्रिया एव फल अवचक होता है, जिससे साधक अवश्य अपने स्वसाध्य स्वरूप प्रवृत्ति को अविसवादरूप से सिद्ध करता है।

---

१ योगदृष्टि समुच्चय-श्लो ३२

योगदृष्टि का स्वरूप औघदृष्टि से विपरीत होता है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार आठ दृष्टियो का समावेश योगदृष्टि मे होता है। इन आठ दृष्टियो मे से प्रथम चार दृष्टियाॅ मिथ्यादृष्टि जीवो को भी हो सकती हैं। इसमे पतन की भी सभावना हो सकती है अत यह प्रतिपाति है। अतिम चार दृष्टियाॅ नियमत चारिसभवनी न्याय के अनुसार[८] सम्यग्दृष्टि को ही होती हैं और वे अप्रतिपाती हैं – इससे पतन कभी नही होता[९]। प्रथम चार दृष्टियाॅ अस्थिर हैं जबकि अतिम चार स्थिर हैं। हालाकि प्रथम चार दृष्टिवालो का वर्तमान, गति से प्रगति की ओर होता है। सत्सग, सत्‌शास्त्र आदि निमित्तो द्वारा जीव का विकास होता है, किन्तु प्रथम-चार दृष्टि तक इतना ख्याल होवे कि वे कभी पतित भी हो जाता है। बहिरात्म, दशा, क्षिप्त विक्षिप्त और यातायात से मनोगत भाव उलझन मे कभी विकास क्रम रुक जाता है अत प्रथम चार दृष्टि को अपूर्ण भी कह सकते हैं।

कोष्ठक नं १०

प्रतिपाति और अप्रतिपाति

	मि	थ्या	त्व		स	म्यं	क	त्व	
दृष्टि	१	२	३	४	५	६	७	८	मुक्ति

प्रतिपति	अप्रतिपति	अप्रतिपति ही
सापाय	निरपाय	निर अपायही
भवभ्रमण	मुक्ति प्रति	अखड प्रयाण

यहाॅ सहस्र दृष्टियो मे से प्रमुख आठ दृष्टियो के अनुशीलन की चर्चा की गई है।

---

८ योगबिन्दु - ११९
९ योगदृष्टि समुच्चय - गा १९

१ मित्रा दृष्टि

मित्रा, यह प्रथम दृष्टि है। राग-द्वेष की मात्रा अल्प होने के कारण इस अवस्था मे जो बोध होता है, उसकी उपमा अग्निकण से दी गई है। जिसका प्रकाश क्षणिक होता है। इस स्थितिवाला मनुष्य अच्छी तरह नही समझ सकता कि क्या इष्ट और क्या अनिष्ट है। फिर भी वह आत्मशिक्षा के लिए अहिसा करता है। शुभ कार्यो मे रुचि उत्पन्न होने के कारण उनमे अखेद और अद्वेष गुण जागृत होने लगते है। समस्त प्राणियो के प्रति मैत्रीभाव, अद्वेष भाव, निर्विकारभाव रखने लगता है। उसमे प्रगति के बीज, योग बीज आरोपण होने लगते हैं, राग-द्वेषादि घटने लगते है और परिणामो मे भी निर्मलता आने लगती है। जिससे उसके परिणाम "यथा प्रवृत्तिकरण" द्वारा अपूर्वकरण कर ग्रथि भेद के निकट पहुँच रहे हैं।

दर्शन की मदता, योग का प्रथम अग यम, खेद जैसे दोषो का त्याग अखेद और अद्वेष जैसे गुणो की सहज प्राप्ति से तप, त्याग, वैराग्य भक्ति, भाव वदन आदि योग बीजो का सयोग प्राप्त होता है।

योगबीज का प्राप्ति काल

योगबीज साधक को तभी प्राप्त होते है जब कर्मरूप भावमल क्षीण होता है तथा चरम पुद्गल परावर्तन जितना काल मोक्षमार्ग के लिए शेष रहता है। यथाप्रवृत्तिकरण द्वारा भावमल का क्षय होता हैं[१]।

योग बीज के अनुसधान से योगावचक, क्रियावचक और फलावचक समाधियोग फलित होता है। जैसे—लक्ष्यभेदी बाण लक्ष्य को भेदता है और कार्य की सिद्धि करता है वैसे ही साधक के अपने शुद्ध आत्मसिद्ध रूप लक्ष्य को अनुलक्षित योग, क्रिया एव फल अवचक होता है, जिससे साधक अवश्य अपने स्वसाध्य स्वरूप प्रवृत्ति को अविसवादरूप से सिद्ध करता है।

---

१ योगदृष्टि समुच्चय-श्लो ३२

अवंचक विधि

यहाँ प्रवृत्तियाँ तीन हैं—(१) लक्ष्यताकना, (२) लक्ष्य को अनुसधान पर्यन्त पहुँचाना और (३) कार्य की फलश्रुति ।

योगावचक योगबीजों का सयोग, सद्गुरु का सयोग तथा मन की विशुद्धि का होना योगावचक है। जैसे—निशान ताकने के लिए बाण का धनुष के साथ सयोग-अनुसधान होना ।

क्रियावंचक सद्गुरु को भावयुक्त वदन, नमस्कार एव प्रणाम तथा वचन और शरीर की आगमानुसार प्रवृत्ति क्रिया अवचक है। जैसे—निशान को अनुसधान पर्यन्त पहुँचाने की क्रिया ।

फलावंचक उपर्युक्त सद्गुरु का सयोग तथा वदन नमस्कार आदि से प्राप्त लाभ द्वारा कर्म क्षय तथा कार्य की फलश्रुति फलावचक है ।

क्रिया-वंचक निशान को अनुसधान पर्यन्त पहुँचाने पर भी क्रिया का असाध्य रूप होना ।

फला-वंचक कार्य की फलश्रुति होने पर भी विफल होना ।

आकृति न ७
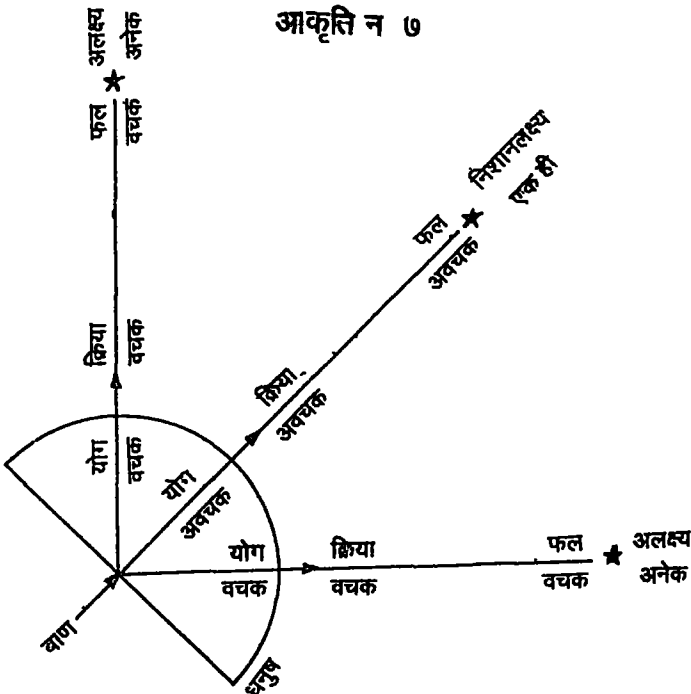
वंचकत्रय का स्वरूप

वचक अर्थात् धूर्त गुरु का सयोग योगवचक है, अनेक साधनो की उपलब्धि होने पर भी तथारूप योग्यता का अभाव होने से क्रिया करने पर भी असाध्य रूप होती है अत यह क्रिया वचक है, इष्ट कार्य साधक न होने से बाधक होता है अत फल भी अनिष्ट प्राप्त होता है इसे फला-वचक कहते हैं ।

योगबीज से भावमल की अल्पता, भावमल की अल्पता से सत्गुरु आदि को प्रणाम, वदन, नमस्कार, वदन नमस्कार से अवचक त्रय की प्राप्ति और अवचक त्रय से शुभ निमित्त का सयोग । इस प्रकार यहाँ कार्यकारण परम्परा है ।

यह सम्पूर्ण प्रक्रिया प्राप्ति के समय जीवो द्वारा यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण – ऐसे तीन करण किये जाते हैं । अत इस प्रथम दृष्टि को प्राप्त साधक चरमपुद्गलपरावर्त मे अपूर्व ऐसा चरमयथाप्रवृत्तिकरण तक पहुँचता है । यहाँ भावमल की अल्पता और ग्रन्थिभेद की समीपता होती है । गुणो मे प्रथम गुणस्थान मिथ्यात्वगुणस्थान का यह अधिकारी होता है[२] । इस प्रकार इस मित्रादृष्टि मे स्थित साधक उपर्युक्त साधना को सिद्ध करने मे सफल होता है ।

आकृति नं ८

२ योगदृष्टि समुच्चय श्लो ३६ से ४०
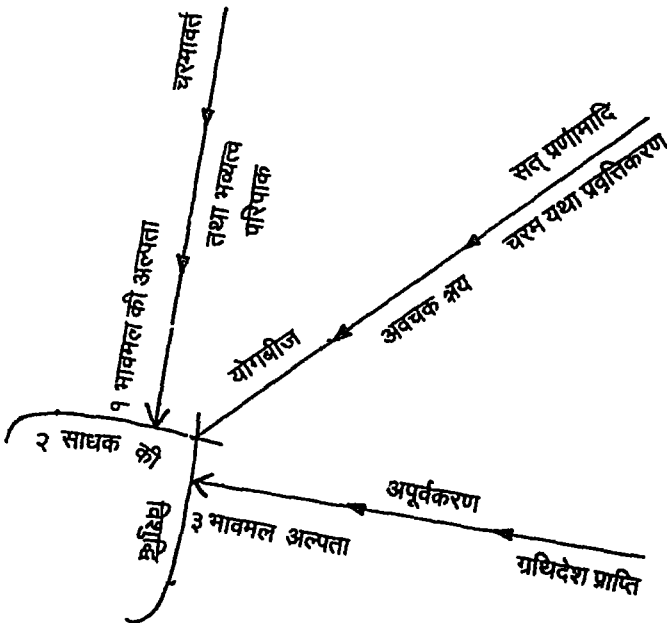
मित्रादृष्टि का कोष्ठक

कोष्ठक नं ११

दर्शन	योगाग	दोष त्याग	गुण प्राप्ति	योग बीज ग्रहण	प्राप्ति क्रम	समय	गुणस्थान
तृण	यम	अखेद	अद्वेष	१ जिन भक्ति	भावमल	अतिम	प्रथम
					आप्लता	पुद्गल	
अग्नि				२ सद्गुरुसेवा	गुर्वादि	परावर्त	मिथ्यात्व
वत्मद				३ भव उद्वेग	को	मे	गुणस्थान
				४ द्रव्यअभिग्रह	प्रमाणादि	अतिम	
				पालन	अवचक	यथाप्र-	
					प्राप्ति	वृत्ति-	
						करण	
				५ आगमानुसार		मे	
				लेखन			
				बीजकथा	शुभनिमित्त	ग्रथिभेद	
				श्रवणश्रद्धा एव	योगबीज	निकट	
				शुद्ध उपादेय	आदि	होने	
				भाव		तक	

२ तारा दृष्टि

मित्रा दृष्टि की अपेक्षा राग-द्वेष का प्रभाव अपेक्षाकृत कुछ हल्का हो गया है, ऐसे साधक की तारा दृष्टि कहलाती है। इसकी उपमा उपलो की चिगारी से दी गई है। यहाँ साधक अहिसादि यमो की अपेक्षा अधिक उन्नतकारी नियमो का पालन करता है तथा ध्यान द्वारा मन केन्द्रित करता है, जिज्ञासा और उचित आचरण से वैराग्य और कर्त्तव्य पालन में दृढ रहता है। जिससे गुणवानो के प्रति जिज्ञासा प्राप्त होती है।

इस दृष्टि वालो की प्रवृत्ति मन-वचन-काया के विशुद्ध योग की ओर विशेष होती है, वह निरन्तर चिन्तन करता रहता है कि मैं बन्धन से मुक्त कब हो जाऊँ ? इस ससार में महात्माओं की प्रवृत्ति अनेक प्रकार की होती है यह समस्त प्रकृति को मैं कैसे जान सकॅ , इत्यादि चिन्तन, इस तारादृष्टि वालो का होता है।

बला दृष्टि

कोष्ठक १३

दर्शन	योगाग	दोष त्याग	गुण प्राप्ति
बोधकाष्ठ अग्निवत्	योग का तृतीय अग-आसन	क्षेप दोष का त्याग निर्विघ्न कार्य	शुश्रूषा बोध प्रवाह जल स्रोत के समान युवान पुरुष की सुश्रूषा जैसी तीव्र योग उपाय कौशल

४ दीप्रा दृष्टि

राग-द्वेष की मदता कर्ममल की अल्पता तथा चित्त के परिणाम की निर्मलता हो जाने पर दीप्रा दृष्टि प्राप्त होती है। इस दृष्टि को प्रदीप के प्रकाश की उपमा दी गई है। जैसे दीपक का प्रकाश अधिक स्थाई और स्पष्ट होता है उसी प्रकार इस दृष्टि वाले का बोध तीन दृष्टियों की अपेक्षा अधिक स्थाई और अधिक सामर्थ्यवान होता है। आचरण की दृष्टि से शुद्धता अवश्य है, परन्तु जिस प्रकार प्रदीप का प्रकाश पर वस्तु अर्थात् तेल पर अवलम्बित है उसी प्रकार यह बोध भी परावलम्बित है, निज की आत्मा पर अवलम्बित नही है। इसलिये वह पूर्ण रूप से स्थाई नही है। जैसे हवा से दीपक बुझ सकता है वैसे वही साधक बाहरी कारणो से क्षिप्तविक्षिप्त हो सकता है। यहॉ भी सब क्रियाएँ भाव शून्य केवल द्रव्य रूप ही होती हैं। इस दृष्टि तक मिथ्यात्व गुणस्थान ही है। इस दृष्टि मे प्राणायाम योग होता है। अत साधक बाह्य भाव छोडकर अतरभाव की ओर आगे बढता है और उसी मे स्थिर रहता है। इस दृष्टि मे प्रथम बताए हुए जो योगबीज के अकुर हैं वह सहज स्पष्ट रूप मे पल्लवित होते दृष्टिगोचर होते हैं।[3]

धर्म के प्रति प्रीति

बाह्य भावना के त्यागरूप भाव रेचक प्राणायाम की प्राप्ति होने से इस दीप्रादृष्टि मे स्थित योगी महात्मा को धर्म के प्रति उत्कृष्ट प्रीति उत्पन्न होती है।

---

३ (द्वा २२ द्वा तारादित्रय-द्वात्रिंशिका श्लो १९ पृ १३५)

तत्वश्रवण।

तत्वश्रवण मे अत्यधिक श्रद्धा एव प्रीति होने से तत्व चिन्तन का अचिन्त्य प्रभाव मोक्षबीज को पल्लवित करता है। किन्तु इतना ध्यान रखना कि यहाँ क्षारजलवत् भवयोग जानना और तत्वश्रवण को मधुरजल जानना[४]।

समापत्ति

विवेकी साधक को इस ससार की असारता का अनुभव होता है। वह क्षण भर के लिए भी सासारिक वृत्ति मे इच्छा और वाछा नही करता। ऐसा साधक वैराग्य भावना से भावित होता है[५]।

गुरुभक्ति के सामर्थ्य से अर्थात् ध्यान स्पर्शना से सम-सम्यक् आपत्ति प्राप्ति, समापत्ति प्राप्त होती है। यह समापत्ति तीन कारणो से विकसित होती है –

(१) निर्मलता
(२) स्थिर एकाग्रता
(३) तन्मयता[६]।

तात्पर्य यह है कि चित्त की निर्मलता होने पर ही चित्त की स्थिरता होती है और चित्त की स्थिरता होने पर ही तन्मयता होती है। इस प्रकार आत्मभाव के विना तात्विक समापत्ति ग्राह्य, ग्रहण और गृहीत के भेद से तीन प्रकार की होती है।

(द्वा. २० द्वा श्लो . ९ पृ १२०) इस समापत्ति के और भी चार प्रकार प्राप्त होते है। (१) सवितर्क, (२) निर्वितर्क, (३) सविचार, (४) निर्विचार, ये समापत्ति सप्रज्ञातससमाधि (सविकल्प) है। उसे ही "सबीज" समाधि कहा जाता है। अतिम निर्विचार समापत्ति की निर्मलता से अध्यात्मप्रसाद की पाप्ति होती है। जिससे ऋतम्भराप्रज्ञा उत्पन्न होती है। यह श्रुत-अनुमान से अधिक होता है। ऋतम्भराप्रज्ञा से सस्कारातर का बाधक ऐसा तत्व सस्कार उत्पन्न होता है और उसके निरोध से असप्रज्ञात् (निर्विकल्प) नामक समाधि उत्पन्न होती है। इस असपज्ञात से कैवल्य प्राप्त होता है। इस प्रकार निर्विचार समापत्ति अध्यात्म पसाद ऋतम्भराप्रज्ञा तत्वसस्कार असपज्ञातसमाधि कैवल्य ऐसा क्रम है। द्वा २० द्वा श्लो १५ १२ १३ के अनुसार सम्पन्न नहीं हो पाती[७]।

---

४ योगदृष्टि समु च्चय श्लो ६२।

५. [illegible] श्लो ९ १४ ३० २१ २३ [illegible]।

६ [illegible] २० द्वा श्लो १०, पृ १२०।

७. [illegible]

वेद्यसवेद्यपद

१ वेद्यसवेद्यपद भिन्नग्रन्थि, देशविरति, और क्षायिक सम्यग्‌दृष्टि वाले साधक को ही प्राप्त होता है। क्योकि इस दीप्रादृष्टि मे पौद्‌गलिक भाव होने के कारण असत् प्रवृत्ति की ओर जीवात्मा की स्थिति होती है। जिससे उस आत्मा को सूक्ष्म बोध रूप फलो की प्राप्ति नही होती है। जीवात्मा मे मालिन्यता होने से तत्वविषयक बोध की प्राप्ति भी नही होती। फिर भी यह दृष्टि अवध्यबीज रूप होने से कभी-कभी बोध को प्राप्त कर लेती है[८]।

प्रथम चार दृष्टिओ मे अवेद्य सवेद्य पद की प्रबलता होती है और वेद्यसवेद्य पद मात्र पछी प्रतिबिम्बवत् अर्थात् जैसे जल मे पछी के प्रतिबिम्ब को देखकर कोई अज्ञानी जलचर प्राणी भ्रान्तिवश उसे पकडने जाता है[९] और ऐसी चेष्टा निष्फल ही होती है वैसे ही प्रथम चार दृष्टिओ मे वेद्यसवेद्यपद तदाभासरूप अतात्विक होता है।

अवेद्यसवेद्यपद

वेद्यसवेद्यपद से यह पद विपरीत है, साथ-साथ वज्र जैसा अभेद्य भी है विशेष रूप से यह पद भवाभिनन्दी जीवो मे पाया जाता है। भवाभिनन्दी—क्षुद्र, लोभी, दीन, मत्सरवत, मयाकुल, शठ, अज्ञानी, आसक्त, निष्फल आरम्भ युक्त, असत् परिणामयुक्त लक्षणवाला होता है।[१०]

अवेद्यसवेद्यपद मिथ्यात्व और वेद्यसवेद्यपद सम्यक्त्व है। सम्यक्‌गुण का प्रथम चार दृष्टिओ मे अभाव होने से अवेद्यसवेद्यपद परमार्थ दृष्टि से हेय है, योगियो के लिए वेद्यसवेद्य पद ही उपादेय है।

कोष्ठक न १४

अवेद्य सवेद्य और वेद्य सवेद्य पद की तुलना

नाम	अवेद्य सवेद्य पद	वेद्य सवेद्य पद
किस दृष्टि मे	प्रथम चार मे अवेद्य सवेद्यपद प्रबल वेद्य सवेद्य अतात्विक	अतिम चार मे वेद्य सवेद्यपद नही होता वेद्य सवेद्यपद तात्विक।
कारण	ग्रथिभेद	ग्रथिभेद ।

८ योगदृष्टि समुच्चय श्लो ७६ योगबिन्दु श्लो ८७, पृ १७४।

९ योगदृष्टि समुच्चय श्लो ६६।

१० योगबिन्दु श्लो ८७ पृ १७४। योगदृष्टि समुच्चय श्लो ७६।

व्याख्या	वेद्य सवेद्य नही होता परमार्थ से अपद ।	वेद्यसवेद्य होता है परमार्थ से पद ।
पात्र	भवाभिनन्दी साम्प्रतदर्शी मिथ्या दृष्टि ।	मुमुक्षु, निश्चय सम्यग्दृष्टि ।
बोध	स्थूल-असत्, क्योकि अपाय शक्ति मालिन्य एव अतात्विक ।	सूक्ष्म-सत् क्योकि अपाय शक्ति मालिन्य नही अपाय दर्शन तात्विक ।
पाप प्रवृत्ति	पाप प्रवृत्ति होती है।	नही होती अगर हो तो अतिम तप्त लोह पदन्यास-जैसी
लक्षण	विपर्यास, विवेकान्धता, अतिमोह, विषय, कुतर्क, ग्रह	अविपर्यास सदविवेक, अमोह ग्रह से रहित ।
परिणाम	ससार प्रति अनुद्वेग, भोगासक्ति कृत्याकृत्य भ्राति	सवेगातिशय-परम वेराग्य अनाशक्ति अभ्रान्ति ।
प्रवृत्ति-निवृत्ति	असत् चेष्टा प्रवृत्ति, सत्चेष्टा निवृत्ति	सद् चेष्टाप्रवृत्ति, असत् चेष्टा-निवृत्ति
स्वरूप	अधरूप	सम्यग्दर्शन रूप
फल	आत्मबधन, दुर्गतीपात	अबन्ध, सुगति प्राप्ति ।
गुणस्थान	प्रथम	चतुर्थ-देशविरति इत्यादि ।

यहॉ चतुर्थ दृष्टि मे देवो की भक्ति के दो भेद बताये हैं – (१) चित्र और (२) अचित्र । ससारी देवो की भक्ति अचित्र प्रकार की है क्योकि उनका स्वरूप अचित्र प्रकार का है, और उस भक्ति मे मोहवश इष्ट देवो के प्रति राग और अनिष्ट देवो के प्रति द्वेष होता है किन्तु ससारातीत पद मुक्त तत्व की जो भक्ति है, वह अचित्र है और वह सम्मोह के अभाव से समप्रधान होती है[११]। इस प्रकार अवेद्य सवेद्य पद से चित्र भक्ति और वेद्य सवेद्य पद से अचित्र भक्ति की आराधना सफलता से मिलती है।

---

११ योगदृष्टि समुच्चय-श्लो ११० से ११४

चित्राचित्र भक्ति

कोष्ठक न. १५

	चित्र भक्ति	अचित्र भक्ति
देव	लोकपालादि ससारी देव	मुक्त परमात्मा
भक्त	ससारीदेव कायगामी, भवाभि-नदी ससारासक्त ।	ससारातीत अर्थगामी, भवभोग विरक्त मुमुक्षु
लक्षण	मोहगर्भित होने से इष्टदेव मे राग, अनिष्ट मे द्वेष ।	असमोह भाव के कारण समसार पूर्ण समभाव
चित्राचित्र	१ ससारिदेव के चित्रस्थान के साधन उपाय चित्र, विचित्र ।	सदाशिव परब्रह्म, सिद्धात्मा आदि नाम भेद फिर भी निर्वाण तत्त्व का
कारण	२ चित्र आशय से चित्र फलभेद	परम पद का अभेद स्वरूप
फल	ससार ।	मोक्ष

४ दीप्रादृष्टि

कोष्ठक.न १६

दर्शन	योगाग	दोषत्याग	गुणप्राप्ति	अन्यान्य विशेषता	गुणस्थान
दीप प्रभा सम दिव्य प्रकाश	उत्कृष्ट प्रीति प्राणायाम	उत्थान निर्मलता स्थिर एकाग्रता तन्मयता	श्रवण धर्म के प्रति प्रीति अतात्त्विक	ससाराभिमुख शक्ति मालिन्य सत् मिश्र असत प्रवृत्ति	प्रथम

५ स्थिरादृष्टि

पॉचवीं दृष्टि, ग्रथि भेद-अर्थात् राग, द्वेष इत्यादि के परिणामस्वरूप तीव्र कर्मगाठ के निर्जरित होने पर सम्यक् दृष्टि प्राप्त होने पर होती है। इसकी उपमा रत्न के प्रकाश से दी गई है। रत्न का प्रकाश पराधारित नही होता स्वाधीन तथा स्थायी होता है। उसी प्रकार इस दृष्टि मे बोध आत्मानुभव अर्थात् आत्मा और शरीर मे क्या भेद है। इस भेद ज्ञान के सन्मुख होता है। फलत साधक के कषाय शान्त होने के

कारण चित्त मे प्रसन्नता होती है और उच्च योग अग प्रत्याहार अगीकार करता है। जिससे पूर्ण विश्वास का मार्ग मिलता है।

इस दृष्टि मे सूक्ष्म बोध गुण प्रकट होता है। यहाँ साधक जीवादि नव तत्वो को पूर्ण श्रद्धा के साथ समझता है। स्थिरादृष्टि वाला सम्यक्त्वी ही होता है और उसका गुणस्थान ४-५-६ मे है। वह जो कार्य करता है अनासक्त भाव से करता है। वह आत्मा को मोह मूर्छित नही होने देता, किन्तु आत्मपरिणति मे ही रहता है।

स्थिरा दृष्टि का कोष्ठक

कोष्ठक नं १७

दर्शन	योगाग	दोषत्याग	गुणप्राप्ति	गुणस्थान
रत्न प्रभा सम नित्य	प्रत्याहार	भ्रातित्याग	सूक्ष्मबोध अलोलु- पतादि	४-५-६

६. कान्तादृष्टि

कान्ता नामक छठी दृष्टि मे पदार्पण करने के पूर्व साधक को यौगिक सिद्धियाँ प्राप्त हो चुकी होती है। यहाँ से साधक की प्रगति क्रमश वर्धमान होती है। इस दृष्टि मे पहुँचा हुआ साधक धारणा नामक योगाग की प्राप्ति करता है। धारणा का अर्थ है **"धारणा तु क्वचित् ध्येये चित्तस्य स्थिरबन्धन"** अर्थात् किसी पदार्थ के एक भाग पर चित्त की स्थिरता होना धारणा है।

यहाँ साधक का बोध "तारा की प्रभा" वत् होता है। दर्शन स्थिरादृष्टि की तरह नित्य - अप्रतिपाति अत्यन्त निर्मल और बलिष्ठ होता है। क्योकि तारा का प्रकाश रत्न की कान्ति से व्यापक निर्मल और सम्यग्दर्शन मे स्थित रहता है। साधक मे आत्मानुभव या तात्त्विक बोध इतना स्पष्ट होता है जिससे यहाँ "अन्यमुद" नाम का दोष टल जाता है फलत साधक स्वस्वरूप मे स्थित रहता है अत यहाँ हर्ष, शोक इत्यादि समस्त बाह्य प्रवृत्तियाँ प्राय समाप्त हो जाती है और मीमासा गुण उजागर हो जाता है। पचमदृष्टि मे सूक्ष्मबोध होने के पश्चात् स्वाभाविक क्रम मे मीमासा गुण उत्पन्न होना चाहिए क्योकि मीमासागुण से ही सूक्ष्मबोध का चिन्तन-मनन और मथन होता है। तत्वश्रवण द्वारा उत्पन्न स्थिर गुण से जब शुभ विचार श्रेणि प्राप्त होती है तब साधक की प्रगति मे प्रकर्षता बढती है[१२]।

१२ योगदृष्टि समुच्चय - श्लो १६३ पृ ५१३।

कान्ता दृष्टि मे स्थित साधक की आचार विशुद्धि, एकाग्रचित विशुद्धि और देहातीत बुद्धि होती है ।

क्योकि नित्य मीमासा गुण की प्राप्ति होने से साधक को किसी प्रकार का मोह सभव नही होता अर्थात् सम्यग्दृष्टि साधक को दर्शन मोह का तो सर्वथा क्षय ही होता है और योग की ओर जैसे विकास क्रम मे सवर्धन होता है वैसे चारित्र मोहनीय का भी क्रमश क्षय होता रहता है। इस प्रकार यहॉ साधक को प्राय मोह का अभाव होता है। आत्मसप्रेक्षण होने से यहॉ साधक षट्पद मीमासा का निरन्तर चिन्तन करता रहता है। जैसे–(१) आत्मा है, (२) आत्मनित्य है, (३) आत्मा कर्ता है, (४) आत्मा भोक्ता है, (५) मोक्षपद है और (६) मोक्ष का उपाय है ।

कान्ता दृष्टि

कोष्ठक न १८

दर्शन-तारा समान	अन्यमुद् चित्त दोषत्याग
योगाग-धारणा	मीमासा-गुण प्राप्ति

७ प्रभादृष्टि

प्रभादृष्टि से बोध सूर्य की प्रभा के समान होता है। जो लम्बे समय तक अतिस्पष्ट रहता है ।

यहॉ तत्वबोध अति सूक्ष्म होने से प्रतिपत्ति गुण प्राप्त होता है। अत तत्व परिणति अत्यन्त सूक्ष्म एव श्लाघनीय होती है ।

कान्ता दृष्टि मे साधक मीमासा अर्थात् तत्व विचारणा तक सीमित था। किन्तु प्रभादृष्टि मे योग प्रवृत्ति वर्द्धमान होती है। अत यहॉ स्वानुभव की प्राप्ति होती है।[१३] आभ्यतर और बाह्य समस्त व्याधियो का यहॉ उच्छेद हो जाता है। चित्त की अपूर्व स्थिरता प्राप्त होती है। ध्यान मे एकाग्रता बढती है। इस ध्यान मे साधक विषय वासना पर विजय प्राप्त कर सकता है। तथा विवेक ज्ञान, सामर्थ्य योग और विरति को प्राप्त कर सकता है ।

किसी एक पदार्थ पर अतर्मुहूर्त पर्यन्त होने वाली चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। धारणा मे चित्तवृत्ति की स्थिरता एक देशीय तथा अल्पकालीन होती है। जब

१३ प्रवचन सार टीका गा ७१

कि ध्यान मे वह प्रवाहरूप तथा दीर्घकालीन होती है। ध्यान करने वाला योगी महात्मा को ध्याता कहा जाता है। श्रेष्ठ ध्याता वही है जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य इन चार उत्तम भावनाओ से भावित होता है। ज्ञान भावना से निश्चलता, दर्शन भावना से असमोह, चारित्र भावना से पूर्वकर्म निर्जरा एव वैराग्य भावना से आशसा और भय का उच्छेद होता है। श्री नेमिचन्द्राचार्य ने बृहद् द्रव्य सग्रह मे मनोजय और इन्द्रियजय से युक्त जो निर्विकार बुद्धिवाला है उसे ध्याता कहा है।

ध्येय अर्थात् ध्यान करने का विषय-आलबन। किसी भी ध्येय चिन्तन का अतिम हेतु आत्मध्यान पर आरूढ होता है। अत किसी भी ध्येय पदार्थ का चिन्तन होने से आत्मनिरीह वृत्ति को प्राप्त कर एकाग्रता को धारण करना ध्येय है। ध्येय के मुख्य प्रकार तीन है। जैसे–

१ चेतन का अचेतन ऐसी मूर्त अमूर्त वस्तु

२ पच परमेष्ठी

३ आत्मा।

इस प्रकार पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत आदि ध्यान के प्रकार आत्मा को स्वरूपावलबन मे परम उपकारी होने से आत्मध्यान मे प्रवृत कराता है।

आलंबन योग

इस प्रकार इस प्रभादृष्टि मे असग अनुष्ठान की प्राप्ति होती है। जैसे दंड के पूर्व प्रयोग से चक्र का भ्रमण होता है। वैसे ही असगं अनुष्ठान से स्वाभाविक शिष्ट वचनानुसार अनुष्ठान होता है।

इस असग अनुष्ठान को भिन्न-भिन्न दर्शनो ने भिन्न-भिन्न नाम से प्रसिद्ध किया है जैसे–

(१) साख्य दर्शन मे प्रशान्तवाहिता कहते है। प्रशान्त वाहिता अर्थात् सदृशप्रवाह रूप परिणामि[१४]।

(२) बौद्ध दर्शन मे विसभाग परिक्षय कहते है।

(३) शैव दर्शन मे शिववर्त्म - शिवमार्ग कहते हैं।

(४) महाव्रत मे धुवाध्य - धुवमार्ग कहते हैं[१५]।

---

१४ द्वा २४, द्वा २३

१५ योगदृष्टि समुच्चय गाथा १७६

इस असगानुष्ठान को स्थितयोगी साध सकता है। अत इस पद (असगानुष्ठान, तक पहुँचने के लिए यह सप्तम प्रभादृष्टि ही योगी महात्माओ को इष्ट है।

प्रभा दृष्टि

कोष्ठक नं १९

दर्शन	योगाग	दोषत्याग	गुणप्राप्ति	अन्य विशिष्टता	गुणस्थान
सूर्यप्रभा सम निर्मल बोध	ध्यान अनुपम सुख शमसार	राग द्वेष त्याग	तत्वप्रतिपति	सत्प्रवृत्ति पद सत्प्रवृत्ति का उपयोग अस-गानुष्ठान	७-८

८ परादृष्टि

आठवी परादृष्टि मे योग के अतिम अग समाधि की सप्राप्ति होती है। धारणा से ध्यान और ध्यान से समाधि का कालक्रम योग साधना का विशेष रूप है। धारणा से प्रारम्भ होने वाली एकाग्र अवस्था ध्यानावस्था को पार करती हुई समाधि मे पर्यवसान पाती है। धारणा मे चित्तवृत्ति की स्थिरता एकदेशीय अर्थात् अप्रवाह रूप होती है। ध्यान मे चित्तवृत्ति का प्रवाह गतिमान होता रहता है। किन्तु गति मे सातत्य नही रहता। अपितु अतर्मुहूर्त मे उसका विच्छेद हो जाता है। समाधि मे चित्तवृति का प्रवाह विच्छिन्न रूप से होता है। यहाँ एकाग्रता का स्थापित्व होता है। क्योकि ध्यान मे बहुधा विक्षेप होता रहता है। ऐसे कारणो का यहाँ सर्वथा अभाव होता है।

इस परावृष्टि मे बोध चन्द्र के उद्योत के समान शान्त एव स्थिर होता है तथा विकल्पो का ह्रास होता है। प्रभादृष्टि मे जो प्रतिपति गुण की प्राप्ति हुई थी, उसकी इस दृष्टि मे पूर्णता प्राप्त होती है। बाह्य क्रियाओ का अभाव होने से यहाँ अतरग प्रवृत्ति प्राप्त होती है। जैसे उपशम श्रेणी इत्यादि का आरोहण होता है।

यहाँ खेदादि आठ दूषणो मे अतिदूषण जो आसग दोष है उसका त्याग होता है। इस दृष्टिवाले वीतराग महायोगी को परद्रव्य-परभाव के परमाणु के प्रति लेशमात्र आसक्ति नही होती।

अभी तक साधक को सापरायिक कर्म का क्षय होता था। किन्तु इस दृष्टि मे स्थित साधक को भवोपग्राही कर्म का क्षय होता है। यहॉ साधक की धर्मसन्यास अवस्था पराकाष्ठा तक पहुॅच जाती है। समस्त दोषें क्षीण हो जाते हैं। अनेक लब्धियॉ प्राप्त होती हैं।

यहॉ योगी निर्विकल्प आत्म-समाधि मे, सहजात्म स्वरूप अखण्ड स्थिति मे, शुद्ध, शुक्ल आत्मध्यान मे और जीवन मुक्त स्थिति मे रहेता है। आसग दोष से मुक्त रहता है। अन्त मे यथाख्यात परम वीतराग चारित्र प्रकट होता है। कर्मों का नाश करता हुआ गुणस्थानो पर चढता हुआ सयोग केवली गुणस्थान पर पहॅुचता है, और अन्त मे अयोगी होकर निर्वाण प्राप्त करता है।

परादृष्टि :

कोष्ठक नं. २०

दर्शन	योगांग	दोषत्याग	गुणप्राप्ति	गुणस्थान
चन्द्रमासम	समाधि	आसगत्याग	प्रवृत्ति	८-९-१०-१२-१३-१४
सम्पूर्ण केवल दर्शनज्ञान			आत्मस्वभावे प्रवृत्तिकरण	धर्म सन्यास योग क्षपक श्रेणी केवलज्ञान निर्वाण

कोष्ठक नं. २१

योगदृष्टि	योगअंग	दोषत्याग	गुण प्राप्ति	बोध की उपमा	विशेषता
मित्रा	यम	खेद	उद्वेग	तृण अग्निकण	मिथ्यात्व
तारा	नियम	उद्वेग	जिज्ञासा	गोमय अग्निकण	मिथ्यात्व
बला	आसन	क्षेप	सुश्रुषा	काष्ठ अग्निकण	मिथ्यात्व
दीप्रा	प्राणायाम	उत्थान	श्रवण	दीप प्रभा	मिथ्यात्व
स्थिरा	प्रत्याहार	भ्राति	बोध	रत्नप्रभा	सम्यक्त्व
काता	धारणा	अन्य मुद्	मीमासा	तांराप्रभा	सम्यक्त्व
प्रभा	ध्यान	राग द्वेष	प्रतिपति	सूर्यप्रभा	सम्यक्त्व
परा	समाधि	आसग	प्रवृत्ति	चन्द्रप्रभा	सम्यकत्व

आकृति नं १०
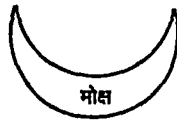
सिद्ध भगवान
अनन्त चतुष्टय के स्वामी
आठ कर्मों के नाशक

समय सादि अनन्तकाल
तीन योगों में मुक्त बीतराग सर्वज्ञ भगवान
समय पाँच तत्वाक्षर

योगमुक्त वीतराग सर्वज्ञ भगवान
सर्व कषाय मुक्त घातिकर्मनाशक
समय एक अन्तर्मुहूर्त से देशोनपूर्व क्रोड वर्ष
क्षीणकषाय छद्मस्थ वीतराग शुभस्थान
मोहनीय का पूर्णदाय प्रतिभज्ञान
समय जघ उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त
उपशान्त छद्मस्थ वीतराग गुणस्थान
समय १ समय से अन्तर्मुहूर्त बादर कषाय पतन अध्यनन
सूक्ष्म लोभ का वेदन भेदन
समय १ समय से अन्तर्मुहूर्त

मोहक्षय को उप करने वाला क्षेपक या उपशामक
समय एक अन्तर्मुहूर्त
मोहकर्म क्षय (१) अपूर्व स्थितिघात (२) रसघात (३) गुण श्रेणी (४) गुणसक्रम (५)अपूर्व स्थितिबन्ध(६)नियुक्ति =१ समय में चढ़े हुए जीवों के अध्ययन की भिन्नता समय २ अन्त

अप्रमत्तभाव मे सर्व विरतित्व
समय १ अन्तर्मुहूर्त

प्रमत्त भाव में सर्व विरतित्व
समय २ अन्त से देशानुपूर्व क्रोडवर्ष

सम्यक्त्व सहित १२ व्रत में से एक भी व्रत स्वीकारा हो
- सुदेवादि की श्रद्धा ससार की अरुचि जिन भक्ति
- वीतराग-वाणी में अतिशय राग • साधर्मिक रोपम
- धर्म रागी समय। १अन्तर्मुहूर्त ६६ सागवात्सल्य

न जिनधर्म का राग और न ससार का द्वेष
समय अन्तर्मुहूर्त
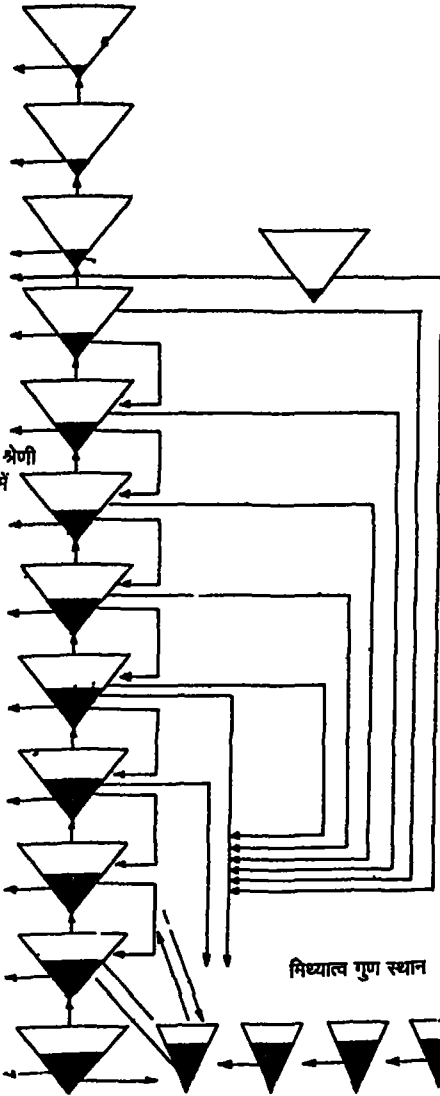
- उपशम सम्यक्त्व का वमन करते समय
- समय १ समय से ६ आवलिका

- मार्गानुसारी भाव
- लक्षण
- न्याय स्वरूप
भवाभिनंदि गुण प्राप्ति

- चर्मावर्त काल में प्रवेश
- अपुनर्बन्धक
- मार्गाभिमुख पर्गपतीत
- आदि धार्मिक अवस्था
- लक्षण (१) तीव्र भाव से पाप नहीं करेगा (२) औचित्य सेवन (३) अर्थ में नीति

- द्विर्बंधक समृद्ध बधक चरमसीमा

- व्यवहार राशि में प्रवेश
- महा भयानक
- मिथ्यात्व का अधकार

- अतिगाढ मिथ्यात्व
- सूक्ष्मनिगो
- अव्यवहार राशि
- आठ रूचक प्रदेश

आत्म-दृष्टियों का विकास-क्रम

कोष्ठक नं. २२

आत्म-दशा	गुण-स्थान क्रम	ध्यान	विकासकाल	ज्ञान-प्रकाश	योगदृष्टि	आस्था
	०	रौद्र-आर्त	अविकास काल	०	औध दृष्टि	मूढावस्था
	०	रौद्रआर्त	अविकास काल	०	औध दृष्टि	मूढावस्था
	०	रौद्रआर्त	अविकास काल	०	औध दृष्टि	मूढावस्था
	१	आर्त रौद्र	अविकास काल	तृण अग्नि-प्रभावत	मित्रा	क्षिप्ता-वस्था
	१	आर्त रौद्र	अविकास काल	गोमय अग्नि-प्रभावत	तारा	क्षिप्ता-वस्था
	२	आर्त रौद्र	अविकास काल	काष्ट अग्नि-प्रभावत	बला	विक्षिप्त
	३	आर्त रौद्र	अविकास काल	दीपप्रभावत	दीप्रा	विक्षिप्त
	४	आर्त रौद्र धर्म	विकास काल	रत्नप्रभा	स्थिरा	एकाग्र
	५	आर्त रौद्र	विकास काल	रत्नप्रभा	स्थिरा	एकाग्र
	६	आर्त धर्म	विकास काल	रत्नप्रभा	स्थिरा	एकाग्र
	७	धर्म	विकास काल	तारा की प्रभा	कान्ता	एकाग्र
	८-१२	धर्म शुक्ल	विकास काल	सूर्यप्रभावत	प्रभा	निरुद्ध
	१३	शुक्ल	पूर्णविकास काल	चन्द्रप्रभावत्	परा	निरुद्ध
	१४	परमशुक्ल	पूर्ण विकास काल	चन्द्रप्रभावत्	परा	निरुद्ध

योगीमहात्माओ के प्रकार

गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्रयोगी और निष्पन्नयोगी ऐसे योगियो के सामान्यत चार भेद माने गये हैं[१६] इनमे कुलयोगी और प्रवृत्त चक्रयोगी योगशास्त्र के

१६ योगदृष्टि समुच्चय गा २०८

अनुसार योग के दो अधिकारी माने गये हैं। गोत्रयोगी मे योगीजन्य योग्यता का अभाव होता है, अत वे योगीजनो के लिए अनधिकारी होते हैं। निष्पन्न सिद्धयोगी को योगसिद्ध की पूर्णाहुति हो गई है अत ऐसे सिद्ध योगी को योग प्रक्रिया की आवश्यकता नही होती है।

चार प्रकार के योगी

कोष्ठक नं २३

नाम	गोत्रयोगी	कुलयोगी	प्रवृत्तचक्रयोगी	(निष्पन्न) सिद्धयोगी
व्याख्या	भूमि भव्य आदिनाम धारी	योगीकुल मे जन्म हुआ हो अथवा योगी धर्म को अनुसरण करने वाला	जिसका अहिसादि योग चक्र प्रवृत्त है, चलने लगा है	जिसे योग निष्पन्न सिद्ध हैं
लक्षण	यथायोग्य गुणविहीन नाम-धारी	सर्वत्र अद्वेषी गुरु-देव-द्विज, प्रिय, दयालु, विनीत, बोधवत, यतेन्द्रिय	इच्छायम-प्रवृत्ति यम को प्राप्त हुये स्थिर यम अर्थी शुश्रुषादि गुणयुक्त, अवचक त्रययुक्त।	योगसिद्धि को प्राप्त समर्थ योगी
इस ग्रन्थ के योग्या-योग्य	अयोग्य	योग्य	योग्य	अयोग्य
कारण	योग्यता की असिद्धि	यथायोग्यता	यथायोग्यता	सिद्धिभाव प्राप्ति

पंचम-विभाग

(५) प्रयोग एक : योग अनेक–समस्या और समाधान की फलश्रुति में

अध्याय १. जड बन्धनो से मुक्त होने का परम उपाय-अध्यात्म
(अध्यात्म-योग)

अध्याय २. बहिर्मुख से अन्तर्मुख चेतना की जागृति का सम्पर्क सूत्र-भावना
(भावना-योग)

अध्याय ३. ध्यान वृत्ति शोधन एक सफल प्रयोग
(ध्यान-योग)

अध्याय ४. आतरिक शोधन समत्व की प्रयोगात्मक निधि से
(समत्व-योग)

अध्याय ५. वृत्तिओ के प्रभाव से आवेगो और शारीरिक प्रक्रियाओ मे परिवर्तन
(वृत्ति सक्षय योग)

१. जड़ बन्धनों से मुक्त होने का परम उपाय – अध्यात्म

१. षड्द्रव्यात्मक आत्मस्वरूप तात्त्विक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में,
२. अंतर्दृष्टि, आत्मसंयोग, आत्मसाक्षात्कार, ज्ञाता-दृष्टा के रूप में,
३. आत्मिक विकास से तैजस् लब्धि की उपलब्धि,
४. अध्यात्मयोग में साधक और बाधक तत्त्व,

(१) पदार्थों का आकर्षण
(२) नौका-शरीर नाविक-आत्मा में आधार और आधेय
(३) ममत्व की मूर्च्छा है
(४) आत्मोन्नति का विकासक्रम।

अध्यात्म योग

शब्दार्थ

अध्यात्म शब्द **'अधि'** और **'आत्मा'** इन दो शब्दो के समास से बना है। शुद्ध ... को लक्ष्य मे रखकर तद् अनुसार विचरण करना आध्यात्मिक जीवन या ... है। जड और चेतन ये ससार के दो तत्त्व हैं। ये दोनो तत्त्व एक-दूसरे के ... को जाने बिना नही जाने जा सकते। उनका यथायोग्य निरूपण अध्यात्म के ... से ही किया जाता है।

आत्मा है, आत्मा सुख-दु ख का कर्ता है, सुख-दु ख का भोक्ता है, परिणामि है, जड बन्धनो से मुक्त होने का उपाय है और मोक्ष है। इन षड् भेदो के ...-वियोग जन्य अनेक प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। अत आत्मा की ... दशा कर्मजन्य ससर्ग का कारणभूत है।

कर्म का ससर्ग आत्मा को किस प्रकार होता है? यह ससर्ग सादि है या अनादि? अनादि है तो उसका उच्छेद कैसे हो सकता है? कर्म का स्वरूप कैसा है, कर्म के ... कौन-कौन से हैं? कर्म के बन्ध, उदय और सत्ता किस प्रकार नियमबद्ध हैं?

इस समय आत्मा किस दशा मे है? वह अपनी मूल स्थिति को पा सकता है या और पा सकता है तो किस तरह? इत्यादि समस्याओ का समाधान पाना है तो ... योग का ज्ञान नितान्त आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त अध्यात्म के विषय मे मुख्यतया ससार (भवचक्र) की निस्सारता और निर्गुणता का, राग-द्वेष-मोहरूपी दोषो के कारण भवाटवी मे जो भ्रमण करने और क्लेश सहने पडते हैं उनका यथातथ्य चित्रण किया जाता है। भिन्न-भिन्न प्रकार से भावनाओ को समझाकर मोह-ममता का निरोध करना ही अध्यात्मयोग का प्रधान लक्ष्य होता है।

मोक्षाभिलाषी आत्मा निरन्तर साधना मे सलग्न रहता है, आराधना मे आसीन रहता है, उपासना मे स्थिर रहता है और सयोग-वियोग से परे रहता है, इसे अध्यात्मयोग कहते हैं, अत मुनि महर्षि महात्माओ और महायोगियो के लिए यह चिन्तन, मनन, अध्ययन, परिशीलन का विषय है।

अध्यात्मयोग कुछ विशेष लक्षणो से युक्त होता है, जो साधक को उसके अधिकार से न केवल अध्येता ही, अपितु प्रयोगकर्ता बनाकर परिणमनशील भी बना देता है।

व्युत्पत्ति एव परिभाषा

व्युत्पत्यार्थ स्वरूप मे अध्यात्म को देखा जाये तो अनुभूत होता है कि **"आत्मानमधिकृत्य यद्वर्तत तद्ध्यात्मकम्"** आत्मा को अधिकृत करने जो वर्तता है उसे अध्यात्म कहते हैं।

स्वात्मा मे सलीन साधक के सम्मुख बाह्य-पदार्थ विद्यमान होने पर भी उसका उसे कुछ भी असर नही होता, क्योकि बाह्य-विकल्पो से विमुख होकर सम्यक् धर्मध्यानादि आत्म स्वरूप का चिन्तन करना ही अध्यात्म तत्व है। अत इसी हेतु यहाँ अध्यात्म की परिभाषा बन गई। **'सम्यग्धर्मध्यानादि भावना अध्यात्म।'**

यहाँ सम्यग्धर्मध्यानादि भावना का तात्पर्य यही है कि ज्ञानभावना, दर्शनभावना, चारित्रभावना और वैराग्यभावना ये चारो धर्मध्यान की भावनाएँ अध्यात्मयोग की चरमावस्था है, अत शीलाकाचार्य ने इस परिभाषा मे अध्यात्मयोग से भावना योग मे कैसे प्रवेश किया जाय उसका उपाय बताने की कोशिश की है।

अध्यात्म की अनुभूति तात्त्विक चिन्तन का विषय है। तात्त्विक चिन्तन से ही

औचित्य क्या है, क्या नही का निर्णय होता है अत हरिभद्रसूरि ने औचित्यादि से युक्त समस्त तात्त्विक चिन्तन को ही अध्यात्म[1] कहा है।

---

१ तत्वचिन्तनमध्यात्म-मौचित्यादियुत्तस्य (योगबिन्दु गा ३८० पूर्वार्द्ध)

अध्यात्मयोग की दूसरी परिभाषा हरिभद्रसूरि ने जप[२] के रूप मे प्रस्तुत की है' अध्यात्म चिन्तन की पूर्व भूमिका जप है। जप से तात्विक चिन्तन परम और चरम अवस्था की प्राप्ति करता है।

अभयदेवसूरि ने "अध्यात्म को ध्यानयुक्त[३] कहा है" इस परिभाषा से हम एक विशेष लक्ष्य की ओर पहुॅचते है। यदि ध्यानयुक्त अध्यात्म की ओर हमारा दुर्लक्ष्य होगा, तो हम अनाध्यात्म मे पहुॅच जायेगे अत अभयदेवसूरि की यह परिभाषा लक्ष्य सूचक है।

उपाध्याय यशोविजयजी ने अध्यात्म की परिभाषा विभिन्न स्वरूप मे प्रस्तुत की है–

१ आत्मा के लिए की जाने वाली आत्मा की शुद्ध क्रिया अध्यात्म है[४]।

२ आत्मा को ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन पचाचार मे निहित होना अध्यात्म है[५]।

३ बाह्य व्यवहार से महत्त्व प्राप्त चिन्तन को मैत्री आदि चार भावनाओ से भावित करना अध्यात्म है[६]।

उपाध्यायजी की न २ की परिभाषा शीलाकाचार्य की परिभाषा से कुछ विशेषता बताती है। शीलाकाचार्य ने धर्मध्यान की ज्ञानादि भावना को अध्यात्म बताया है किन्तु उपाध्यायजी ने इसे ज्ञानादि भावना तक ही अध्यात्म को सीमित नही रखा उन्होने उन भावनाओ से भावित होकर उसे आचरण तक पहुॅचाने को अध्यात्म कहा है।

न ३ की परिभाषा मे उपाध्याय जी का मतव्य है कि चित्त विशेषत बाह्य व्यवहार से सयुक्त होता है। अध्यात्मचित्त बाह्याभिमुख चित्त को अन्तर्मुख बनाता है और मैत्री आदि भावनाओ से भावित करता है अत इस परिभाषा के अनुसार अध्यात्म बहिरात्मा से अतर्रात्मा मे प्रवेश कराता है।

---

२ जपोह्यध्यात्ममुच्यते - (योगबिन्दु गा ३८१)

३ अजज्झप्पज्झणजुत्ते - (अध्यात्मध्यानयुक्त) (प्रश्नव्याकरण सूत्र ३ स द्वा)

४. अध्यात्मसार - प्र १, अ २, श्लो २

५. अध्यात्मउपनिषद् अ १, श्लो २

६ अध्यात्मउपनिषद् अ १, श्लो ३

आत्मा की अनुभूति अध्यात्म ज्ञान से होती है। आत्मा का बन्धन और बन्धन की मुक्ति का उपाय जानने वाला आत्मज्ञानी कहलाता है।

उपर्युक्त अध्यात्म की सर्व परिभाषाएँ जब उचित प्रवृत्ति रूप अणुव्रत, महाव्रत से युक्त होती है, आगमानुसार मैत्री आदि भावना से युक्त होती हैं और तत्त्व चिन्तन से सयुक्त होती है, तब अध्यात्म योग कहा जाता है[७]।

अध्यात्मयोग का स्वरूप

योग्यतानुसार यथोचित धर्मप्रवृत्ति (तप, जप, पूजा, अर्चना, कायोत्सर्ग आदि) मे जो प्रवृत्त होता है, उसे आत्मसप्रेक्षण आत्महितबुद्धि या आत्मस्वरूप का बोध होता है[८]। क्योकि साधक को सन्मार्ग की ओर गतिशील कराने वाला परमतत्त्व का यथार्थ ज्ञान दर्शाने वाला, अध्यात्म ही एकमात्र परम उपाय है[९]। ऐसा अध्यात्म प्रथम गुणस्थानावर्त अपुनर्बन्धक अवस्था से लेकर क्रमश विशुद्ध विशुद्धत्तर और विशुद्धतम रूप धारण कर चतुर्दश गुणस्थान तक प्राप्त होता है[१०]अत आत्मा के लिए जो भी शुद्ध अनुष्ठान किया जाता है जिनेश्वर भगवन्तो[११]ने उसे अध्यात्म कहा है। ऐसा अध्यात्मभाव सामायिक छेदोपस्थापनीय रूप मोक्ष साधना योग मे सर्वत्र व्याप्त होता है[८]।

अध्यात्म योग के बल से ही साधक को आत्मा और शरीर का अथवा जड या चेतन का गहरा और महत्त्वपूर्ण भेद ज्ञान प्राप्त होता है।

योग की प्राथमिक भूमिका पर आरूढ होने वाले साधक की अतर्दृष्टि जब उजागर होती है तब अज्ञान समाप्त हो जाता है। इससे पूर्व अज्ञान का एकछत्र साम्राज्य रहता है। अधकार ही अधकार। सर्वत्र सघन अधकार। केवल बहिर्दर्शन, केवल पौद्गलिकता मे ही ममत्व की तरगे। उन ममत्व की तरगो के सामने कोई प्रतिरोधक शक्ति नहीं होती। उस अज्ञान अवस्था के सामने कोई रुकावट नहीं होती, कोई अवरोध नहीं होता। जैसे ही अतर्दृष्टि खुलती है, ममत्व के समक्ष प्रतिरोध की शक्ति खडी हो जाती है और अज्ञानता टूट जाती है।

अध्यात्मयोग का अर्थ है - आत्मसयोग आत्मसाक्षात्कार। शरीर के बाहर का सयोग या शरीर के भीतर का सयोग अध्यात्मयोग नहीं है। चाहे हम शरीर को बाहरी

---

७ योगबिन्दु - गा ३५७
८ योगबिन्दु - श्लो ३८९
९ योगबिन्दु - श्लो ६८
१० अध्यात्मसार - श्लो ४
११ अध्यात्मसार - श्लो ३

रूप मे देखे, चाहे हम शरीर को भीतरी रूप मे देखे, यह अतर्दर्शन नही है। अतर्दर्शन कुछ और होता है। वह है देह से परे कुछ है, ऐसा भान हो जाना। जब साधक अध्यात्मयोगी होता है तब उसे भान होता है कि मै शरीर नही हूॅ, शरीर अचेतन है, मै चेतन हूॅ। शरीर पुद्‌गल है, मै अपुद्‌गल हूॅ। शरीर मूर्त है, मैं अमूर्त हूॅ। अचेतन, पुद्‌गल और मूर्त के प्रतिपक्ष मे नये तथ्य का उदय होता है, नयें रहस्य का उद्‌घाटन होता है। चेतन, अ-पुद्‌गल और अमूर्त का भान हीता है।

आत्मा और शरीर के विषय मे सभी की दृष्टि भिन्न-भिन्न है। कुछ दार्शनिको ने आत्मा मै सत्ता की स्थापना की है तो कुछ दार्शनिको ने शरीर की सत्ता को स्वीकार किया है। आत्मा अमूर्त होने से उसके विषय मे अनेक समस्याएँ उठना स्वाभाविक है क्योकि हमारे जीवन का सारा बाह्य स्वरूप, सारा परिवेश और सारा वातावरण पुद्‌गल का है। हमारी आखे पौद्‌गलिक हैं। हमारा मन पौद्‌गलिक है। हमारी भाषा पौद्‌गलिक है। हमारा समस्त रूपी (शब्द, रूप, रस, गध) पदार्थ पौद्‌गलिक है। हमारी स्मृति पौद्‌गलिक है। हमारी बुद्धि पौद्‌गलिक है। इस प्रकार मनन, चिन्तन, इन्द्रियॉ इत्यादि सब कुछ पौद्‌गलिक है। फिर हमारे पास ऐसा कौन-सा सबल प्रमाण रहा जो अपौद्‌गलिक सत्ता की स्थापना कर सके ?

अध्यात्म का विकास जिस व्यक्ति मे होता है वह इस शाश्वत प्रश्न का समाधान तात्त्विक चिन्तवना से, तार्किक बुद्धि से, दार्शनिक धरातल से, दर्शन की उपलब्धि से, अनेक मार्मिक निर्णयो, समीक्षाओ और सकल्पो के आधार पर, आत्मा और अनात्मा, चेतन और अचेतन, पुद्‌गल और अपुद्‌गल के आधार पर अपने आप उद्‌घटित करता रहता है। जिस साधक को मन के साथ तैजसलब्धि का सयोग प्राप्त होता है वह अतर्मुहूर्त मे 'चौदह पूर्वो' का परावर्तन कर सकता है। "चौदह पूर्व अर्थात् ज्ञान के भडार है। उनका परावर्तन ४८ मिनट मे तैजसलब्धि की शक्ति का द्योतक है। जिसे वचनबल के साथ तैजसलब्धि का सयोग प्राप्त है वह चौदह पूर्वो का उच्चारण अतर्मुहूर्त मे कर सकता है। जिसकी तैजसलब्धि विशेष बलवती होती है वही चतुर्दश पूर्वी योगी है और सम्पूर्ण ज्ञान को अतर्मुहूर्त मे प्राप्त करने की क्षमता वाला है।

योग के क्षेत्र मे योग के द्वारा ऐसा विस्फोट होता है कि स्वय का समाधान स्वय से हो जाता है। वहॉ ममता की दीवारे टूट जाती है और स्पष्ट अनुभव होने लगते है कि मै वह हूॅ जो ज्ञाता है, द्रष्टा है। आत्मा का एकमात्र लक्षण ही ज्ञाता और द्रष्टा है। शुद्ध चैतन्य का उपयोग ही केवल ज्ञाता और द्रष्टा है। जहॉ कोई राग नही है, कोई द्वेष नही है। ज्ञाता और द्रष्टा का अर्थ है – राग-द्वेष से मुक्त होना, वर्तमान मे जीना, वीतराग भाव मे जीना।

जिस साधक ने अध्यात्म योग साध्य कर लिया है वही आत्मा ज्ञाता द्रष्टा है, उसी आत्मा को ज्ञान उपलब्ध हो जाता है। उस भूमिका पर पहुँच कर वह कहता है कि "मैं शरीर नही हूँ।" "मैं पुद्गल नही हूँ।" "मैं मूर्त नही हूँ।" "यह अध्यात्म योग की ही भूमिका हो सकती है। यहाँ चिन्तन की जो विक्षिप्त अवस्था थी, उसमे परिवर्तन आ जाता है। उसका भ्रम टूट जाता है और वह कहने लगता है कि, "मैं शरीर नहीं हूँ।" तब इससे चिन्तन का एक स्रोत निकलता है जिसे हम योग कहते हैं। आज तक यह भ्रम था कि मै और शरीर दोनो एक हैं जहाँ मैं हूँ वहाँ शरीर है जहाँ शरीर है वहाँ मै हूँ। पर अध्यात्म योग ने इस ज्ञान को उजागर किया अत इससे स्पष्ट प्रतीत हो गया कि शरीर अन्य है, मैं अन्य हूँ। इसे ही जड और चैतन्य का विवेक ज्ञान कहा जाता है। एक बार स्पष्ट समझ मे आ जाना चाहिये कि मैं शरीर से भिन्न हूँ और राग पर इतना तीव्र प्रहार होना चाहिए कि मोह अपने आप छिन्न-भिन्न हो जाये। क्योकि सर्वाधिक मोह शरीर पर ही होता है। शरीर साधन है फिर भी शरीर को ही सब कुछ मानकर कार्य किया जाता है। जब तक ममत्व बुद्धि छायी है, अहकार समाप्त नही होगा, वासना का तूफान शान्त नही होगा, कामनाएँ अनेक रूप धारण करती रहेगी, भोग की लालसाए भभकती रहेगी। जब सारी मूर्च्छा विलीन हो जाती है, सारी दरारे मिट जाती है तब यह स्पष्ट बोध होता है कि मैं शरीर नही हूँ। इस बोध के साथ-साथ सारी परिस्थितियाँ बदल जाती हैं। "यह शरीर मेरा नही है" "मै शरीर नही हूँ, मूर्च्छा का कुहरा खुल जाता है। "यह शरीर मेरा नही है।" अधकार के बादल मिट जाते हैं। वह अनासक्तयोगी बन जाता है जो सम्पूर्ण समत्व मे रह कर दिशा पकड लेता है, उसका मार्ग प्रशस्त हो जाता है। ऐसे साधक अध्यात्म योग की साधना मे स्थिर हो जाते हैं। मोह ग्रन्थि का विभेद होते ही शरीर की भिन्नता प्रतीत होती है, उसका भ्रम टूट जाता है और चैतन्य स्वरूप का बोध होने लगता है। वह जान लेता है कि मै कौन हूँ, मुझे क्या करना है ? कहाँ जाना है ? जब मोह की गाठे खुल गयी—"मैं शरीर नही हूँ, "शरीर मेरा नही है" तब नये चैतन्य का उदय होता है। जिसने यह स्पष्ट रूप से जान लिया कि शरीर भिन्न है और मैं भिन्न हूँ, उसे शरीर के प्रति कभी ममत्व नही रहेगा, उसे पदार्थो के प्रति कभी आसक्ति नही उठेगी।

भगवान् महावीर की दृष्टि मे—शरीर नौका है और आत्मा नाविक है[१२] यहाँ नौका और नाविक एक-दूसरे के लिए आधार और आधेय के रूप मे प्रस्तुत है, किन्तु दोनो अपने रूप मे स्वतन्त्र हैं। नाविक के लिए आवश्यक है कि नौका को सभालकर रखे,

---

१२ उत्तरा - २३/७३

किन्तु उससे जुडे नही। वह यह भी स्पष्ट जानता है कि जब तक किनारा न मिले तब तक उसके लिए नौका की आवश्यकता है, क्योकि नौका ही पार उतारने मे समर्थ है। जैसे ही किनारा मिल गया नौका उसके लिए निरर्थक है, व्यर्थ नौका का कोई उपयोग नही, नौका नौका के स्थान पर उपयोगी है, नाविक नाविक के स्थान पर। नौका का उपयोग हो सकता है, उपभोग नही। उपभोग वहॉ होता है जहॉ शरीर और आत्मा को भिन्न नही माना जाता। तट आने पर भी नौका अलग नही रहती। उसने नौका को अपना आधार मान लिया, नौका के सामर्थ्य से ही मै किनारा पा सका। इसे मै क्यो छोड़ूँ? ममत्व बुद्धि ने ऐसी भ्रान्ति पैदा कर दी जिससे नौका और नाविक भिन्न होने पर भी एक रूप अनुभूत हो रहे हैं। मिथ्यादृष्टि नौका से जुड जाता है। क्योकि नौका से पार होने की और सुरक्षा होने की बुद्धि उसमे विद्यमान है किन्तु उपभोग होने से उपयोग बुद्धि उजागर नही होती। नौका को साधन मात्र मानने की मति अध्यात्म योगी मे जन्म लेती है, जो नौका को केवल साधन मानता है और प्रयोजन सिद्ध होने पर उसे छोड देता है।

सभी सघर्षो का एकमात्र कारण है साधन से चिपकाव--जुड जाना। शरीर भी एक साधन है, सभी पदार्थ एक सामग्री है, जो साधन और सामग्री से जुडा रहता है, वह सबके साथ जुडा रहता है। जो साधन और सामग्री के साथ जुडा हुआ नही है वह किसी के साथ भी जुडा हुआ नही होता। अत साधक साधन और सामग्री का उपयोग करे किन्तु उपभोग की लालसा जागृत न करे। प्रत्येक सामग्री की सुरक्षा करना साधक का कर्त्तव्य है किन्तु उपभोग करना नही। ऐसा साधक अध्यात्म योगी है। उसी साधक मे द्वन्द्व या सघर्ष पैदा नही होता जो सामग्री का उपभोग करता है। क्योकि वह मानकर चलता है कि शरीर और पदार्थ मात्र साधन और सामग्री है एक उपयोगिता है, चिपकाव की वस्तु नही है। अध्यात्म योगी स्वय उसका अनुभव करता है।

मै और पदार्थ, पदार्थ और मै, दोनो मे प्रत्यक्ष अन्तर स्पष्ट होता है किन्तु ममत्व ने ऐसा घेरा डाला है कि साधक सोचता है मेरा घर है, मेरी पत्नी है, मेरा पुत्र है, मेरी दुकान है, दुकान और मै जितने भिन्न है उतने ही योगी और भोगी मे अन्तर होता है। एक अपने को पदार्थो से भिन्न मानता है और दूसरा अपने को पदार्थो से अभिन्न मानता है। अभिन्न मानने वाला वस्तुनिष्ट होने से उसके सयोग मे खुश और वियोग मे नाखुश है[११] और साधन मानने वाला सयोग और वियोग उभय मे मध्यस्थ रहता है। उससे साधन सामग्री का ममत्व छूट जाता है। ममत्व ही ससार है, ममत्व ही उपभोग है

---

११ [illegible] आ सु-१ अ-२ उ २ सू [illegible]

ममत्व ही मूर्च्छा है, ममत्व ही प्रमाद है। ममत्व टूटते ही कोई सदेह नही रहता, कोई भय नही रहता। सदेह और भय तो अज्ञान है। मैं और पदार्थ की भिन्न अवस्था मे ही यह ज्ञान विकसित हो सकता है, ज्ञाता और द्रष्टा का भाव विकसित हो सकता है। उस स्थिति मे बहुत सारी विषमताएँ टूटने लगती हैं तथा विकृतियाँ भी एक-एक कर खडित होती जाती है। ज्ञाता और द्रष्टा भाव स्वभाव है। जव आदमी ज्ञाता और द्रष्टा हो गया तो फिर विभाव ही समाप्त हो गया। अध्यात्म एक ऐसा योग है जहाँ साधक ज्ञाता भाव और द्रष्टा भाव मे सहज रह सकता है।

द्रष्टाभाव का मतलब है देखना। दृष्टि दो प्रकार की होती है– १ बाह्य, २ आतरिक। बाह्य दृष्टि है देखनेवाला अपने को कुछ मानकर देख रहा है। जैसे–अपने को इन्द्रिय मानकर विषयो को देख रहा है, अपने को मन मानकर इन्द्रिय को देख रहा है, अपने को बुद्धि मानकर मन को देख रहा है, अपने को अह मानकर मन को देख रहा है।

इस प्रकार बाह्य इन्द्रिय 'विषयो' का द्रष्टा है, मन 'इन्द्रियो' का द्रष्टा है और अह" "बुद्धि" का द्रष्टा है। इन्द्रिय दृष्टि की सत्यता का प्रभाव मोह उत्पन्न करता है और मोह भोग मे प्रवृत्त होता है, किन्तु बुद्धि दृष्टि की सत्यता मोह को वैराग्य मे और भोग को योग मे परिवतर्तित करता है। जब मोह त्याग मे और भोग योग मे परिवर्तित होता है तब ज्ञाताभाव और दृष्टाभाव आतरिक रूप मे बदल जाता है। अध्यात्मयोगी अपने आपको देखता है और अपने आपको जानता है।

अध्यात्मयोग के भेद

अध्यात्मयोग के चार भेद है – नाम अध्यात्म, स्थापना अध्यात्म, द्रव्य अध्यात्म एव भाव अध्यात्म।[१४]आत्मा का शुद्ध परिणाम भाव अध्यात्म है।

इन चार प्रकार के अध्यात्म मे भाव अध्यात्म मोक्ष का कारण है, अत भाव अध्यात्म की प्राप्ति के लिये मन की निर्मलता अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार सुवर्ण पर आच्छादित मल और सुपग एक रूप प्रतीत होने पर भी मल स्वर्ण मे अतर्भूत नही है पर आवरणभूत है, वैसे ही मात्र अध्यात्म की स्थिति वाला शुद्ध आत्मा कर्म रूप मलद्रव्य से आच्छादित है, फिर भी अतर्भूत न होने से वह भाव अध्यात्म की स्थिति का अधिकारी है। कर्म का अधिकार समाप्त होते ही आत्मा का जो स्वत अधिकार होता है, उस अधिकार की जो क्रिया है, वह भाव अध्यात्म कहलाता है। वह आत्मज्ञान एक

---

१४ श्री अध्यात्ममत - परीक्षा गा २

वस्तु होने से बोधरूप है, अत उसे ज्ञान कहते हैं। रुचि रूप होने से उसे सम्यकत्व दर्शन कहते है और प्राणातिपातादिक आश्रव निरोध रूप होने से उसे चारित्र कहते हैं।[१५]

इस प्रकार अध्यात्मयोगी दुराग्रह का त्याग, अद्वेषभाव, तत्त्वशुश्रूषा, सन्त-समागम, सत्पुरुषो की प्रतिपति, तत्त्वश्रवण, कल्याण-भावना, मिथ्यादृष्टि का विनाश सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति, क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषायो का नाश, इन्द्रियो पर सयम मन शुद्धि, ममता का त्याग, समता का प्रादुर्भाव, चित्त की स्थिरता, आत्मस्वरूप मे रमणता, ध्यान का प्रवाह, समाधि का आविर्भाव, मोहादि आवरणो का क्षय और अन्त मे केवलज्ञान तथा मोक्ष की प्राप्ति -- इस प्रकार मूल से लेकर क्रमश होने वाली आत्मोन्नति का वर्णन अध्यात्मयोग मे किया जाता है। इस अध्यात्मयोग मे प्रवेश पाने के लिए सर्वप्रथम आत्मा को जानना आवश्यक है। अत जैन दर्शन के अनुसार आत्मा चेतनमय अरूप सत्ता है[१६] उपयोग (चेतन की क्रिया) उसका लक्षण है[१७]। ज्ञान, दर्शन, सुख, दु ख आदि द्वारा वह व्यक्त होता है[१८] शब्द रूप, गन्ध, रस और स्पर्शना से वह रहित है[१९]। अर्थात् आत्मा चैतन्य स्वरूप है, परिणामी स्वरूप होने से विभिन्न अवस्थाओ मे परिणत है, स्वय कर्ता और भोक्ता है। सत् और असत् प्रवृत्तियो से शुभ-अशुभ कर्मों का सचय करने वाला और उसका फल भोगनेवाला स्वेदेश -परिणाम, न अणु न विभु (सर्वव्यापक) किन्तु मध्यम परिणाम रूप है। अत अध्यात्मयोगी ही इसे समझने मे सफल है।

---

१५ श्री अध्यात्ममत -- परीक्षा गा ३
१६. अरूपी सत्ता -- आचाराग सूत्र ६/१/३३२
१७ जीवोउवओग लक्खणो -- उत्तराध्ययन २०-१०
१८ माणेणे दसणेण च सुहेण य दुहेण य - उत २८-१०
१९. से ण सद्दे, ण रूवे, ण गधे ण रसे ण फासे -- आचाराग सूत्र - ४/६/४९६

ममत्व ही मूर्च्छा है, ममत्व ही प्रमाद है। ममत्व टूटते ही कोई सदेह नही रहता, कोई भय नही रहता। सदेह और भय तो अज्ञान है। मैं और पदार्थ की भिन्न अवस्था मे ही यह ज्ञान विकसित हो सकता है, ज्ञाता और द्रष्टा का भाव विकसित हो सकता है। उस स्थिति मे बहुत सारी विषमताएँ टूटने लगती हैं तथा विकृतियाँ भी एक-एक कर खडित होती जाती है। ज्ञाता और द्रष्टा भाव स्वभाव है। जब आदमी ज्ञाता और द्रष्टा हो गया तो फिर विभाव ही समाप्त हो गया। अध्यात्म एक ऐसा योग है जहाँ साधक ज्ञाता भाव और द्रष्टा भाव मे सहज रह सकता है।

द्रष्टाभाव का मतलब है देखना। दृष्टि दो प्रकार की होती है– १ बाह्य, २ आतरिक। बाह्य दृष्टि है देखनेवाला अपने को कुछ मानकर देख रहा है। जैसे–अपने को इन्द्रिय मानकर विषयो को देख रहा है, अपने को मन मानकर इन्द्रिय को देख रहा है, अपने को बुद्धि मानकर मन को देख रहा है, अपने को अह मानकर मन को देख रहा है।

इस प्रकार बाह्य इन्द्रिय 'विषयो' का द्रष्टा है, मन 'इन्द्रियो' का द्रष्टा है और अह'' ''बुद्धि'' का द्रष्टा है। इन्द्रिय दृष्टि की सत्यता का प्रभाव मोह उत्पन्न करता है और मोह भोग मे प्रवृत्त होता है, किन्तु बुद्धि दृष्टि की सत्यता मोह को वैराग्य मे और भोग को योग मे परिवतर्तित करता है। जब मोह त्याग मे और भोग योग मे परिवर्तित होता है तब ज्ञाताभाव और दृष्टाभाव आतरिक रूप मे बदल जाता है। अध्यात्मयोगी अपने आपको देखता है और अपने आपको जानता है।

अध्यात्मयोग के भेद

अध्यात्मयोग के चार भेद है – नाम अध्यात्म, स्थापना अध्यात्म, द्रव्य अध्यात्म एव भाव अध्यात्म।[१४]आत्मा का शुद्ध परिणाम भाव अध्यात्म है।

इन चार प्रकार के अध्यात्म मे भाव अध्यात्म मोक्ष का कारण है, अत भाव अध्यात्म की प्राप्ति के लिये मन की निर्मलता अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार सुवर्ण पर आच्छादित मल और सुपग एक रूप प्रतीत होने पर भी मल स्वर्ण मे अतर्भूत नही है पर आवरणभूत है, वैसे ही मात्र अध्यात्म की स्थिति वाला शुद्ध आत्मा कर्म रूप मलद्रव्य से आच्छादित है, फिर भी अतर्भूत न होने से वह भाव अध्यात्म की स्थिति का अधिकारी है। कर्म का अधिकार समाप्त होते ही आत्मा का जो स्वत अधिकार होता है, उस अधिकार की जो क्रिया है, वह भाव अध्यात्म कहलाता है। वह आत्मज्ञान एक

---

१४ श्री अध्यात्ममत - परीक्षा गा २

वस्तु होने से बोधरूप है, अत उसे ज्ञान कहते हैं। रुचि रूप होने से उसे सम्यकत्व दर्शन कहते हैं और प्राणातिपातादिक आश्रव निरोध रूप होने से उसे चारित्र कहते हैं।[१५]

इस प्रकार अध्यात्मयोगी दुराग्रह का त्याग, अद्वेषभाव, तत्त्वशुश्रूषा, सन्त-समागम, सत्पुरुषो की प्रतिपति, तत्त्वश्रवण, कल्याण-भावना, मिथ्यादृष्टि का विनाश सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति, क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषायो का नाश, इन्द्रियो पर सयम मन शुद्धि, ममता का त्याग, समता का प्रादुर्भाव, चित्त की स्थिरता, आत्मस्वरूप मे रमणता, ध्यान का प्रवाह, समाधि का आविर्भाव, मोहादि आवरणो का क्षय और अन्त मे केवलज्ञान तथा मोक्ष की प्राप्ति – इस प्रकार मूल से लेकर क्रमश होने वाली आत्मोन्नति का वर्णन अध्यात्मयोग मे किया जाता है। इस अध्यात्मयोग मे प्रवेश पाने के लिए सर्वप्रथम आत्मा को जानना आवश्यक है। अत जैन दर्शन के अनुसार आत्मा चेतनमय अरूप सत्ता है[१६] उपयोग (चेतन की क्रिया) उसका लक्षण है[१७]। ज्ञान, दर्शन, सुख, दु ख आदि द्वारा वह व्यक्त होता है[१८] शब्द रूप, गन्ध, रस और स्पर्शना से वह रहित है[१९]। अर्थात् आत्मा चैतन्य स्वरूप है, परिणामी स्वरूप होने से विभिन्न अवस्थाओ मे परिणत है, स्वय कर्ता और भोक्ता है। सत् और असत् प्रवृत्तियो से शुभ-अशुभ कर्मों का सचय करने वाला और उसका फल भोगनेवाला स्वेदेश - परिणाम, न अणु न विभु (सर्वव्यापक) किन्तु मध्यम परिणाम रूप है। अत अध्यात्मयोगी ही इसे समझने मे सफल है।

---

१५ श्री अध्यात्ममत – परीक्षा गा ३
१६. अरूपी सत्ता – आचाराग सूत्र ६/१/३३२
१७ जीवोउवओग लक्खणो – उत्तराध्ययन २०-१०
१८ माणेणे दसणेण च सुहेण य दुहेण य - उत २८-१०
१९. से ण सद्दे, ण रूवे, ण गधे ण रसे ण फासे – आचाराग सूत्र - ४/६/४९६

२. बहिर्मुख से अन्तर्मुख चेतना की जागृति का सम्पर्क-सूत्र – भावना

१ अध्यात्म और ध्यान का केन्द्र बिन्दु—भाव,
२ सस्कार जनित चिन्तन धारा का प्रवाह,
३ प्रकृति से विकृति का नाश मानसिक अनुशीलन से, .
४ यौगिक भावना से आतरिक अलिप्तता,
५ नित्यानित्य की चिन्तन धारा मे वैराग्य,
६ संसार के प्रति अरुचि, औदासिन्य भाव या उपेक्षा।

भावनायोग

भावनायोग वह सेतु है जिसका एक छोर अध्यात्म योग है और दूसरा ध्यान योग। अध्यात्मयोगी अध्यात्म की साधना मे निरन्तर विकास करता हुआ एक ऐसी उर्वर भूमि तैयार करता है जिसमे भावना के बीज बोये जाते है। भावना ही एक ऐसा बीज है जिससे अध्यात्मयोगी भेद ज्ञान को स्पष्ट करने मे समर्थ हो सकता है। विवेक चेतना जागृत कर सकता है, अप्रमत्तयोगी बन सकता है, यह भावना योग की अतिम भूमिका नहीं है। किन्तु विकास की प्रथम भूमिका अवश्य है। इसके होने पर ही भावना के दृढ सस्कार का विकास हो सकता है। जब अध्यात्मयोग सधता है तब ही विकास की नयी-नयी दिशाएँ उद्घाटित होने लगती हैं।

भावना योग का दूसरा छोर है ध्यान। ध्यान की समाप्ति होने के पश्चात् मन की मूर्च्छा को तोडने वाले विषयो का अनुचिन्तन करना भावना है। जिस विषय का अनुचिन्तन बार-बार किया जाता है, अथवा जिस प्रवृत्ति का बार-बार अभ्यास किया जाता है उससे मन मे दृढ सस्कार जम जाते हैं, अत उस सस्कार या चिन्तन को भावना कहा जाता है। इस प्रकार भावना योग अध्यात्म योग का दृढ सस्कार और ध्यान योग की पूर्व भूमिका है।

योग का अर्थ होता है – जोडना। आत्मा को आत्मा से जोडना, आत्मा को आत्मा मे रमण करना इत्यादि भावना योग का विषय है। इन्ही भावनाओ के सहयोग से आत्मा और परमात्मा का सयोग होता है। जैन आगमो मे भावना योग के सम्बन्ध मे बडा ही गम्भीर चिन्तन मिलता है। भावना के विविध प्रकार उसके अलग-अलग स्वरूप एव उपलब्धियो पर इतना विस्तृत विचार जैन आगमो मे मिलता है कि उसका सम्पूर्ण अनुशीलन करने मे स्वंय स्वार्थसिद्धि के देव भी असमर्थ होते है।

आगमोत्तरवर्ती आचार्य तो भावना योग के सम्बन्ध मे और भी गहरे उतरे हैं। ने तो इस भावना लक्षी विविध पहलुओ पर विविध दृष्टियो से चिन्तन किया है साधक जीवन पर पडने वाले उसके प्रभावो का विश्लेषण भी किया है।

भाव शब्द की व्युत्पत्ति - षट्खडागम की धवला टीका में **"भावनं भावः या भाव**[१]" के रूप मे और तत्त्वार्थ राजवार्तिक मे **'भावनं भवतीतिवा भावः**[२] के रूप प्राप्त होती है।

र्थ एवं परिभाषा

भाव शब्द का अर्थ है - विस्तार, अभिप्राय आचार्य शीलाकाचार्य ने भी भावश्चित्ताभिप्राय ' चित्त[३] का अभिप्राय भाव बताया है। सूत्रकृताग टीकाकार ने करण की परिणति विशेष[४] को भाव कहा है।

शब्द जब मन द्वारा विचारो मे बार-बार आप्लावित किया जाता है तब वही विचार का रूप धारण कर लेता है। आवश्यकसूत्र की हरिभद्रीय - टीका मे भावना का स्वरूप बताते हुए आचार्यश्री ने लिखा है कि "जिसके द्वारा मन को भावित जाये"[५] उसे भावना कहते हैं। इसी भावना को आचार्य ने "वासना"[६] कहा है। आचार्य मलयगिरि के शब्दो मे "भावना को परिकर्म"[७] कहा है। यह परिभाषा हरिभद्रसूरि से मिलती-जुलती है। क्योकि परिकर्म अर्थात् विचारो को भावना से भावित करना। "सतत् अभ्यास"[८] का सातत्य ही धीरे-धीरे भावना रूप धारण करता है। इसी प्रकार क्रिया का सम्यक् अभ्यास भावना के रूप मे पाया है[९]।

आगम मे कही-कही भावना को अनुप्रेक्षा भी कहा गया है। स्थानागसूत्र मे ध्यान प्रकरण मे धर्मध्यान आदि की चार अनुप्रेक्षा बतायी गई हैं। वहाँ अनुप्रेक्षा का अर्थ किया है। आचार्य उमास्वाति ने भी भावना के स्थान पर अनुप्रेक्षा शब्द का किया है[१०]।

धवला पुस्तक - ५/१, ७, १/१८४/१०
तत्त्वार्थराजवार्तिक - १/५/२८/९
आचाराग टीका - श्रु १/अ २/३, ५
भावोन्त करणस्य परिणतिविशेष /सूत्रकृताग टीका श्रु/अ १५
बृहत्कल्प भाष्य, भा २, गा १२८५ की वृत्ति पृ ३९७
आवश्यक सूत्र टीका ४
अभिधान राजेन्द्र कोष भा ५ पृ १५०५
बृहद्कल्पभाष्य भा २, गा १२९० वृत्ति
उत्तराध्ययन - अ १२ वृत्ति
तत्त्वार्थ सूत्र - ९१७

अनुयोगद्वार सूत्र की - टीका मे सस्कार और सस्कारजनित चिन्तन धारा का प्रवाह, अच्छा या बुरा जिस कार्य मे परिणत होता है, उसे भावना कहते हैं[११]। इस प्रकार सूत्र के अर्थ का ध्यानयुक्त अनुस्मरण करने के पश्चात् पर्यालोचन करना भी भावना कही जाती है। इस भावना की ऊर्जा को वैज्ञानिको ने इस निष्कर्ष पर पहुँचाया है कि ऊर्जा के छोटे कणो को क्वाटम कहते हैं। क्वाटम का मान प्रकाश की आवृत्ति के ऊपर निर्भर रहता है।

नील्स बोर ने सन् १९१३ ई मे यह दिखलाया कि यह क्वाटम सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक है और परमाणुओ मे इलेक्ट्रान जिन कक्षाओ मे घूमते हैं, वे कक्षाएँ भी क्वाटम सिद्धान्त के अनुसार ही निश्चित होती हैं। जब इलेक्ट्रान अधिक ऊर्जावाली कक्षा से कम ऊर्जावाली कक्षा मे जाता है तो इन दो ऊर्जाओ का अतर प्रकाश के रूप मे बाहर आता है और भावो के रूप मे सयोजा जाता है[१२]।

स ग्र - लेनार्ड ' ग्रेट मैन ऑव साइस , वाइटमैन द ग्रोथ ऑव साइटिफिक आइडियाज, टिडल होट ऐज ए मोड ऑव मोशन, माख हिस्ट्री एण्ड द रूट ऑव द' प्रिसिपल ऑव द कजर्वेशन ऑव एनर्जी और - ध्वनि-ऊर्जा (acoustical energy) विद्युत्-ऊर्जा (electrical energy) मे परिणत होती है इसमे उच्चरित ध्वनि तरगे एक तनु पट (diaphragm) मे जिसके पीछे रखे हुए कार्बन के कण (granules) परस्पर निकल आते और फैलते हैं, इसी प्रकार भावो के तीव्र कम्पन उत्पन्न करते हैं। इससे कार्बन के कणो मे प्रतिरोध (resistance) क्रमश घटता और बढता है। फलस्वरूप प्रवाहित होने वाली विद्युत धारा भी कम और अधिक हुआ करती है। एक सेकेंड मे साधारण रूप से भावो का कम्पन ५,००० धारा प्रति सेकेंड तक की आवृत्तियो को सुगमता से प्रेषित कर लेता है और लगभग २,५०० चक्र प्रति सेकेंड की आवृत्ति अत्यन्त उत्कृष्टतापूर्वक प्रेसित करता है[१३]। इससे भी तीव्र गति भावना की होती है[१४]।

भावना की उपलब्धि—प्रयोग और परिणाम से

भावना की उपलब्धि के तीन पहलू हैं सम, सवेग और निर्वेद। सम अर्थात् शत्रु-मित्र के प्रति समदृष्टि—जिसकी उपलब्धि मे मैत्रादि चार भावनाओ का अनुसधान रहा है। सवेग से ज्ञान प्राप्त होता है जिसके चिन्तन का आधार है अनित्यादि बारह

---

११ अनुयोग द्वार टीका (अभि पृ १५०५)
१२ अल्पपरिचित सैद्धान्तिक कोश पृ ४५
१३ हिन्दी विश्वकोश भाग ५, पृ १६५
१४ हिन्दी विश्वकोष भा २, पृ १९१

भावनाएँ और निर्वेद से प्राप्त होता है चारित्र। जिसके चिन्तन का विषय है पॉच महाव्रत की २५ भावनाएँ।

भावना का जन्म समभाव से होता है, भावना का विकास सवेग से बनता है और भावना का स्थायित्व निर्वेद से प्राप्त होता है। भावनायोग मे ज्ञान और दर्शन दोनो ही पक्षो पर चिन्तन किया गया है, पहले पदार्थों के स्वरूप का दर्शन किया जाता है उसके पश्चात् यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। तदनन्तर आत्मा अनात्मा आदि सम्बन्धो पर विचार करने पर मन मे एक निर्वेद भाव की झलक उभर आती है जो साधक को अनासक्त बना देती है।

जो निर्वेद ज्ञानपूर्वक होता है वह हमारी एक अन्तर्मुखी चेतना है। यह जागृत चेतना ही आगे चलकर ध्यान एव समता का रूप धारण करती है। अत भावना की अतिम साधना ध्यान तथा समता कही जाती है।

जैन योग मे भावना योग का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है उसमे उक्त तीनो ही दृष्टियाँ रही हैं। पहले वस्तु के प्रति समभाव पश्चात् स्वरूप-बोध, फिर स्वरूपोपलब्धि। स्वरूपोपलब्धि ही निर्वेद है। इसलिए कह सकते हैं — भावना स्वरूपदर्शन, स्वरूपबोध और स्वरूपोलब्धि तक की एक यौगिक साधना है। अत अध्यात्म योग की आराधना करने के पश्चात् योगी अपनी साधना मे क्रमश प्रगतिशील रहता है। वह जप, तप, नियम के साथ-साथ आगे बढता भावनायोग मे प्रवेश करता है।

१. सम भावना

भावनाओ के सतत् चिन्तन - मनन एव अनुशीलन से योग साधना मे क्रमिक विकास होता जाता है तथा हृदय मे एक प्रकार की निवृत्ति - निर्वेद तथा परम शांति का अनुभव भी होता है। मन के विकार क्रोध, मान, माया, लोभ, ममत्व, मोह, शरीर एव धन के प्रति आसक्ति स्वत क्षीण होने लगती है और सस्कारों मे वैराग्य तथा जागृति विशुद्ध होती है, इस कारण इन भावनाओ का सतत चिन्तन जीवन मे आवश्यक है।

योग साधना मे मैत्री–प्रमोद आदि भावनाओ की विशिष्ट साधना रूप प्रक्रिया चलती है। ऐसा लगता है कि इन चार सम भावनाओ को ही योग की आठ दृष्टियो के रूप मे आचार्य हरिभद्र ने नई परिभाषाओ के साथ प्रस्तुत किया है[१५]। क्योकि इन दृष्टियो मे भी योगोन्मुखी सत् प्रकार का चिन्तन और विचार प्रवाह बनता है। चित्त को

---

१५ योग दृष्टि समुच्चय - १३

मित्रता-प्रमोद, उपेक्षा आदि भावनाओ से आप्लावित करने का प्रयत्न योग-क्रिया मे किया गया है। इसलिए जहाँ महाव्रतो की २५ भावनाओ का सम्बन्ध चारित्र से है, वहाँ १२ भावनाओ का सीधा सम्बन्ध सवेग से है। जिसे हम "ज्ञान" कह सकते हैं। बारह भावनाओ मे मुख्यत ज्ञान की विशुद्धि की ओर अधिक झुकाव है। प्रत्येक चिन्तन मे ज्ञान को निर्मल एव स्थिर करने के ही उपादान वहाँ अधिक प्राप्त हुए हैं, और इन चार भावनाओ का विशिष्ट सम्बन्ध दर्शन को पुष्ट करना मान ले तो कुल भावनाओ की फलश्रुति ठीक निष्पन्न हो जाती है - "दर्शन, ज्ञान एव चारित्र के विशुद्ध सस्कारो को स्थिर करना भावना का फल है।" क्योकि मैत्री आदि भावनाएँ एक प्रकार से दर्शन विशुद्धि की भावनाएँ हैं, इसलिए हम यहाँ उनकी सज्ञा भावनाओ का दृढ स्वरूप सम देकर आगे इनका वर्णन करेंगे। सज्ञा कुछ भी हो सकती है, विषय-वस्तु मे कोई अन्तर नही होना चाहिए। सम भावना के दो भेद हैं - योगभावना और जिनकल्पभावना मैत्र्यादि योगभावना है, और तपादि जिनकल्पभावना है।

समस्त सत्त्व - जीवो के प्रति मैत्री हो, गुणीजनो के प्रति प्रमोद भाव हो, उनके गुणो के प्रति अनुराग एव सन्मान हो, दुखी जीवो के प्रति करुणा भाव हो, विरोधियो के प्रति उपेक्षा या मध्यस्थ भाव हो तथा प्रतिकूल प्रसगो मे भी राग-द्वेष के विकल्प से दूर विरक्त भाव हो ऐसा चिन्तन मैत्रादि योग भावना का है।

यह चिन्तन वास्तव मे ही एक योगी का चिन्तन है। वैरागी से अगली भूमिका योगी की है, अत हम यह भी मान सकते हैं कि १२ वैराग्य भावनाओ से मन को सस्कारित कर लेने के बाद योग भावनाओ की अगली सीढी पर आरूढ होना सुयोग्य होगा। यह मैत्र्यादि के बाद अगला आरोहण है तपादि भावनाओ का।

इन भावनाओ का प्रयोग न केवल आध्यात्मिक जीवन मे ही होता है, बल्कि व्यावहारिक जीवन मे भी बहुत उपयोगी है। आज के जन-जीवन मे द्वेष-ईर्ष्या, सघर्ष और कलह का कारण इन भावनाओ का अभाव ही है। यदि हम मित्रता, गुणग्राहकता, करुणा और तटस्थता सीख ले तो मेरा विश्वास है — ससार की अधिकाश समस्याएँ स्वत ही सुलझ जायेंगी।

आचार्य हेमचन्द्र ने इन चार भावनाओ का वर्णन ध्यान स्वरूप के साथ ही किया है, और इन्हे टूटे हुए ध्यान को पुन ध्यानान्तर के साथ जोडने वाली अथवा ध्यान को पुष्ट करने वाली रसायन कहा है[१६]

---

१६ योगशास्त्र - ४/११

सूत्रकृताग सूत्र (अध्याय १५ गा ३) मे **मित्ति भूएहिं कप्पए** – अर्थात् समस्त प्राणियो मे मैत्रीभाव रखे।

औपपातिक सूत्र। प्रश्न २० मे **सुप्पडियाणंदा।**
अर्थात् अपने से अधिक गुण वालो को देखकर आनन्द मे भर जावे।
औपपातिक भगवदुपदेश के अनुसार - **साणुकोस्सयाए।**

अर्थात् दु खी जीवो पर दया करे और अविनयी लोगो के लिये समाधि पालन करे।

आचाराग सूत्र अध्याय-८ उ. ८ गा ५ मे **"मज्झत्थो निज्जरापेही समाहिमणुपालए।"**

अर्थात् जीवन और मृत्यु की आकाक्षा से रहित माध्यस्थ साधक निर्जरा की उपेक्षा रखता हुआ समभाव मे स्थित रहे तथा आतरिक कषायो का एव बाह्य शारीरिक उपकरणो का त्याग कर आतरिक शोधन करे।

शात सुधारस मे भी चित्त को सद्धर्मध्यान मे स्थिर करने के कारणभूत मैत्री, कारुण्य, प्रमोद एव माध्यस्थ्य – ये चार भावनाएँ बताई हैं।

आचार्य हरिभद्रकृत योगबिन्दु के अनुसार मैत्र्यादि चार भावनाओ का चिन्तन अध्यात्मयोग मे किया गया है।

निष्पन्न योगियो का इन चार भावनाओ के अनुलक्ष मे जो चिन्तन होता है वह विशेष स्वरूप मे होता है उनके अनुसार सुख द्वारा ईर्ष्या का त्याग करे वह मैत्री है, दु ख की उपेक्षा का त्याग करे वह करुणा है, पुण्यवान प्राणी पर द्वेष न करना वरमुदिता है और अधर्मी प्राणी के प्रति राग-द्वेष को त्याग उपेक्षा है।

भगवती आराधना १६९६/१५१६ के अनुसार अनन्तकाल से मेरी आत्मा घटीयन्त्र के समान इस चतुर्गतिमय ससार मे भ्रमण कर रही है। इस ससार मे सम्पूर्ण प्राणियो ने मेरे ऊपर अनेक बार महान् उपकार किये हैं ऐसा मन मे जो विचार करना है, वह मैत्री भावना है।

सर्वार्थसिद्धि ७/११/३४९/७ के अनुसार दूसरो को दुख न हो ऐसी अभिलाषा रखना मैत्री है।

मैत्री भावना

चारो भावनाओ मे मैत्री भावना का स्थान प्रथम है। क्योकि अन्य तीनो भावना मैत्री भाव मे समा जाती हैं। जैसे—प्रमोद अर्थात् गुणीजनो के प्रति मैत्री - बहुमान

युक्त चित्त, करुणा अर्थात् दीन, हीन, जंतो के प्रति दयाभाव रूप मैत्री - अनुकम्पा युक्त चित्त , और माध्यस्थ अर्थात् निर्गुण तथा दोषो से युक्त अविनीत जीवो के प्रति मैत्री - अपेक्षा युक्त चित्त, इस प्रकार मैत्री भावना बहुत व्यापक है। आचार्यों ने बताया है–

मैत्री परेषां हितचिन्तनं यद् ।

दूसरो के हित की चिन्ता करना, दूसरो के लिए मगलकामनां करना–यह मैत्री है। इसी प्रकार भगवती आराधना मे भी मैत्र्यादि भावो का चिन्तन किया गया है। जैसे प्राणियो के साथ मैत्री भाव में स्थित रहना मैत्रीभाव है। प्रत्येक प्राणी के प्रति अनुकम्पा करना करुणा भावना है। यति गुण का विचार करना प्रमोद भावना है, तथा सुख-दुख मे समभाव रखना माध्यस्थ भावना है।[१७] सर्वार्थसिद्धि के अनुसार–

परेषां दुःखानुत्पत्यभिलाषी मैत्री[१८]।

अर्थात् दूसरो को दुख की उत्पत्ति न हो ऐसी अभिलाषा करना मैत्री है। ससार के समस्त जीव क्लेश, कष्ट और आपत्तियो से दूर रहकर सुखपूर्वक जीवें, परस्पर वैर न रखे, पाप न करे, और कोई किसी को पराभव न दे ये मैत्री-भावना के लक्षण हैं।[१९]

प्रमोद-भावना

गुणी जनो के प्रति होनें वाली अनुरागवृत्ति प्रमोद भावना है। मैत्री-भाव की तरह प्रमोदभाव भी साहजिक परिणति है। गुरु, ज्ञानी, तपस्वी, योगी आदि गुणीजनो का आदर, सत्कार, करना, इस भावना की फलश्रुति है।

सर्वार्थसिद्धि ग्रथ के अनुसार – मुख की प्रसन्नता, अन्तरग की भक्ति एव अनुराग को व्यक्त करना प्रमोद है।[२०] यति मुनि महात्माओ मे नम्रता, वैराग्य, निर्भयता, अभियान रहित पना, निर्दोषता, निर्लोभता, निर्मलता इत्यादि गुण होते हैं अत इन गुणो का विचार कर उन गुणो मे हर्ष मनाना प्रमोद-भावना का लक्षण है[२१]। उपाध्याय विनयविजयजी के अनुसार–

"भवेत् प्रमोदो गुणपक्षपातः[२२]

---

१७ भगवती आराधना गा १६९६
१८ सर्वार्थसिद्धि ७/११/३४९/७
१९ ज्ञानार्णव - २७/७
२० सर्वार्थसिद्धि ७/११/३४९
२१ भगवती आराधनावृत्ति १७९६/१५१६/१५
२२ शान्तसुधारस भावना - १३/३

गुणो के प्रति अनुराग रखना प्रमोद भावना है।

योगशास्त्र की टीकानुसार–"**वदनप्रसादादि भि· गुणाधिकेषु अभिव्यज्यमाना अन्त- भक्तिः अनुरागः प्रमोद**"। इस व्याख्या मे, और सर्वार्थसिद्धि की व्याख्या मे कोई अतर दिखलाई नही देता। आचार्य श्री हरिभद्र के षोडशक ग्रथ मे प्रमोद के स्थान पर मुदिता शब्द मिलता है।

प्रमोद भाव से महात्माओ मे स्थित शम, दम, औचित्य, धैर्य, गाभीर्य इत्यादि गुणो का मानसिक प्रकर्ष बढता है। मानसिक प्रकर्ष से महात्माओ के प्रति उत्कृष्ट विनय, वदन, सेवा, स्तुति, प्रशसा इत्यादि कायिक और वाचिक योग की अभिव्यक्ति होती है।

नमस्कार महामन्त्र और प्रमोद भावना

नमस्कार महामन्त्र की उपासना से प्रमोद भाव प्रकृष्ट होता है और पुण्यबल का सवर्धन होता है। मत्र का पुन -पुन स्मरण, चिन्तन, ध्यान ये प्रमोद भाव की उपासना का श्रेष्ठ साधन है। अथवा यह महामन्त्र का सार प्रमोद भाव है।

भावनमस्कार और प्रमोद भावना

नमस्कार दो प्रकार के हैं– (१) द्रव्यनमस्कार, (२) भावनमस्कार। वचनयोग और काययोग द्वारा होने वाला नमस्कार द्रव्य नमस्कार है और विशुद्ध मन द्वारा होने वाला नमस्कार भावनमस्कार है। यह भावनमस्कार भी प्रमोद भाव रूप ही है।

प्रमोद भावना और योग बीज

योग का प्रारम्भ प्रमोद भावना से होता है अत प्रमोद भावना को शास्त्रकारो ने योगबीज कहा है। चरम् पुद्गलपरावर्त मे साधक हेय, ज्ञेय और उपादेय बुद्धि से कार्य करता है। योग्यता बढने पर सद्गुरु के प्रति आदर बढता है और परमात्मा के साथ मानसिक सम्बन्ध होता है। यह मानसिक सम्बन्ध ही योग बीज है। यह मानसिक सम्बन्ध प्रमोद भाव रूप होने से प्रमोद भाव को भी योग बीज कहा जाता है।

कारुण्य भावना

कारुण्य भावना का स्थान जगत के प्रत्येक प्राणी के प्रति और विशेषत दीन-हीन, दुखी, पीडित, दरिद्र के प्रति दया अनुकम्पा के रूप मे होता है।

करुणा सवेगजन्य और स्वाभाविक दो प्रकार की होती है। सवेगजन्य करुणा लोकोत्तर है। यह करुणा अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तयोगी को होती है।

माध्यस्थ भावना

अभिधान राजेन्द्र कोश भा , ६, पृ, ६४ मे माध्यस्थ को "**मध्यरागद्वेषयोरंतराले तिष्ठतीति मध्यस्थः** अर्थात् राग और द्वेष दोनो पक्ष मे तटस्थ रहने वाला साधक माध्यस्थ है, ऐसा कहा है तथा दर्शन सटीक ५ तत्व के अनुसार तथा अत्युक्तटरागद्वेष विकलतया समचेत सोमाध्यस्थ है। अर्थात् अत्यन्त राग द्वेष की अवस्था मे स्थित रहना माध्यस्थ भाव है।

इस प्रकार प्राय अविनीत, निर्गुण विपरीत वृत्तिवाले हिसादि क्रूर कर्मों मे नि शक हो उनके प्रति वाचिक और कायिक मौन रहना वह माध्यस्थ हैं।

माध्यस्थ के वैराग्य, शान्ति, उपशम, प्रशम, उपेक्षा, उदासीनता, तटस्थता[23] इत्यादि पर्याय है। इनमे से सासारिक प्रवृत्तियो मे प्रवृत्त होने पर भी अंतमन से अलिप्त रहना माध्यस्थ है।

योग समाधि प्राप्त करने के लिये अन्य भावनाओ की तरह जिनकल्प भावनाओ की भी अत्यधिक आवश्यकता है इन भावनाओ द्वारा ही साधक समाधि को प्राप्त कर सकता है।

जिनकल्प भावना

जिनकल्प--जिनेश्वर भगवन्त की आज्ञानुसार मुनि श्रमण, श्रमणीवृन्द तथा श्रावक वर्ग की आचार प्रणालिका, व्रत, नियम आदि की मर्यादा और तदनुरूप समाचारी को कल्प कहा जाता है। आगमो मे यह कल्प शब्द श्रमणो की आचार मर्यादा (विधि) समाचारी के लिए ही प्रयुक्त होता है अत श्रमणो का आचार या कल्प ही जैन योग है।

आगम मे कल्प दो प्रकार का बताया है, (१) जिनकल्प और (२) स्थविर कल्प। जिनकल्पी जगल मे, श्मशान मे, गुफादि स्थानो मे एकाकी ध्यान और समाधिस्थ होते हैं और स्थविरकल्पी सघ मे और समुदाय मे रहकर साधना करते हैं।

विशेषावश्यक भाष्य मे – वज्रऋषभनाराच सहननवाले नवपूर्व के ज्ञाता, परिषह उपसर्ग को सहने वाले सक्षम योगी को जिनकल्पी बताया है[24]।

---

२३. तटस्थता के लिए देखिए--पाइअसदमहण्णवो पृ ६६८

२४ विशेष आवश्यक भाष्य भाषान्तर भाव १. पृ १२

जिनकल्प भावना के प्रकार

बृहत्कल्प भाष्य मे आचार्य सघदासगणी ने जिनकल्प भावनाओ का विस्तृत विचरण किया है। जैसे–

"तवेण सत्तेण सुत्तेण एगत्तेण बलेण य।
तुलणा पंचहा वुत्ता जिण कप्पं पडिवज्जओ[२५]॥

अर्थात् तप, सत्व, सूत्र, एकत्त्व तथा बल इत्यादि भावनाओ से भावित जिनकल्पी होते हैं **"दुक्खेण पुट्ठे धुवमायरज्जा[२६]"** दुख आने पर ध्रुवता, धैर्य धारण करना इन्हें योगियो का उद्देश्य होता है। इन योगियो का धैर्यबल सीमातीत होता है जैसे–

घिइ बल पुरस्सराओ, हवंति सव्वावि भावणा एता।
तं तु न विज्जइ सज्जं जं धिहमंतो न साहेई॥[२७]॥

धैर्यबल से जिनकल्प मुनि प्रत्येक कष्ट सहने मे सफल होते हैं।

२. संवेग भावना

सवेग अर्थात् मोक्ष के प्रति रुचि अनित्यादि बारह भावनाएँ सवेग भावनाएँ हैं। इन भावनाओ का वर्णन आगम और साहित्य मे विस्तृत ढग से प्राप्त होता है किन्तु सवेग भावना के रूप मे व्यवस्थित नही मिलता है। यद्यपि आगम का मूल विषय ही सम, सवेग और निर्वेद है अत दर्शन, ज्ञान और चारित्र मूलक विचार और भावनाएँ प्रतिक्षण मुखरित होती हो तो इसमे कोई विलक्षण बात नही क्योकि अनेक शास्त्र हैं, जिसमें आध्यात्मिक अनित्यादि भावनाओ का सम्बोधन किया गया है किन्तु उसका वर्णन-यत्र-तत्र बिखरा हुआ है। हमे इन बिखरे हुए मोती की एक माला तैयार करनी है जिसका योगसाधना मे सम्पूर्ण सहयोग है।

संवेग भावना के प्रकार

१ अनित्य भावना,	२ अशरण भावना,
३ ससार भावना,	४ एकत्त्व भावना,
५ अन्यत्व भावना,	६ असुचि भावना,

---

२५ बृहत्कल्प भाष्य श्लो १,२८० से १२९० तथा १३२८ से १३५७
(भगवती आराधना १८७ से २०३) (पचास्तिकायतार्त्ववृत्ति-१७३/२५४/१३)(नियमसार मूल १०२), (भावपाहुड मू ५९)

२६ सूत्रकृताग - १/७/२९

२७ बृहत्कल्प भाष्य - गा १३५७

७ आस्रव भावना, ८ सवरा भावना,
९ निर्जरा भावना, १० लोक भावना,
११ धर्म भावना, १२ बोधि दुर्लभ भावना।

इन बारह सवेग भावनाओ का वर्णन अनेक ग्रन्थो मे विभिन्न स्वरूपो मे उपस्थित किया है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र मे इन भावनाओ को अनुप्रेक्षा नाम से सम्बोधित किया है तथा प्रशमरति प्रकरण मे द्वादश-विशुद्ध सज्ञा से सिद्ध किया है। आचार्य नेमिचन्द्र ने भी इन भावनाओ को बृहद्द्रव्यसग्रह मे द्वादशानुप्रेक्षा से ही प्रकाशित किया है। श्रीमद् वहकेर ने मूलाचार मे और सोमदेवसूरि ने यशस्तिलक चम्पू मे इन द्वादश भावनाओ का सगठन किया है। शुभचन्द्राचार्य ने भी ज्ञानार्णव मे इन्ही द्वादशभावनाओ का वर्णन किया है जिसको उन्होने प्रशसा रूप कहा है। आचार्य हेमचन्द्र ने समभाव की प्राप्ति और निरममत्व भाव की जागृति हेतु द्वादश भावना का योग शास्त्र मे वर्णन किया है। स्वामी कार्तिकेय ने अपने कार्तिकेयानुप्रेक्षा नामक ग्रन्थ मे इस अनुप्रेक्षा अर्थात् भावना को भव्य जनो के लिए आनन्द की जननी अर्थात् माता का रूप दिया है। उपाध्याय विनयविजयजी कृत शान्तसुधारस मे भी इन्हीं द्वादश भावनाओ का सुचारू रूप से सचय हुआ है, जो ससार से विमुक्त कराने वाली है। शतावधानी पडित श्री रत्नचन्द जी म सा ने भी इन बारह भावनाओ का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है।

सवेग भावना के बारह प्रकार मे से किसी एक ही भावना के प्रयोग से आत्मा योग से अयोग रूप परमतत्त्व को पाता है , जैसे–

आत्मा का ससार मे भटकने का मुख्य कारण मोह है। ससार मे जितने भी दुख, भय, क्लेश, चिन्ता, शोक, आधि, व्याधि, उपाधि[२८]है उन सबकी उत्पत्ति मोह से होती है।

"अणिच्चे जीवलोगम्मि"[२९]अर्थात् इस जीवलोक मे पर्यायरूप से कुछ भी नित्य नही है। जन्म, मरण के साथ अनुबद्ध है, यौवन, वृद्धावस्था के साथ अनुबद्ध है और लक्ष्मी, विनाश के साथ अनुबद्ध है[३०]।

अनादि काल से इस जीवात्मा को इस शरीर के प्रति ममत्व रहा है। इस ममत्व के कारण ही वह आत्मा के अनेक कार्यों से दूर रह जाता है। अत इस ममत्व से मुक्त होने के लिए शरीर की अनित्यता का चिन्तन आवश्यक है।

---

२८ दशाश्रुतस्कध - ५/१२
२९ उत्तराध्ययन - १८/१२
० कार्तिकेयानुप्रेक्षा - गा ५

मनुष्य के शरीर मे एक भी रोम ऐसा नही है जिसके मूल मे रोग की सत्ता न हो। एक-एक रोम मे पौने दो-दो रोगो का अस्तित्व शास्त्रकारो ने बतलाया है। सत्ता मे रहने वाले वे रोग विषय भोग विलास और रोगोत्पादक आदि सहकारी कारणो के मिलने पर एकदम उभर आते हैं। आयु पानी के बुलबुले की तरह क्षणिक होने से निरन्तर क्षीण होती रहती है। रोगो के उपद्रव और आयु की क्षीणता, इन दो कारणो से **"इमं शरीरं अणिच्य"**[३१] अर्थात् यह शरीर अनित्य, नश्वर, क्षणभगुर और **"असासए सरीरम्मि"**[३२] अर्थात् अशाश्वत है। अत जन्म, जरा और मृत्यु तीनो इसी नश्वर शरीर के धर्म है।

पदार्थों की अनित्यता

ससार की समस्त वस्तुऍ पौद्गलिक है, जड़-पुद्गल से बनी है, और पुद्गल मे ही वह नष्ट होती हैं, क्योकि पुद्गल का स्वभाव ही है पूरण और गलन, **"पुरणाद्गलनाद्पुद्गल"** – पुद्गल का स्वभाव मिलना और बिखरना, बिखरना और मिलना है। अत समस्त पदार्थ परिवर्तनशील, नाशवान और क्षण-क्षण-विध्वसी है।

अनित्य भावना का चिन्तन

लक्ष्मी, शरीर, पदार्थ सब कुछ अनित्य है यहॉ तक कि जीवन भी अनित्य है। कई जीव गर्भावस्था मे ही मर जाते हैं कई स्पष्ट बोलने की अवस्था मे तथा कई बोलने की अवस्था आने के पहले ही चल बसते हैं। कोई कुमार अवस्था मे, कोई युवा होकर कोई प्रौढावस्था मे और कोई वृद्धावस्था मे मर जाते है, मृत्यु के लिए कोई अवस्था नही हैं[३३] कोई नियम नही है। वह तो जैसे बाज पक्षी को दबोच लेता है वैसे ही आयु समाप्त होने पर काल जीव को दबोच लेता है।[३४] एक बार तालका फल वृक्ष से गिर गया बस उसकी कोई अस्ति नही वैसे ही आयु क्षीण होने पर प्रत्येक प्राणी जीवन से च्युत हो जाता हैं[३५] कहा भी है – "वओ अच्चेति-जोव्वण च[३६] आयु और यौवन प्रतिक्षण व्यतीत हो रहा है।

---

३१ उत्तराध्ययन - १९/१३
३२ उत्तराध्ययन - १९/१४
३३ सूत्रकृताग - १/७/१०
३४ सूत्रकृताग - १२/२/१/२
३५ सूत्रकृताग - १/२/१/६
३६ आचाराग - २/१/६५

अर्थात् सौ वर्ष की आयु वाले जीव की आयु भी युवावस्था मे टूट जाती है।[३७] उपर्युक्त सत्य को जानकर विवेक-पुरुष अपनी आसक्ति को हटा दे और सर्व शुभ धर्मो से युक्त मोक्ष ले जाने वाले आर्य धर्म को ग्रहण करे।[३८] जैसे—पक्षी क्षीण फल वाले वृक्ष को छोडकर चले जाते हैं[३९]।

उत्तराध्ययन सूत्र मे चित्त मुनि ने सभूति राजन को यही बात कही थी कि आयुष्य निरन्तर क्षय होता जा रहा है। जरा मनुष्य के वर्ण रूप, सुन्दरता आदि को हर रही है। समस्त पदार्थ को छोडकर तुम्हे एक न एक दिन परवशता से अवश्य जाना है फिर इस अनित्य लोक मे राज्यादि के प्रति इतनी आसक्ति क्यो?[४०] इसी प्रकार सभी भावनाओ का अनुचिन्तन प्रयोगात्मक रूप से अयोग तक ले जाने मे समर्थ है।

३ निर्वेद भावना

सर्व प्रकार के सावद्ययोगो का त्याग करना निर्वेद कहलाता है। निर्वेद अर्थात् ससार के प्रति अरुचि। चारित्र धर्म को स्वीकार करने वाला ही इस निर्वेद भावना का अधिकारी होता है। ईर्ष्या आदि पॉच समिति एव मनोवाक्काय आदि तीन गुप्ति का पालन करना, परीषह उपसर्ग सहन करना इत्यादि से जो भाव दृढ होते हैं उसे निर्वेद भावना कहते है।[४२] ये भावना अहिसा आदि व्रतो के भेद से पॉच प्रकार की हैं[४१]। यह अहिसादि पॉचो भावनाओ से युक्त होने से इसे चारित्र भावना भी कहते है।

पॉच महाव्रतो की २५ भावनाएं

उत्तराध्ययन सूत्र मे भगवत ने बताया है कि पॉच महाव्रतो की २५ भावनाओ मे मनोयोगपूर्वक चिन्तन करता है वह योगी भव परिभ्रमण नही करता। इन भावनाओ के नीदिध्यासन से व्रतो मे स्थिरता आती है। आचाराग "समवायाग" प्रश्न व्याकरण सूत्र मे पॉच महाव्रतो की २५ भावनाओ का विस्तृत वर्णन मिलता है। समवायाग सूत्र मे केवल इसका नामोल्लेख मिलता है। आचाराग और प्रश्न व्याकरण मे विस्तार के साथ भावपूर्ण वर्णन मिलता है। जो हृदयस्पर्शी भी है।

इस प्रकार सम, सवेग और निर्वेद—तीनो भावनाओ से साधक शुभयोग से उपयोग और अयोग की आराधना मे सफल होता है।

---

३७ सूत्रकृताग - २/३/८
३८ सूत्रकृताग - १/८/१२-१३
३९ उत्तराध्ययन - १३/३१
४० उत्तराध्ययन - १८/१२
४१ योगशास्त्र - १/१८ पृ १०
आदिपुराण - २१/९८

३. ध्यान वृत्ति शोधन-एक सफल प्रयोग

१ भावना ध्यानाभ्यास की पूर्व भूमिका,

२ ध्यान-विक्षिप्त अवस्था मे अनुप्रेक्षा का चिन्तन,

३ काम, क्रोध, मद्र, लोभ का केन्द्र बिन्दु-अशुभ ध्यान

४. सत् चित् और आनन्द का केन्द्र बिन्दु-शुभ ध्यान
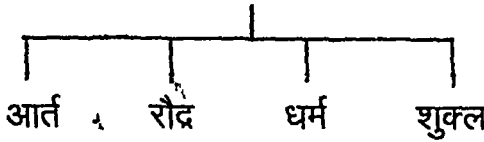
१ पदार्थो का आकर्षण-विकर्षण,
२ मनोज्ञ-अमनोज्ञ सयोग-वियोग,
३ कामान्ध, विषयो मे आसक्त, दीनता-निराशा,

१ चित्त निरोध, स्थिरीकरण
२ चैतन्य सत्ता का अनुभव,
३ चित्त निर्मल, जागृत अवस्था,
४ भेदज्ञान की प्राप्ति ।

ध्यान योग

ध्यान शब्दार्थ

ध्यान शब्द प्राकृत मे झाण रूप मे प्राप्त होता है। इसी हेतु स्थानाग सूत्र मे स्थान ४-१ मे **'चतारि झाणा पण्णता'** रूप प्राप्त होता है। आवश्यक सूत्र मे यह शब्द चिन्ता विचार, उत्कण्ठापूर्वक स्मरण, सोच इत्यादि अर्थ मे एव पाईअसद्दमहण्णओ - पृ ३६६ पर किसी एक पदार्थ मे एकाग्र होना या मन का निरोध करके केन्द्रित होना इत्यादि अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है ।

ध्यै चिन्तायाम रूप मे यह शब्द "ध्यै" धातु से निष्पन्न हुआ है। इस शब्द मे धातु मूलक ध्यान शब्द का अर्थ चिन्तन होता है। वास्तव मे ध्यान का चिन्तन अर्थ भी यहॉ व्युत्पत्ति लभ्य है, क्योकि प्रवृत्ति लभ्य अर्थ तो चित्त निरोध द्वारा आत्मनिरीक्षण या आत्मसाक्षात्कार से होता है। मन का निरीक्षण मानसिक ध्यान है, वचन का निरीक्षण वाचिक ध्यान है और शरीर को स्थिर करना कायिक ध्यान है ।

ध्यान शब्द चित्त निरोध का प्रबलतम हेतु है। जब साधक किसी एक विषय पर स्थिर होता है तब चित्त की चचलता का पवाह अनेक विषयो मे से किसी एक विषय पर

स्थिर हो जाता है। उसे ही ज्ञानी भगवन्तो ने ध्यान कहा है।[1] और जब यह चित्त अनवस्थित होता है तब वह तीन विभागो मे विभक्त होता है – (१) भावना, (२) अनुप्रेक्षा और (३) चिन्ता[2]।

भावना

चल चित्त को स्थिर करने का प्रथम प्रकार है भावना। भावना अर्थात् ध्यानाभ्यास की क्रिया। भावना की स्थिति ध्यान के अध्ययन काल मे अर्थात् ध्यान के प्राथमिक काल मे तथा अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् एकाग्रता की स्थिति होने पर होती है। ध्यान की ऐसी स्थिति को् भावना कहते हैं।

भोक्ता की भावना से ही भोगेच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, भोक्ता के आश्रय से ही भावना पुष्ट होती है। भोक्ता मे पूर्वक्रित सस्कार से इच्छा और वासनाएँ अकित होती हैं, वही वासनाएँ पुन इच्छाओ का हेतु बन जाती हैं। भावना ही ध्यान-साधना का अभ्यास है। अभ्यास काल मे ही ज्ञाता सुख-दुख के सवेदन की अनुभूति को पाता है। सुख-दुख को भोगता है। ज्ञाता घटना को जानता है भोगता नही। जहाँ केवल जानने की बात आती है, वहाँ भावना शुद्ध हो जाती है और ध्यान सधता जाता है।

अनुप्रेक्षा

चित्त की द्वितीय अवस्था अनुप्रेक्षा है – जो भी तत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया है उसका स्मरण, मनन, चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। ध्यान अतर्मुमुहूर्त से अधिक रह नही सकता। अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् साधक ध्यान से चलित हो जाता है। ऐसी स्थिति मे तत्व चिन्तन मे स्थित होना अनुप्रेक्षा कहा जाता है। जैसे ससार की अनित्यता का, स्वत् की एकत्त्वता का, जीवो की अशरण अवस्था का, ससार की विचित्रता का इत्यादि विषय का चिन्तन अनुप्रेक्षा कही जाती है।

चिन्ता

चित्त की तृतीय अवस्था है – चिन्ता। चिन्ता अर्थात् भावना और अनुप्रेक्षा के अतिरिक्त मन की सम्पूर्ण व्यग्र अवस्था। यह चिन्ता नानाविध विषयो मे फैली हुई परिस्पन्धनात्मक होती है [3]। चिन्ता चित्त की वह अवस्था है जो बाहरी वातावरण और वृत्तियो से प्रभावित होती है। चचलता स्वाभाविक नही है किन्तु बाह्य वातावरण और वृत्ति के योग से निष्पन्न है। अत चचलत्ता का मूल हेतु ही वृत्तियाँ हैं। मनुष्य जो भी

---

१ स्थिरमध्यवसान तद्ध्यानम् (आवश्यकनिर्युक्तेरवचूर्णि गा २ की टीका)

२ ध्यानशतक गा २

३ नानार्थवलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती–सर्वार्थसिद्धि - ९/२७-७

प्रवृत्तियॉ करता है वह अस्थायी होती हैं। प्रवृत्ति के समाप्त होने पर उसकी स्मृति प्रतिच्छाया रूप अल्प समय तक रेह जाती है। अत चचलता का एक हेतु स्मृति है।

स्मृति की भॉति कल्पना भी चिन्ता का अस्थायी रूप है। कल्पना मानव मस्तिष्क मे चलचित्र की तरह उभरती रहती है और प्रतिक्षण नये-नये रूप मे रूपातरित होती रहती है। अत चचलता का एक हेतु कल्पना भी है।

साधक शरीर, मन और इन्द्रियो के माध्यम से बाह्य जगत के साथ सम्पर्क करता है। यह बाह्य जगत शब्द रूप, गध, रस और स्पर्शमय है। वहॉ मन के अनुकूल और प्रतिकूल सयोग मे राग और द्वेष उत्पन्न होता रहता है। अत राग और द्वेष की परिणति भी चचलता का हेतु है। जैसे दीपशिखा दीपक का एक परिणाम विशेष है। सूर्य की किरणें सूर्य का परिणाम विशेष हैं, उष्णता अग्नि का परिणाम विशेष है, शीतलता जल का परिणाम विशेष है। उसी प्रकार वृत्तियो का निरोध होने पर चित्त का निरोध अपने आप हो जाता है। मन का निरोध होने पर जब साधक एक आलबन पर तात्त्विक चिन्तन करता है तथा उसी आलबन मे एकाग्र होता है वह ध्यान है।[४] हमारा चिन्तन अनेक विषयो पर चलता रहता है उसे वह ध्यान नही कहते हैं। अत ध्यान की पूर्व अवस्था या ध्यान टूटने के पश्चात् की अवस्था भावना और अनुप्रेक्षा की है, किन्तु चिन्ता, भावना और अनुप्रेक्षा से भिन्न चल चित्त के रूप मे होती है। तात्त्विक चिन्ता के सहयोग से साधक भावना और अनुप्रेक्षा मे स्थित होता है। इस प्रकार अभ्यास क्रम के साधक को ध्यानावस्था की प्राप्ति होती है।[५]

चित्त के भेद

चित्त का स्वभाव चल, उद्वेगजन्य और बहिर्मुखी होने पर भी रूपान्तरण की प्रक्रिया से तात्त्विक और सात्त्विक उभयात्मक होता है। हेमचन्द्राचार्य ने चित्त के चार प्रकार बताए हैं - (१) विक्षिप्त, (२) यातायात, (३) श्लिष्ट और (४) सुलीन[६]।

१ विक्षिप्त चित्त - चल होता है।

२ यातायात चित्त - किचित् आनन्दमय होता है (क्वचित चल-क्वचित अचल)।

३ श्लिष्ट चित्त - स्थिर और आनन्दमय होता है और

४ सुलीन चित्त - अति निश्चल और परमानन्दमय होता है।

---

४ ध्यायते चिन्त्यतेऽनेन तत्त्वमिति ध्यानम्
अभिधान राजेन्द्र कोश भा ४, पृ १६६२

५ ध्यान विचार (नमस्कार स्वाध्याय प्राकृत विभाग पृ २३६)

६ योगशास्त्र १२/२

१	विक्षिप्त चित्त और	विकल्पयुक्त और बाह्य शब्दादि विषयो
२	यातायात चित्त	को ग्रहण करने वाला होता है।
३	श्लिष्ट चित्त और	अध्यात्म ध्येयरूप विषय को ही ग्रहण करने वाला
४	सुलीन चित्त	होता है। बाह्य विषयो को नही।

योग के अभ्यास की प्राथमिक अवस्था मे कभी बाह्य विषयो मे जाने वांला और कभी ध्येय मे स्थिर होने वाला "यातायात" चित्त इष्ट माना गया है। क्योकि, सतत अभ्यास से शनै शनै चचलता दूर होने पर स्थिरता आने से "यातायात" चित्त ही क्रमश श्लिष्ट और 'सुलीन' हो जाता है तथा निरालम्ब ध्यान, समरस भाव और परमानन्द की प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त विश्लेषण का साराश यह है कि–

उपाध्याय यशोविजयजी ने चित्त के पॉच भेद बताये हैं –

१ **क्षिप्त चित्त** - विषयो मे मग्न बहिर्मुख और रोग से ग्रस्त

२ **मूठ चित्त** - इस लोक और परलोक सम्बन्धी विवेक रहित, क्रोधादि ग्रस्त।

३ **विक्षिप्त चित्त** - किचित् रक्त किचित् विरक्त[७]

४ **एकाग्र चित्त** - समाधि मे स्थिर

५ **निरुद्धचित्त** - स्थिरीकरण का अतिम प्रयोग

इस प्रकार योगसार मे एकाग्र चित्त का विशेष महत्त्व होने से साधक को चाहिए कि चल चित्त का निरोध करने का प्रयत्न करे और उसे निरन्तर अभ्यास से निश्चल बनाये।

ध्यान की परिभाषा

आचार्य हेमचन्द्र के शब्दो मे ध्यानतु विषये तस्मिन्नेकप्रत्ययसतिति[९] तथा आचार्य भद्रबाहु के शब्दो मे चित्तस्सेमग्गया इवइ झाण[१०] चित्त को किसी भी विषय पर स्थिर करना, एकाग्र करना ध्यान है।

उपर्युक्त परिभाषा से प्रतीत होता है कि मन को एकाग्र करना ही ध्यान है। प्रश्न है मन की चचलता को समाप्त कैसे करे, एकाग्रता कैसे प्राप्त करे ? मन तो अनेक विकारो मे बहता रहता है। उसका नियन्त्रण आसानी से नही होता। मानसिक

---

७ योगशास्त्र १२/३-४-५
८ अध्यात्मसार - श्लोक ४ से ८
९ अभिधान चिन्तामणि कोष - १/८४
१० आवश्यक निर्युक्ति - १४५६

स्पन्दनो की तरगे अति सूक्ष्म होती हैं। वे अध्यवसाय तक पहुँचती हैं और विविध रूपो मे तरगित होती हैं। ये तरगे सघन बनकर सस्कार के रूप मे जमा होती हैं। तरग का सघन रूप सस्कार है और सस्कार का सघन रूप क्रिया है, जो मानसिक चचलता को समाप्त होने नहीं देती। फिर शुद्ध भाव, शुद्ध लेश्या, शुद्ध अध्यवसाय, शुद्धयोग कैसे हो सकते हैं ? उपाय है एकमात्र साधना का। साधना द्वारा कषाय मद होती है। मन सधता है और किसी एक पदार्थ पर केन्द्रित होता है।

मन जहाँ भी, जिस विषय मे केन्द्रित होता है उस विषय का 'ध्यान' होता है। इसलिए 'ध्यान' का प्रथम अर्थ है मन का किसी एक विषय मे स्थिर होना। तत्त्वार्थ मे परिस्पदन से रहित एकाग्रचित्त का निरोध ध्यान कहा है। और उसे ही निर्जरा एव सवर का कारण माना है। इस प्रकार अन्य क्रियाओ से हटाकर एक विषय मे स्थिर होना एकाग्रचिन्ता निरोध है[११]। ऐसा ध्यान सचित कर्मो की निर्जरा तथा नये कर्मों के आश्रव को रोकने रूप सवर से होता है। अत एकाग्र ध्यान मे सवर और निर्जरा की उभय शक्ति विद्यमान है।

"एकाग्रचिन्तानिरोधोध्यानम्" इस ध्यान लक्षणात्मक वाक्य मे एक शब्द सख्यापरक होने के साथ-साथ यहाँ पर प्रधान अर्थ मे विक्षिप्त है[१२]और व्यग्रता की विनिवृत्ति के लिये आवश्यक है।[१३]ज्ञान व्यग्र होता है किन्तु ध्यान व्यग्र नही होता है। अर्थात् एकाग्रता से चिन्ता का निरोध होता है और वह ध्यान है। ऐसे ध्यान का अधिकारी उत्तम सहननवाला छद्मस्थ साधक होता है। वह अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ही हो सकता है। योग निरोध यह जिनो का ध्यान है। यहाँ एकाग्र शब्द मानसिक व्यग्रता की निवृत्ति का द्योतक है। उत्तम सहनन वाला साधक ही ऐसा समर्थ होता है जो अतर्मुहूर्त मे एकाग्रतापूर्वक चिन्ता से निवृत्त हो सकता है। अन्य सहनन वालो की धैर्यता इस विषय मे असमर्थ होती है।

क्योकि मन का स्वभाव चचल है, प्रारम्भावस्था मे मन को स्थिर करने का अभ्यास करना चाहिए। अभ्यस्थ दशा मे विषयो मे प्रवृत्त चित्त किसी एक विषय मे नि प्रकप वायुरहित ध्यान मे स्थित दीपशिखा की तरह[१] निश्चल हो जाता है, ऐसा ध्यान उत्तम सहनन वाले साधक मे ही सभव है। जिसका काल परिमाण अन्तर्मुहूर्त स्थित होता है और बारहवे गुणस्थान तक रहता है।

---

११ सर्वार्थसिद्धि - ९-२७
१२ तत्त्वार्थ वार्तिक - ९/२७/२
१३ तत्त्वार्थ वार्तिक - ९/२७/२
१४ स्थिर प्रदीप सदृश – योगबिन्दु गा ३६२

सर्वज्ञत्व प्राप्त होने के पश्चात् जो ध्यान होता है, उसका स्वरूप भिन्न प्रकार का होता है। तेरहवे गुणस्थान मे मन, वचन, काय तीनो योग का निरोध प्रारम्भ होता है। स्थूल से सूक्ष्म होते ही साधक सूक्ष्म क्रिया, प्रतिपातीनाम का तृतीय शुक्लध्यान मे स्थित होते हैं।

इस विषय मे अनेक आचार्य सहमत हैं, जैसे–

१ जिनभद्रगणि श्रमाश्रमण कृत "ध्यान शतक" मे

"अन्तो मुहुत्तमेतं, चित्तावस्थाणमेगवत्थुमे।
छउमत्थाण झाणं जोगनिरोहो जिणाणं तु॥

२ हरिभद्रीय आवश्यक सूत्र मे–

अन्तर्मुहूर्त कालं यच्चित्तावस्थानमेकस्मिन् वस्तुनि तत्स्वअस्थानां ध्यानम्।
योग निरोधो जिनानामेघ ध्यानं नान्येषाम्।

३ उमास्वाति प्रणीत तत्त्वार्थ सूत्र मे–

उत्तमसहननस्येकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् आ मुहूर्तात्।

४ विनयविजय विरचित काललोक प्रकाश मे–

ध्यान नाम मन स्थैर्य यावदन्त मुहूर्तकम।

५ शुभ चन्द्राचार्यकृत ज्ञानार्णव मे–

उत्कृष्ट कायबन्धस्य साधोरन्तमुहूर्तत
ध्यान माहूरर्थकाग्रचिन्तारोधे बुधातमा

६ श्रीमद्यशोविजय जी प्रणीत अध्यात्मसार मे–

मुहूर्तान्तर्मवेद्व्यानमेकार्थे मनस स्थिति
बहार्थसड क्रमे दीर्मा प्यच्छिन्ना ध्यान सन्तति

७ उपाध्याय सकलचन्द्रजी कृत ध्यानदीपिका मे–

दृढसहनंनस्थापि मुनेशन्तमुहूर्तिकम।
ध्यानमाहुर्स्थकाग्रचितारोधो जिनोत्मा
छदमस्थानातु यह ध्यान भवेदान्तमुहूतिकेमृ।[१५]

---

१५ उपर्युक्त ध्यान अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही स्थिर रहता है मुहूर्त अर्थात ४८ मिनिट और अन्तर्मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनिट के बीच का काल। ध्यान ४८ मिनिट से अधिक रह ही नहीं सकता। अत काल परिमाण अन्तर्मुहूर्त रखा गया है। अतर्मुहूर्त के पश्चात् मन की स्थिति का परिवर्तन होता है।

चौदहवे गुणस्थान मे स्थित साधक सम्पूर्ण अयोगी अवस्था मे शैलेशीकरण के समय मे समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति नाम के चौथे शु० ध्यान मे स्थित होता है। यहाँ कायिक स्थूल व्यापार को रोकने का प्रयत्न होने से इसे ध्यान माना गया है क्योंकि आत्मप्रदेशो की जो निष्प्रकपता है, वह ध्यान है।

ध्यान जिस विषय पर स्थित होता है उस विषय मे आत्मशक्ति तीव्र होती है, अनेक प्रकार के अनुभव भासमान होते हैं तथा अनेक प्रकार की लब्धियाँ प्रकट होती हैं। उसका क्या कारण और वह कैसे ? अभ्यास दशा मे काल प्रवाह नही देखा जाता मन स्थिति का परिवर्तन देखा जाता है। मन की एकाग्रता कब तक केन्द्रित रहती है, विकल्प रहित अवस्था कब तक बनी रहती है यह देखा जाता है। एक ही पदार्थ मे अन्तमुहूर्त तक एकाग्र रहने वाला समर्थ योगी ही हो सकता है। अत अन्तर्मुहूर्त शब्द यहाँ छद्मस्थ की अपेक्षा से विवक्षित है। सर्वज्ञ की अपेक्षा से नहीं। सर्वज्ञ मे घटाने पर ध्यान का काल परिमाण अधिक भी हो सकता है, क्योकि वचन और शरीर की प्रवृत्ति विषयक सुदृढ प्रयत्न को अधिक समय तक भी सर्वज्ञ लम्बा कर सकते हैं। अन्यथा सर्वज्ञ को ध्यान की आवश्यकता ही नही। परन्तु यहाँ ध्यान का अर्थ वाचिक और कायिक स्थैर्य है।

श्री रत्नशेखर सूरि कृत गुणस्थान क्रमारोह मे भी मन की स्थिरता छद्मस्थ का ध्यान और काया की स्थिरता केवली का ध्यान कहा है।

ध्यान का महत्त्व

प्राकृतिक दृष्टि से प्रत्येक साधक सच्चिदानन्द है। किन्तु उपयोग और उपभोग की अपेक्षा से भिन्नता अवश्य होती है। योगी सत्, चित् और आनन्द मे उपयोग रखता है और भोगी उपभोग करता है।

भोगी का भोग तो पशुओ मे भी पाया जाता है, मानव की अपेक्षा उसमे शक्ति विशेष होती है किन्तु चेतना जागृत नही होती, चेतना का विकास मानव मे होता-है। पशुओ की शक्ति का उपभोग मानव करता है।

भोगी मानव ने शक्ति का उपभोग किया, चेतना का विकास किया, किन्तु आनन्द का अस्तित्व खो दिया। शक्ति और चेतना का सम्यक् उपभोग ही आनन्द की उपलब्धि है और वह योगी मे ही पायी जाती है।

ध्यान आनन्द का केन्द्र है। साधक ही अपने सामर्थ्य से आनन्द की अनुभूति पा सकता है। भोगी के लिये, पशुओ के लिए चैतन्य शक्ति का उपभोग हो सकता है पर आनन्द की अनुभूति मात्र योगी को ही हो सकती है। यस्य चित्त स्थिरी भूत सहि ध्याता

प्रशस्यते–जिसका चित्त स्थिर है वही ध्यान का अधिकारी है ।[१६] ध्यानी–धीर, शान्त, स्थिर, जितेन्द्रिय गुणों से युक्त होता है ।[१७]

आनन्द का बाधक तत्व है–शक्ति, और आनन्द का साधक तत्व भी शक्ति है, क्योकि शक्ति भोगी मे भी है और योगी मे भी है । एक शक्ति का उपयोग करता है, एक शक्ति का उपभोग करता है ।

ध्यान के प्रकार

ध्यान के दो प्रकार है–१ शुभ ध्यान, २ अशुभ ध्यान। भोगी की शक्ति का उपभोग अशुभ ध्यान मे होता है । योगी की शक्ति का उपयोग शुभ ध्यान मे होता है। अत ध्यान को प्राथमिक भूमिका से उठाकर अतिम शिखा तक ले जाने के चार आयाम है–

चतारि झाणा पण्णता तं जहा
अट्टे झाणे रोट्टे झाणे थम्मे झाणे सुक्के झाणे[१८]।

ध्यान के चार प्रकार कहे हैं– आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान।

ध्यान के दो आयाम– १ आर्तध्यान २ रौद्रध्यान । अशुभ ध्यान है जैसे–कामान्ध विषयो मे आसक्त है, किसी स्त्री के रूप मे मुग्ध है, लोभी धन प्राप्ति की योजना मे सलग्न है, हत्यारा हिसा मे ही लीन है, चोर चोरी करने मे ही मस्त है, मायाचारी षड्यन्त्र मे ही एकाग्र बुद्धि रखता है । यहाँ किसी एक विषय मे स्थिरता अवश्य है किन्तु एक गाय का दूध है दूसरा थूहर का । दूध दोनो है, श्वेत वर्ण दोनो मे ही है किन्तु एक मे अमृत है, दूसरे मे विष है । एक मे मृत्यु है, दूसरे मे जीवन है । एक मे ससार है, दूसरे मे मुक्ति है ।

अशुभ ध्यान का आदि बिन्दु है–राग, वासना, मूर्च्छा । कडी को कडी से जोडने वाला राग है । जहाँ राग है वहाँ ससार है, जहाँ राग है वहाँ बन्धन है, जहाँ राग है वहाँ सम्बन्ध है, जहाँ राग है वहाँ परिस्थिति, परिवार, समाज और व्यवहार है । राग की तरगो ने ही वासनाओ को जन्म दिया । वासना की पूर्ति के लिए माया और ममता का सम्पर्क स्थापित हुआ । यह सम्पर्क ही पोजिटिव प्रक्रिया है । इस प्रक्रिया मे ही काम, क्रोध, मद, लोभ छिपा हुआ है । इसी प्रक्रिया मे व्यक्ति की अभिव्यक्ति व्यक्त होती है । उस अभिव्यक्ति की अनुभूति ही आर्तध्यान और रौद्रध्यान है ।

---

१६ ज्ञानार्णव – पृ ८४
१७ ज्ञानसार – ६
१८ स्थानांग सूत्र - ४

इस ध्यान से भोगी जुडा हुआ है, भोग मे रोग छाया हुआ है। इस प्रकार रुग्ण मानव पीडा से ग्रसित रहता है। मृत्यु के भय से त्रसित रहता है, प्रचुर दुख से घिरा हुआ रहता है और तनाव मे बहता रहता है। कौन इस ध्यान से बचा है छोटा हो या बडा हो, ऊँच हो या नीच हो, गरीब हो या धनवान हो, ज्ञानी हो या अज्ञानी हो सभी इसके शिकजे मे फसे हुए हैं।

आर्तध्यान

आर्तध्यान की भावना मे दीनता, मन मे उदासीनता, निराशा और व्याकुलता से क्षोभ होता है अत जब मनोज्ञपदार्थों के वियोग से शोक उत्पन्न होता है तब मन अशुभ हो जाता है इस अशुभ मन के सस्कार जमा हो जाते हैं उसे आर्तध्यान कहा जाता है।

आर्तध्यान के कारण

आर्तध्यान के चार कारण हैं—

१. **अणुमान संपयोग**—अमनोज्ञ सयोग—अनचाहा सयोग, अनिष्ट सयोग।
२ **मणुन्न संपयोग**—मनोज्ञ वियोग—मनचाहा वियोग, ईष्ट वियोग
३ **आयंका संपयोग**- आर्तक सप्रयोग—रोग, चिन्ता, व्याधि और भय, चिन्ता।
४ **परिजसिय काम-भोग संपयोग**—कामभोग सप्रयोग - भोगोपयोग की चिन्ता।

आर्तध्यान के लक्षण

आर्तध्यान के चार लक्षण हैं—

१ क्रन्दनता—रोना, विलाप करना, चिल्लाना।
२ शोचनता—शोक करना, चिन्ता करना
३ तिप्पणता—आसू बहाना,
४ परिवेदणा—हृदय को आघात पहुँचाए ऐसा शोक करना।

आर्तध्यान के स्वामी

आर्तध्यान के स्वामी अविरति, देशविरति और प्रमत्तयुक्त सयति[१९](साधुमुनि महात्मा) होते है। यह ध्यान सम्पूर्ण प्रमाद का मूल है। अत योगी महात्माओ के लिए सर्वथा हेय है।

प्रमत्त योगी तक इस आर्तध्यान का आधिपत्य होने से एक से लेकर छठा गुणस्थान तक उक्त ध्यान सभवित है। विशेषत प्रमत्तसयत गुणस्थान मे निदान के

---

१९ ध्यानशतक मा १०-१३

अतिरिक्त तीन आर्तध्यान सभवित हैं। असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक के जीव अविरत कहलाते हैं, सयतासयत जीव देशविरत कहलाते हैं तथा प्रसाद से मुक्त क्रिया करने वाले जीव प्रमत्त सयत कहलाते हैं।

आर्तध्यान में लेश्या

आर्तध्यान मे तीन लेश्या होती हैं—१ कृष्ण, २ नील और ३ कापोत, किन्तु रौद्रध्यान की अपेक्षा मद होती है।

आर्तध्यान का फल

१ ससार वृद्धि, २ कर्म बन्ध का कारण, ३ भवभ्रमण, ४ तिर्यचगति

इन चार प्रकार मे से कोई द्वेष का, कोई राग का, कोई मोह का कारण होता है, अत जिस व्यक्ति मे ये चार लक्षण दिखाई दे उसे आर्तध्यानी समझना चाहिए। राग-द्वेष और मोह ससार का कारण है और आर्तध्यान तिर्यचगति का कारण है।[20] तिर्यचगति ससारवृक्ष का मूल है और आर्तध्यान ससार वृक्ष का बीज है।[21]

कोष्ठक न २४
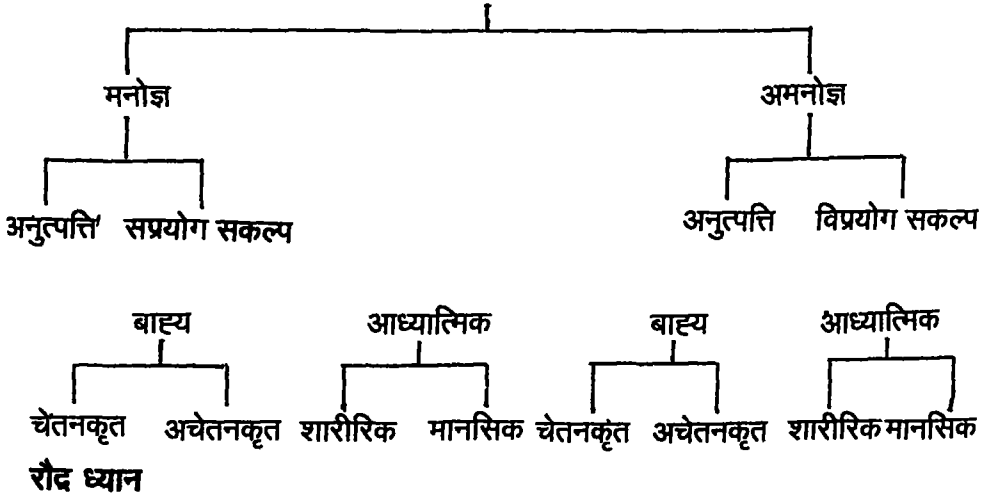
रौद्र ध्यान

जहाँ चित्त क्रूर, निर्दय और हिसात्मक होता है स्वार्थ वृत्ति और विनाश की भावना प्रबल होती है तथा शत्रुओ के प्रति महाद्वेष उत्पन्न होता है उसे रौद्र ध्यान कहते हैं।

---

२० सर्वार्थसिद्धि - ९-२९ राजवार्तिक ९-३३-२६२७ ज्ञानार्णव-२५,४२

२१ अध्यात्मसार - ध्यानाधिकार गा ८९ महापुराण २१-३८, ज्ञानार्णव २५-४० चारित्रासार - १६९-३

रौद्रध्यान के कारण

१. हिंसा में प्रवृत्ति—जीवो का वध बन्धन आदि का चिन्तन करना।

२. असत्य भाषण में प्रवृत्ति—दूसरो को ठगनेवाली मिथ्यावाणी का प्रणिधान।

३. चौर्य में प्रवृत्ति—अन्य के धन आदि वस्तु हरण करने की बुद्धि।

४. विषय संरक्षण में प्रवृत्ति—शब्दादि विषयो के साधनमूल घन आदि वस्तुओ की रक्षा के लिए अत्यन्त व्याकुल रहना।

रौद्र ध्यान के स्वामी तथा लक्षण

	स्वामी	लक्षण
१	आसन्नदोष रौद्रध्यानी	प्राय देशव्रती
२	बहुल दोषता रौद्रध्यानी	प्राय अविरति
३	अज्ञानदोष रौद्रध्यानी	प्राय मिथ्यादृष्टि
४	मारणान्त दोष रौद्रध्यानी	अनन्तानुबन्धी कषाय

रौद्रध्यान का अधिकारी जीव प्रथम गुणस्थान से लेकर पचम गुणस्थानवर्ती हुआ करते हैं[२२]।

रौद्रध्यान मे लेश्या

लेश्या कर्मजन्य पुद्गल का परिणाम है। आर्तध्यान की तरह रौद्रध्यान मे भी वही (कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कपोनलेश्या) तीनो लेश्या होती हैं, किन्तु यहाँ अति तीव्र सक्लेशयुक्त होती है। श्रेणिक महाराजा एव कृष्ण महाराजा को क्षायिक सम्यक्त्व था तथापि अतिम परिणाम मे कोणिक और द्वैपायन के प्रति तीव्र द्वेष होने से हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान एव तीव्र सक्लेषवाली कृष्णलेश्या उत्पन्न हुई थी।

आर्त और रौद्र दोनो ध्यान से ससारी सभी आत्मा अभ्यस्त हैं। दोनो ध्यान मे साधक की एकाग्रता तीव्र होती है। जितनी कामनाएँ तीव्र होगी उतना ही विषयो के प्रति आकर्षण वर्धमान रहेगा। आकर्षण से पदार्थ के प्रति जो एकाग्रता जागृत होती है वह रागजन्य और द्वेष-जन्य ऐसे उभयात्मक होती है।

आर्त और रौद्र ध्यान मे राग और द्वेष का प्रभाव विकृति का प्रतीक है। साधक राग और द्वेष को त्याग और वैराग्य मे बदल दे। यह बदलने की प्रक्रिया धर्मध्यान है। पदार्थों का आकर्षण, पदार्थो से जुड़ना पदार्थो का सयोग-वियोग इत्यादि पदार्थो से

---

२२. ध्यानशतक - गा २७

विमुख होने के लिए है। यथार्थ सम्यक बोध से पदार्थो का उपभोग नही, उपयोग करना है। साधन सामग्री उपभोग के लिए निर्माण नही हुई है, उपयोग के लिए हुई है **उपयोगो धम्मो**–उपयोग ही धर्म है और उसमे स्थिर रहना ही धर्म-ध्यान है।

धर्मध्यान

धर्म-ध्यान का स्वरूप

धर्म का अर्थ है स्वभाव। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव होता ही है। जैसे धम्मे वत्थुसहावो[२३]था धर्मो हि वस्तुयाथात्म्य इस आर्ष वाक्यानुसार धर्म चिन्तन को धर्मध्यान कहा है।

तीर्थकरो ने सम्यग् श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान और सम्यग् आचार को धर्म कहा है।[२४] उस धर्म चिन्तन से युक्त जो ध्यान है वह मिश्रित रूप से धर्मध्यान है।[२५]

जिस आचरण से आत्मा की विशुद्धि होती है वहाँ मन को स्थिर करना धर्मध्यान है।[२६]

आत्मा का आत्मा के द्वारा, आत्मा के विषय मे सोचना चिन्तन करना भी धर्मध्यान है[२७]

षट्खण्डागम मे धर्म और शुक्ल ध्यान को परम तप कहा है।[२८]

हृदय की पवित्रता से लेश्या के अवलबन से और यथार्थ स्वरूप चिन्तवन से उत्पन्न ध्यान प्रशस्त ध्यान कहलाता है।

श्रुत धर्म की आज्ञादि स्वरूप के चिन्तन मे एकाग्रता को धर्मध्यान कहते हैं तथा श्रुत धर्म और चरित्र धर्म से युक्त ध्यान को भी धर्मध्यान कहते हैं,[३१]

---

२३ कार्तिकानुप्रेक्षा - ४७८
२४ तत्त्वानुशासन - श्लो ५१, आर्ष (महापुराण) २१-१३३
२५ धर्मादनयेत धर्म्य - सर्वार्थसिद्धि तथा तत्त्वार्थ वा ९-२८
२६ दशवैकालिक अ १ वृत्ति
२७ तत्त्वानुशासन - ७४
२८ षटखण्डागम ५, पु. १३ पृ ६४
२९ ज्ञानार्णव सर्ग ३ श्लोक २७
३० समवायाग सूत्र सटीक। सम
३१ स्थानाग सूत्र ४, स्था १३
काल लोक प्रकाश-सर्ग ३० श्लोक ४५८

ध्यान भावना

उपर्युक्त परिभाषा से प्रतीत होता है कि धर्म ध्यान बाह्य प्रवृत्ति को बदलने का धर्म है। आन्तरिक भावना को प्रबल करने का मार्ग है और समत्व साधना की आराधना का द्वार है। इस द्वार से ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य इन चार भावनाओ मे प्रवेश पाया जाता है। धर्म ध्यान का चिन्तन भावना है।

जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण ने ज्ञानादि चार भावनाओ का ध्यानशतक मे निरूपण किया है। जैसे–

ज्ञानाध्ययन मे तन्मय रहना,
मन के अशुद्ध व्यापार का निरोध करना,
तत्वातत्व का विवेक करना,
जीवाजीव के गुण पर्याय का निरीक्षण करना,
इत्यादि का चिन्तन धर्म ध्यान कहलाता है

आचार्य जिनसेन ने ज्ञानादि चार भावनाओ को पॉच स्वरूपो मे विभक्त किया है–

१. **वाचना**–शास्त्रो को स्वय पढना।
२ **पृच्छना**–जो अर्थ स्वय की समझ मे न आये उसे ज्ञानीजनो से पूछना।
३. **अनुप्रेक्षा**–पदार्थ के स्वरूप का चिन्तन करना।
४ **परिवर्तन**–कठस्थ ज्ञान को बार-बार दुहराना।
५ **धर्म उपदेश**–धर्म के सम्यक् तत्व का उपदेश देना।

दर्शन भावना

दर्शन भावना–आज्ञारुचि, नवतत्त्वरुचि तथा २४ परम तत्त्वो की रुचि स्वरूप तीन प्रकार की है।[३२] आचार्य जिनसेन ने सम्यग्दर्शन की सात भावनाएँ बतायी हैं। सवेग, प्रशभ, स्थैर्य, असमुढता, अस्मय, आस्तिकता और अनुकम्पा।[३३] आचार्य कुदकुद ने सम्यग्दर्शन के आठ गुणो का वर्णन किया है। (१) सवेग, (२) निर्वेद, (३) आत्मनिन्दा, (४) गर्हा, (५) उपराम, (६) गुरुभक्ति, (७) वात्सल्य और (८) दया।[३४]

---

३२ दर्शन भावना आज्ञारुचि (१) तत्व, (२) परमतत्व (२४ रुचिमेदात प्रिधा ध्यान विचार नमस्कार स्वाध्याय प्राकृत विभाग)
३३ आदिपुराण - २१ - ९७
३४ समयसार - १७७

ध्यान का स्थान

ध्यान के लिए मानसिक चेतना की जागृति ही प्रमाण है किन्तु देश, काल और आसन का प्रभाव भी प्राथमिक भूमिका मे आवश्यक है। ध्यान के लिए उपयुक्त स्थान हो तो एकाग्रता बनी रहती है अत स्थान साधक हो बाधक नही ।

ध्यान का काल

मन को स्थिर करने के लिए काल मर्यादा की आवश्यकता ही नही है। फिर भी अभ्यस्त दशा मे आवश्यकता होने पर काल का आयोजन आवश्यक है ।

ध्यान का आसन

ध्यानाभ्यास के लिए आसन, मुद्रा या अवस्था है तो अभ्यास क्रम सधता है। अत वीरासन, पर्यकासन, कायोत्सर्ग आदि सुखासन, इत्यादि आसन ध्यान के लिए उपयुक्त है । परमात्मा महावीर स्वामी को गोदोहासन मे कैवल्यज्ञान हुआ था । पद्मासन मे भी प्राय तीर्थकरो को कैवल्यज्ञानियो को कैवल्य प्राप्त हुआ है । कायोत्सर्ग मुद्रा में भी अनेक ज्ञानियो को कैवल्य प्राप्त हुआ है। अत साधक के लिए जो भी स्थान, काल और आसन उपयुक्त हो उसी मे करना श्रेष्ठ है। ध्यान साधना के लिए साधक तत्त्व चाहिए, बाधक नही ।

ध्यान का स्वामित्व

धर्मध्यान का स्वामित्व अप्रमत्त सयत गुणस्थान अर्थात् सप्तम् गुणस्थानवर्ती सयत को होता है, और क्रमश यह धर्मध्यान उपशान्त मोह एव क्षीणमोह गुणस्थानो मे सम्बद्ध होता है।

धर्मध्यान के स्वामित्व के विषय मे श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा मे कुछ अन्तर है । श्वेताम्बर मान्यतानुसार धर्मध्यान का स्वामित्व सातवे, ग्यारहवे और बारहवे गुणस्थानो मे है अत सात से लेकर बारह गुणस्थान तक के छहो गुणस्थान धर्मस्थानो मे हैं अत सात से लेकर बारह गुणस्थान तक के छहो गुणस्थान मे धर्मध्यान सभव है ।[३५] किन्तु दिगम्बर परम्परा चौथे से सातवे गुणस्थान तक के चार गुणस्थानो मे धर्मध्यान की सभावना स्वीकार करती है। उसके अनुसार सम्यग्दृष्टि को श्रेणी के आरम्भ के पूर्व तक ही धर्मध्यान सभव है और श्रेणी का आरम्भ आठवे गुणस्थान से होने के कारण आठवे आदि मे यह ध्यान किसी प्रकार सभव नहीं ।[३६]

---

३५ तत्त्वार्थसूत्र - ९-३६-३८
३६ तत्वानुशासन - ४६ तत्त्वार्थ राजवार्तिक ९-१३

धर्मध्यान की सामग्री

परिग्रह त्याग, कषाय निग्रह, व्रतधारण इन्द्रिय और मनोविज़य ये सब ध्यान की उत्पत्ति मे सहायभूत सामग्री है ।[३७]

धर्मध्यान को उत्तेजित करने वाले कारणो मे वैराग्य, तत्त्वो का ज्ञान, साम्यभाव और परिषह जय इत्यादि भी प्रमुख माने जाते हैं ।[३८] तत्वानुशासन मे द्रव्य, क्षेत्र, काल और विवक्षा भेद से दृष्टता और ध्यान के तीन प्रकार बताए है ।

१ उत्तम सामग्री से ध्यान उत्तम होता है ।

२ मध्य सामग्री से ध्यान मध्यम और

३ जघन्य सामग्री से जघन्य ध्यान माना गया है ।[३९]

ध्यान का आलंबन

ध्यान का आलबन एक रूप नही होता। जिस साधक को जो भी अनुकूल है उसी आलबन से ध्यान सिद्ध होता है। पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत—ये ध्यान के आलम्बन हैं। जप, तप, मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र, श्वास, केवल जानना, केवल देखना इत्यादि ध्यान को सिद्ध करने के आलबन है ।

ध्वनि, नाद, ज्योति, त्राटक, प्राणायाम इत्यादि भी ध्यान के आलम्बन है ।

ध्वनि. श्वास, शब्द आदि मे कम्पन होते हैं। तरगें होती हैं वह जब मन से जुड़ जाते हैं और ध्यान मे एकाग्रता स्थित हो जाती है तब अनेक ग्रन्थियॉ सुलझ जाती हैं।

ध्यान का विषय

स्थानागसूत्र मे ध्यान के चार प्रकार प्राप्त होते हैं। जैसे—"**धम्मेझाणे चदव्विहे चउप्पडोयारि पण्णत्ते, सं जहा - आंणा - विजए अवाय-विजए, विवाग-विजए संगण-विजए**—" अर्थात् आज्ञा, अपाय, विपाक और सस्थान इस प्रकार धर्मध्यान का ध्येय चार भेदो से प्रस्तुत किया है ।

आज्ञा-विचय

तीर्थकर भगवान् की आज्ञानुसार विचय अर्थात् आत्मनिरीक्षण । साधक को आत्म-निरीक्षण करना है अपनी वृत्तियो का, जैसे हिसात्मक भाव जागृत हुआ, क्यो हुआ, कहॉ से हुआ, होने का कारण क्या, अनुप्रेक्षा कितनी बार हुई, पश्चात्ताप कितनी

---

३७ ध्यान स्तव - ७१

३८ द्रव्य सग्रह टीका - ५७/२२९/३

३९ तत्त्वानुशासन - ४८-४९

बार किया, प्रायश्चित्त कैसा किया ? पुन नही होवे ऐसा एकरार किया या नही इत्यादि प्रश्नो का निरीक्षण आज्ञाविचय ध्यान का विषय है। तत्त्वार्थसूत्र मे भी यही चार प्रकार प्राप्त होते हैं। इन चारो की विचारणा के लिए एकाग्र मनोवृत्ति करना धर्मध्यान है। यह अप्रमत्त सयत को होता है।

अपाय-विचय

अपाय का अर्थ है दुर्गुण एव दोष। अनादि काल से आत्मा के साथ रहे हुए मिथ्यात्व, अव्रत प्रमाद, कषाय, योग आदि दुर्गुणो के स्वरूप का निर्णय करके उनसे छूटने का उपाय सोचना "अपायविचय" धर्मध्यान है।

जैसे अपने दुर्गुणो का निरीक्षण और परीक्षण करना क्रोधादि कषाय की मात्रा कितनी है ? क्या उसमे परिवर्तन होता है या नही ? अगर होता है तो कितनी मात्रा मे होता है ? कर्म बन्धन क्यो होता है, उसके होने का कारण क्या है ? उस बन्धन से छूटने का उपाय क्या है ?

हेमचन्द्राचार्य कृत योगशास्त्र मे इस अपाय-विचय ध्यान के फल का निर्देश किया गया है। अपाय-विचय ध्यान करने वाला इहलोक एव परलोक सम्बन्धी अपायो का परिहार करने के लिए उद्यत हो जाता है और उसके फलस्वरूप पाप-कर्मो से पूरी तरह निवृत्त हो जाता है, क्योकि पाप-कर्मो का त्याग किए बिना अपाय से बचा नहीं जा सकता।[४०]

जीव का स्वभाव अक्रिय अवस्था का है, राग क्रिया, द्वेष क्रिया, कषायक्रिया, मिथ्यात्वादि आश्रवक्रिया या हिसादि कायिकी क्रिया आदि रूप नही है क्योकि क्रोध से प्रीति तत्त्व का, मान से विनय तत्त्व का, माया से मित्रता का और लोभ से सर्व वस्तु स्थिति का विनाश होता है अत जनमत को प्राप्त कर कल्याण करने वाले जो उपाय हैं उनका चिन्तवन करना चाहिए।[४१]

हरिवश पुराण मे अपाय विचय धर्मध्यान को उपाय-विचय भी कहा है जैसे--मन-वचन-काया--इन तीन योगो की प्रवृत्ति ही प्राय ससार का कारण है, इन प्रवृत्तियो का त्याग किस प्रकार हो सकता है, इस प्रकार शुभ लेश्या से अनुरजित जो चिन्ता का प्रबन्ध है वह अपाय-विचय है तथा पुण्य रूप योगवृत्तियो को अपने आधीन करना उपाय कहलाता है, वह उपाय किस प्रकार हो सकता है, इस प्रकार के सकल्पो की जो सतति है, वह अपाय विचय धर्मध्यान है।

---

४० योगशास्त्र - १०-११
४१ कल्लाणपावगाण उपाये विचिणादि जिणमद मुवेच्च - धवला - १७१२-१५४४

विपाक-विचय

कर्मो के फलो को विपाक कहते हैं। कर्म का फल क्या है ? फल तीव्र है या मद है? कौन-सा कर्म कितने समय तक स्थिर रहता है ? ज्ञानादि को कौन-सा कर्म स्थिर करता है ? शुभ और अशुभ कर्मो मे बाधक और साधक कर्म कौन से होते हैं।[४२]– इत्यादि प्रकृति आदि विपाक का विचिन्तन विपाक-विचय धर्मध्यान है।[४३]

संस्थान - विचय

सस्थान का अर्थ है आकार। जैसे लोक के आकार एव स्वरूप का चिन्तन करना, धर्मास्तिकायादि द्रव्यो का लक्षण, आकृति, आधार, प्रकार प्रमाण कितना है,[४४] स्वर्ग-नरक कहॉ है ? उनका क्या स्वरूप है ? जड-चैतन्य मे क्या अन्तर है ? नये प्रमाण का क्या रहस्य है ? स्याद्वाद का क्या तात्पर्य है ? ससार परिवर्तनशील क्यो है? इत्यादि अनादि अनन्त, किन्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य - परिणामी नित्य स्वरूप वाले लोक सम्बन्धी तात्त्विक विवेचन मे तल्लीन हो जाना सस्थानविचय धर्मध्यान है।[४५]

धर्मध्यान के अधिकारी

धर्मध्यान के अधिकारियो मे श्वेताम्बर और दिगबर मान्यता मे विभिन्नता विलक्षित होती है। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार धर्ममप्रमत्तसयतस्य[४६] के आधार पर सात से लेकर बारहवे गुणस्थान तक के छहो गुणस्थानो मे धर्मध्यान के अधिकारी है।

अत इस बीच मे कभी शुभ अध्यवसाय के योग से धर्मध्यान हो जाता है। यहॉ जो धर्मध्यान का ध्याता है वह उत्तम, मध्यम और जघन्य के रूप मे तीन प्रकार के है। उत्तम प्रकार के ध्याता प्रमत्तसयत से अप्रमत्तसयत मे पहुॅच जाता है अत उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। जघन्य ध्याता निकृष्ट होने से अस्पष्ट है। मध्यम ध्याता का लक्षण इन्द्रिय तथा मन का निग्रह करने वाला होता है।

ध्याता के ९ प्रकार

१	तच्चित्त	= सामान्योपयोग रूप चित्तवाला
२	तन्मय	= विशेषोपयोग रूप मन वाला
३	तल्लेश्य	= शुभ परिणामरूप लेश्यावाला

---

४२ प्रशमरति - गा २४९ पृ १७३
४३ ध्यानशतक - गा ५१ पृ १८०, अध्यात्मसार - गा ६१५ पृ ३५४
४४ ध्यानशतक - गा ५२
४५ योगशास्त्र - १०/१४
४६ तत्त्वार्थसूत्र ९/३७

४ तदध्यवसित	= क्रिया को सपादित करने मे दृढ निश्चय और प्रवर्धमान उत्साह अथवा निश्चय वाला
५ तत्तीव्राध्यवसान	= प्रारम्भ से ही प्रतिक्षण प्रकर्षित होने वाला
६ तदर्थोपयुक्त	= अत्यन्त प्रशस्त सवेग से विशुद्ध और अर्थोपयोग से युक्त हो।
७ तदर्पिकरण	= मन, वचन और कायरूप कारणो की समर्पितता हो।
८ तदभावना भावित	= भावना से भावित हो।
९ अन्य स्थान से रहित स्व मे स्थित मन वाला	= प्रस्तुत ध्यानादि क्रिया से भिन्न मन कही भी अलग न हो।[४७]

धर्मध्यान की अनुप्रेक्षा

एकत्व, अनित्यत्व, अशरणत्व और भवस्वरूप का चिन्तन धर्म ध्यान की अनुक्रम से चार अनुप्रेक्षाएँ हैं।[४८] ध्यान (धर्मध्यान) से निवृत्त होने पर अभ्रान्त आत्मा को अनित्यत्यादि चार[४९] अनुप्रेक्षाओ का नित्यभावन करना चाहिए क्योकि ये अनुप्रेक्षाएँ ध्यान के प्राण के समान है।[५०]

धर्मध्यान की लेश्या

धर्मध्यानी महायोगी को तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम–परिणाम पूर्व की तेजी, पद्म और शुक्ल लेश्या होती है।

उत्तम कोटि के ध्याता को शुक्ललेश्या, मध्यम कोटि के ध्याता को पद्मलेश्या तथा मद कोटि के ध्याता को तेजोलेश्या अपनी-अपनी योग्यतानुसार तीव्र, मध्यम और मद रूप मे होती है।

धर्मध्यान के बाह्य और अतरग चिह्न

बाह्यचिह्न

पर्यकादि आसनो को धारण करना, मुख की प्रसन्नता होना और दृष्टि का सौम्य होना आदि धर्मध्यान के बाह्य चिह्न हैं।

---

४७ अनुयोगद्वार सूत्र २७
४८ काललोक प्रकाश सर्ग ३० श्लो ४७३
४९ ध्यानशतक हरिभद्रीय आवश्यक निर्युक्नेखचूर्णि श्लो ६५
५० आध्यात्मसार ध्यान स्वरूप श्लो ७०

अंतरंग चिह्न

शुभ योग, चित्त स्थैर्य, ज्ञान की रुचि, प्रतीति, श्रद्धा, अनुप्रेक्षाएँ तथा शुभ भावनाएँ ध्यान का अन्तरग चिह्न हैं।

धर्मध्यान का फल

फल

धर्मध्यान से सवर, निर्जरा तथा शुभ योग परम्परा की प्राप्ति होती है।[५१] शील और सयम से युक्त योगी धर्मध्यान मे स्थित होने से पुण्यानुबन्धी पुण्य का उपार्जन करता है, बोधिलाभ की प्राप्ति करता है, तथा असक्लिष्ट भोग का उपभोग करता है। फलत अनासक्त भाव, प्रव्रज्या और परम्परागत कैवल्यज्ञान की प्राप्ति एव मोक्ष का शाश्वत सुख प्राप्त करता है। यह धर्मध्यान का फल है।

ध्येय तत्त्व

ध्यान द्वारा ध्येय तत्त्व सिद्ध होता है। ध्येय तत्त्व सालम्बन (आलम्बन सहित) निरालम्बन (आलम्बन रहित) रूप से दो प्रकार का है –

१. सालम्बन ध्यान

(१) पिण्डस्थ–शारीरिक-चक्र, श्वास, नाडीतन्त्र, प्राणवायु आदि का ध्यान

(२) पदस्थ–मत्रादि पदो का, अक्षरो का, यन्त्रो का ध्यान।

(३) रूपस्थ–पद, आकार आदि के रूप को देखना।

२. निरालम्बन ध्यान

(४) रूपातीत –

कुछ भी न करना केवल ज्ञाता दृष्टाभाव।

पिण्ड अर्थात् ध्याता का शरीर और स्थ अर्थात् आत्मा। शरीर और आत्मा का विवेक ज्ञान जैसे–शरीर मे ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक की कल्पना करके ललाट पर आज्ञाचक्र के स्थान पर श्वेत या रक्त किरणो से दैदीप्यमान सिद्ध शिला पर स्थित सिद्ध भगवान् का ध्यान करना। इस ध्यान की अनेक धारणाएँ भी हैं जैसे–पार्थिवी, आग्नेयी, मारुति, वारुणी इत्यादि।

---

५१ शुचिगुणयोगाच्छुक्लम सर्वार्थसिद्धि अ ९/सू २८ (पृ ४४५)

आकृति नं १०

पार्थिवी धारणा

पार्थिवी धारणा मे लीन जिनकल्पिक मुनिराज

ध्येय मे चित्त को स्थिर करना धारणा है। धारणा तु क्वचिद् ध्येय चित्तस्थ स्थिर बंधनम्। अपने शरीर और आत्मा को पृथ्वी की पीत वर्ण कल्पना के साथ बाधना पार्थिव धारणा है। इस धारणा मे मध्यलोक को क्षीर समुद्र के समान निर्मल जल से परिपूर्ण होने की कल्पना करनी है। ऐसी कल्पना से मन बडा ही शात, सौम्य और शीतलता का अनुभव करता है। इस धारणा मे रम जाने से स्थिरता आती है।

आकृति नं. ११

आग्नेयी धारणा

आग्नेयी धारणा मे रमण करते हुए मुनिराज

आग्नेयी धारणा मे आत्मा सिहासन पर बिराजमान होकर नाभि के भीतर हृदय की ओर ऊपर मुख किये हुए सोलह पखुडियो वाले रक्त कमल की धारणा करता है तथा उस अग्निमडल मे तीव्र ज्वाला उठती हुई देखे, उनमे आठो कर्म भस्म हो रहे हैं तथा वे जलकर राख बन गये हैं। आत्मा तेज रूप मे दमक रहा है, इस प्रकार की धारणा करे।

आकृति न १२
वायवी धारणा
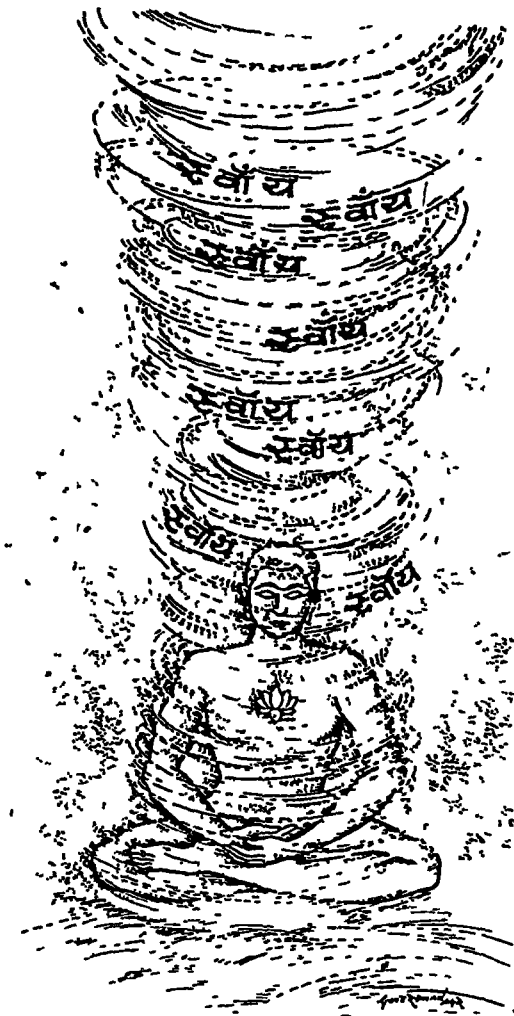
वायवी धारणा मे सलग्न मुनिराज

अग्नि धारणा मे कर्मो को भस्म कर राख बने हुए देखने के बाद पवन धारणा की जाती है। पवन की कल्पना के साथ मन को जोडा जाता है। योगी सोचता है खूब जोर की हवाएँ चल रही हैं, उसमे आठ कर्मो की राख उड रही है, नीचे हृदय कमल सफेद या उज्ज्वल हो गया है और आत्मा पर लगी राख सब हवा के झोके से साफ हो रही है।

आकृति नं. १३

वारुणी धारणा
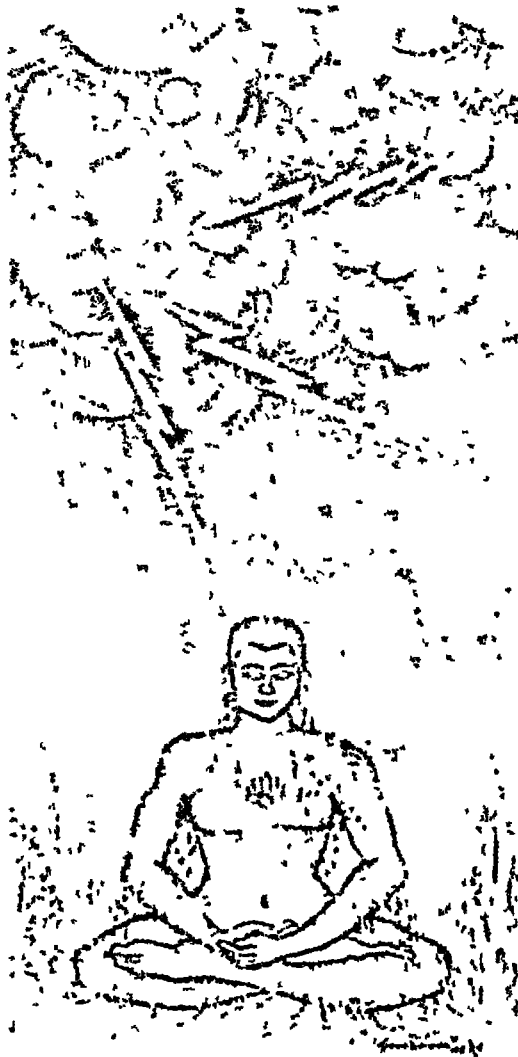
वारुणी धारणा में सलग्न मुनिराज

वारुणी अर्थात् जल की धारणा के साथ मन को जोडना। वायवी धारणा से आगे बढकर योगी सोचता है, आकाश में मेघो का समूह उड रहा है। बिजली चमक रही है और धीरे-धीरे खूब जोर की वर्षा भी शुरू हो गई है। मैं बीच में बैठा हूँ, मेरे शरीर पर पानी बरस रहा है और मन तथा शरीर के समस्त ताप शात हो जाते हैं।

शुक्लध्यान

ध्यान मे तल्लीन योगी जब ध्यानावस्था मे पारगत हो जाता है तब उसकी राग, द्वेष आदि वृत्तियॉ समाप्त हो जाती है और निर्विकल्प समाधि प्राप्त हो जाती है। उस अवस्था विशेष को जैन दर्शन मे शुक्लध्यान कहते है। इसकी भी उत्तरोत्तर वृद्धिगत चार श्रेणियॉ होती है। प्रथम श्रेणी मे बुद्धिपूर्वक ही ज्ञान मे श्रेय पदार्थो की तथा योग वृत्तियो की सक्रान्ति होती रहती है, पश्चात् अन्य श्रेणियो मे इसको भी स्थान नही है, यह ध्यान रत्न दीपक की ज्योति की भाति निष्कप होता है अर्थात् इस ध्यान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

शुक्लध्यान का लक्षण

शुक्ल अर्थात् शुद्ध निर्मल तथा श्वेत। जिसमे सुचि गुण सम्बन्ध होता है, वह शुक्ल कहलाता है।[५२]

जैसे मैल हट जाने से वस्त्र सुचि होकर शुक्ल कहलाता है उसी तरह निर्मल गुणयुक्त आत्म-परिणति को शुक्ल कहते हैं।[५३]

आत्मा की विशुद्ध परिणति से रागादि विकल्प टूट जाते हैं और स्वसवेदनात्मक ज्ञान प्राप्त होता है, आगम भाषा मे इस ज्ञान को शुक्लध्यान कहा है।[५४]

द्रव्य सग्रह मे आचार्य नेमिचन्द ने भी निजशुद्धात्मा मे विकल्प रहित समाधि को शुक्ल ध्यान कहा है।[५५]

वृत्तियो के परिवर्तन से गुणो की विशुद्धता होती है, कर्मो का क्षय और उपशम होता है तथा लेश्या शुक्ल होती है। उसे योगियो ने शुक्लध्यान कहा है।[५६] नियमसार गा १२३ मे शुक्लध्यान का स्वरूप निश्चय रूप मे प्राप्त होता है। यहॉ ध्याता-ध्येय तथा ध्यान का फल विकल्पो से विमुक्त अन्तर्मुखी तथा परम तत्व मे अविचल स्थिति मे प्राप्त होता है। तत्वानुशासन गा २२२ मे इस ध्यान को वैडुर्यमणि की शिखा के समान सुनिर्मल और निष्कप कहा है। कषाय के क्षय या उपशम से आत्मा मे सुनिर्मल परिणाम होते हैं। उसे ही शुक्लध्यान कहते हैं।

---

५२ राजवार्तिक ९/२८/४/६२७/३१
५३ प्रवचन सार ता वृ ८/१२
५४ द्रव्यसग्रह टीका - गा ४८, पृ २०५
५५ कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ४८३
५६ कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ४८३

निष्क्रिय और इन्द्रियातीत ध्यान धारणा से विमुख होकर ध्येय मे अन्तर्मुख रहता है उसे भी शुक्लध्यान कहा है।[५७]

आठ प्रकार के कर्ममल का शोधन शुक्ल ध्यान है[५८] इस विषय मे विशेष जानकारी के लिए अनेक ग्रथ उपलब्ध है।[५९]

शुक्लध्यान के प्रकार

पृथकत्व-वितर्क-सविचारी

शुक्लध्यान का प्रथम प्रकार पृथक्त्व-वितर्क - सविचार है। यह पद तीन शब्दो के योग से बना हुआ है - पृथकत्व का अर्थ है एक द्रव्य के आश्रित उत्पाद आदि पर्यायो का पृथक् - पृथक् भाव से चिन्तन करना। वितर्क शब्द श्रुतज्ञान का परिचायक है, सविचारी का अर्थ है - शब्द से अर्थ मे, अर्थ से शब्द मे तथा एक योग से दूसरे योग मे सक्रमण करना। जड या चेतन द्रव्य उत्पत्ति, स्थिति और द्रव्यादि मे मूर्त-अमूर्त पर्यायो का नैगम आदि नयो के द्वारा भेद-प्रभेद का चिन्तन करना और यथासम्भवित श्रुतज्ञान के आधार पर किसी एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य पर, किसी एक पर्याय से दूसरे पर्याय पर, किसी एक शब्द से दूसरे शब्द पर, किसी एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर तथा किसी एक योग से दूसरे योग पर विचारधारा को प्रवाहित करना, इत्यादि विचार सहित ध्यान को ही सविचारी कहा जाता है।[६०]

एकत्व - वितर्क - अविचारी

एकत्व - वितर्क - अविचारी। लक्षण तीन शब्दो से बना हुआ है। उत्पादादि पर्यायो के एकत्व अभेद वृत्ति से किसी एक पर्याय का स्थिर चित्त से चिन्तन करना एकत्व है। इस ध्यान मे अर्थव्यजन एव योगो का सक्रमण नही होता। निर्वात स्थान मे रहा हुआ दीपक जैसे स्पदन आदि क्रियाओ से रहित होकर प्रकाश करता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा योग आदि मे संक्रमण न करता हुआ ध्यान मे अवस्थित रहता है। इस ध्यान के द्वारा मोहकर्म सर्वथा क्षय हो जाता है। यही ध्यान ब.रहवे गुणस्थानवर्ती जीव मे पाया जाता है।[६१]

योगशास्त्र मे एकत्व-वितर्क-अविचार के स्थान पर एकत्व श्रुत अविचार शब्द मिलता है। पहला और दूसरा शुक्लध्यान सामान्यत पूर्वधर मुनियो को ही होता है

५७ ज्ञानार्णव - ४२/४
५८. भावपाहुड - टीका गा ७८
५९ भगवती सूत्र सटीक औपपातिक सूत्र वृत्ति आवश्यक चूर्णि विशेष आवश्यक भाष्य, धर्म-सग्रह सटीक, गच्छाचारपयन्ना टीका इत्यादि ग्रन्थ।
६०. स्थानाग सूत्र वृत्ति स्था १ उ १ सूत्र २४० पृ १९१
६१ स्थानागसूत्र वृत्ति स्था ४ उ १ सू २४७ पृ १९१

परन्तु कभी किसी को पूर्वगत श्रुत के अभाव मे अन्यश्रुत के आधार से भी हो सकता है। पहले प्रकार के शुक्लध्यान मे शब्द, अर्थ और योगों का सक्रमण होता रहता है, और दूसरे मे स्थिरता होती है। प्रथम शुक्ल-ध्यान मे एक द्रव्य मे विभिन्न पर्यायो का चिन्तन होता है, दूसरे मे एक ही पर्याय को ध्येय बनाया जाता है। इस प्रकार प्रथम और द्वितीय शुक्ल ध्यान मे विकल्प और निर्विकल्प का अतर पाया जाता है।[६२]

यहाँ एकत्व शब्द का प्रयोग चिन्तनात्मक है।

दो ध्यान तक मूर्च्छा का क्रम टूटता रहा। तृतीय ध्यान मे मूर्च्छा समाप्त हो जाती है – साधक समाज मे है फिर भी अकेला है, परिवार मे है फिर भी अकेला है। हर प्रकार की प्रवृत्ति करता है फिर भी अकेला है। यहाँ साधक एकत्व भावना का अधिकारी होता है। मूर्च्छा तो द्वन्द्व मे है, एकत्व मे नही , भोग मे है , योग मे नही ; सुख-दुख की परिधि मे है, शान्ति मे नहीं। वितर्क शब्द से यहाँ सारा तर्क निष्प्राण है, अत योग का स्फुरन, स्पदन यहाँ समाप्त होते हैं। इस ध्यान मे चिन्तन की आवश्यकता ही नही। यहाँ साधक निर्विकल्पसमाधि मे स्थिर रहता है। अत निर्विकल्प के स्थान पर अविचार शब्द का प्रयोग है।

द्वितीय ध्यान मे निर्विकल्प होते ही, केवलज्ञान केवलदर्शन मे स्थित होते हैं।

यहाँ पहुँचा हुआ साधक - **अकम्मे जाणइ** - अर्थात् अकर्म वान, जानने और देखने की दो ही क्रिया करता है। ये दोनो क्रियाएँ निरन्तर चलने से अतिसूक्ष्म होती है।[६३] यहाँ से साधक तृतीय चरण मे प्रयाण करता है।

सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती-ध्यान

शुक्लध्यान का तीसरा चरण है सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती। चौदहवे गुणस्थान मे प्रवेश करने से पहले आयु के अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर जब केवली भगवान मन और वचन इन दो योगो का सर्वथा निरोध कर लेते हैं और काय योग के निरोध मे केवली भगवान की कायिकी उच्छवास आदि सूक्ष्म क्रिया ही रहती है। यहाँ योग निरोध क्रम से स्थूल काययोग द्वारा मन और वचन के स्थूल योग को सूक्ष्म बनाया जाता है। पश्चात् मन और वचन के सूक्ष्मयोग से शरीर का स्थूल योग सूक्ष्म बनाया जाता है। काय के सूक्ष्मयोग से मन और वचन के सूक्ष्म योग का भी निरोध किया जाता है यह प्रक्रिया तेरहवे गुणस्थान मे ही होती है।

---

६२ योगशास्त्र - ११ - ७ - २६५

६३ राजवर्तिक - ९/४४/१/६३४/३१

समुच्छिन्नक्रिया - अप्रतिपाती

शुक्लध्यान का चौथा रूप समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती है। यह ध्यान चौदहवे गुणस्थान मे होता है। अयोगी अवस्था मे मन वचन और काया तीनो स्थिर हो जाते हैं। उनकी सभी सूक्ष्म क्रियाएँ बद हो जाती हैं, आत्मप्रदेश सर्वथा नि स्पन्द हो जाते हैं। वस्तुत देखा जाय तो "सर्व सवर परिपूर्ण सयम" अयोगी अवस्था मे ही होता है, और इसी अवस्था मे मोक्ष की उपलब्धि होती है।

योगशास्त्र ११/९ मे इस चतुर्थ ध्यान को 'उत्सन्न क्रिया - अप्रतिपाति' नाम दिया है। उनके अनुसार पर्वत की तरह निश्चल केवली भगवान् जब शैलेशीकरण प्राप्त करते हैं, उस समय होने वाला शुक्ल-ध्यान उत्सन्न-क्रिया-अप्रतिपाति कहलाता है।

ज्ञानार्णव के अनुसार चौदहवे गुणस्थान मे स्थित अयोगी केवली भगवन्त निर्मल, शान्त, निष्कलक, निरामय और जन्ममरण रूप ससार के योगो से रहित है इसलिये अयोगी है।

सर्वार्थसिद्धि मे चतुर्थ शुक्लध्यान को, प्राणायान के प्रचार रूप क्रिया का तथा सब प्रकार के काययोग, वचनयोग और मनोयोग के द्वारा होने वाली आत्मप्रदेश परिस्पन्द रूप क्रिया का उच्छेद हो जाने से समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति ध्यान कहा है।

भगवती आराधना मे चतुर्थ शुक्लध्यान के विषय मे वितर्क-विचारयोग और अनिवृत्ति आदि क्रियाओ से सहित और शैलेषी अवस्था सहित जो साधक होता है तथा औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरो का बन्ध नाश करने के लिए अयोगी केवली भगवान् समुच्छिन्न क्रिया निवृत्त नामक चतुर्थ शुक्लध्यान को ध्याते हैं।[६४]

ध्यातव्य द्वार

यथाख्यात चारित्र मे वीतरागता जागृत होती है, और वीतरागदशा मे ही शुक्लध्यान होता है। इस ध्यान मे मोहनीय कर्म सर्वथा क्षीण हो जाते हैं।

शुक्लध्यान के ध्याता

चार प्रकार के शुक्लध्यानो मे से पहले के दो ध्यान पूर्वगत श्रुत मे प्रतिपादित अर्थ का अनुसरण करने के कारण श्रुतावलम्बी हैं। वे प्राय पूर्वों के ज्ञाता छद्मस्थ योगियो को ही होते हैं तथा कभी-कभी वे विशिष्ट पूर्वधरो को भी हो जाते हैं।

---

६४. भगवती आराधना - १८८८, २१२३

अन्तिम दो प्रकार के शुक्ल-ध्यान समस्त दोषों का क्षय करने वाले अर्थात् वीतराग सर्वज्ञ और सर्वदर्शी केवली मे ही पाए जाते हैं।

शुक्लध्यान की लेश्या

शुक्लध्यान के प्रथम चरण और द्वितीय चरण मे शुक्ललेश्या होती है। शुक्लध्यान के तृतीय चरण मे परम शुक्ललेश्या मेरुवत् निश्चल है तथा चतुर्थ चरण लेश्यातीत है। अत यहाँ लेश्या को अवकाश नही।[६५]

शुक्लध्यान का फल

शुक्लध्यान के दो चरण - १ पृथक्त्व-वितर्क सविचार और एकत्व-वितर्क-अविचार इन दोनो मे शुभ आस्रव होता है और इस शुभ आस्रव से अनुत्तर विमान पर्यंत के सुख की प्राप्ति होती है। शुक्लध्यान के अतिम दो चरण तो केवलज्ञानी को होता है अत यहाँ सवर और कर्म की निर्जरा होने से फलस्वरूप मोक्ष गमन ही है।[६६]

शुक्लध्यान के अधिकारी

शुक्लध्यान के अधिकारियो का कथन दो प्रकार से किया गया है, एक तो गुणस्थान की अपेक्षा से और दूसरा योग की अपेक्षा से।

गुणस्थान की अपेक्षा से शुक्लध्यान के चार भेदो मे से प्रथम के दो भेदो के अधिकारी ग्यारहवे और बारहवे गुणस्थान वाले साधक होते हैं, उसमे भी पूर्वधर ही होते हैं।[६७] 'पूर्वधर' इस विशेषण की विशेषता यह है कि जो पूर्वधर नही है पर ग्यारह आदि अगो का धारक है वहाँ ग्यारहवे बारहवे गुणस्थान मे शुक्लध्यान न होकर धर्मध्यान ही होता है।

यहाँ पूर्वधर श्रुतकेवली को शुक्लध्यान होता है ऐसा कहा है। इस सामान्य विधान का एक अपवाद भी है और वह यह कि पूर्वधर न हो ऐसी आत्माओ - जैसे माषतुष मरुदेवी आदि को भी शुक्लध्यान सभव है। शुक्लध्यान के अतिम दो भेदो के अधिकारी सिर्फ केवली अर्थात् तेरहवे और चौदहवे गुणस्थान वाले होते हैं।[६८]

१. योग की दृष्टि से मन, वचन और काय इन तीनो योग का धारक साधक को शुक्ल ध्यान का प्रथम प्रकार 'पृथक्त्व वितर्क सविचार' होता है।

---

६५. ध्यानशतक - गा ८९ पृ ३०१
६६. ध्यानशतक - गा ९४, पृ. ३०७
६७. शुक्ले चाद्ये पूर्वविद तत्त्वार्थ ९/३९
६८. परे केवलिन - तत्त्वार्थ ९/४०

२. मन, वचन और काय इन तीन योग में से किसी एक योग के धारक साधक को द्वितीय एकत्त्व वितर्क निर्विचार नाम का शुक्लध्यान होता है।

३. मात्र काययोग का धारक कैवल्यज्ञानी को तृतीय सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान होता है।

४ योग रहित अर्थात् अयोगी केवली को चतुर्थ व्युपरत क्रिया निवृत्ति नाम का शुक्लध्यान होता है।

शुक्लध्यान के चार प्रकारो में प्रथम शुक्लध्यान अर्थात् पृथकत्त्व वितर्क-सविचार एक योग या तीनो योगवाले मुनियो को होता है। दूसरा शुक्लध्यान एकत्त्व वितर्क-निर्विचार अेकयोग वालों को ही होता है। तीसरा शुक्लध्यान सूक्ष्मक्रिया प्रतियाती सूक्ष्म काययोग वाले केवलि को होता है और चौथा समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति अयोगी केवलि को ही होता है।[६९]

केवली और ध्यान

यहाँ प्रश्न होता है कि मन की स्थिरता को ध्यान कहते है परन्तु तीसरे और चौथे शुक्ल ध्यान के समय मन का अस्तित्व नही रहता है क्योकि केवली भगवन्त अमनस्क होते हैं। ऐसी अवस्था मे उन्हे ध्यान कैसे कहा जा सकता है ?

'ध्यै' 'चिन्तायाम' धातु मे 'ध्यै' से ध्यान शब्द का अर्थ मन से चिन्तन करना जैसा होता है किन्तु मन के बिना चिन्तन रूप ध्यान कैसे होता है ?

इसका समाधान इस प्रकार है कि यहाँ "ध्यान" शब्द का अर्थ निश्चलता लिया गया है फिर वह मन की निश्चलता हो या काया की निश्चलता हो किन्तु दोनो ध्यान स्वरूप हैं। ध्यान के विशेषज्ञ पुरुष जैसे छद्मस्थ के मन की स्थिरता को ध्यान कहते हैं, उसी प्रकार केवली के काय की स्थिरता को भी ध्यान कहते हैं। क्योकि, जैसे मन एक प्रकार का योग है, उसी प्रकार काय भी एक योग है।[७०]

अयोगी और ध्यान

चौदहवे गुणस्थान मे पहुँचते ही आत्मा तीनो योगा का निरोध कर लेती है। अत- अयोगी अवस्था मे स्थित केवली मे योगा का सद्भाव नही रहता है, फिर भी वहाँ ध्यान का अस्तित्व माना गया है। उसका क्या कारण है ?

---

६९ ध्यानशलक-श्लो ८३ पृ २९०
योगशास्त्र-श्लो ११/१० पृ २६६

७० ध्यानशतक श्लो ८४ पृ २९२
योगशास्त्र ११/११ पृ २६६

उसका उत्तर यह है कि यहाँ ध्यानरूपता की शुद्धता अनुमान प्रयोग से सिद्ध की जा सकती है। अनुमान मे पक्ष, साध्य, हेतु तथा दृष्टात ये चार हेतुओ की आवश्यकता होती है। भवस्थ केवली की सूक्ष्म क्रिया और व्युपरत क्रिया ये दो अवस्था पक्ष हैं।[७१]

ध्यानरूपता यह साध्य है और बाकी के चार हेतु जैसे–

१ पूर्व प्रयोग होने से

२ कर्म-र्निजरा का हेतु होने् से

३ शब्द के अनेक अर्थ होने से

४ जिनेश्वर भगवन्त का आगम कथन होने से

तथा उसी के ही चार दृष्टान्त निम्नोक्त हैं –

१ जैसे कुम्हार का चक्र दण्ड आदि के अभाव मे भी पूर्वाभ्यास से घूमता रहता है, उसी प्रकार योगो के अभाव मे भी पूर्वाभ्यास के क़ारण अयोगी अवस्था मे भी ध्यान होता है।

२ अयोगी केवली मे उपयोग रूप भाव-मन विद्यमान है अत उनमे ध्यान माना गया है।

३ जैसे पुत्र न होने पर भी पुत्र के योग्य कार्य करने वाला व्यक्ति पुत्र कहलाता है उसी प्रकार ध्यान का कार्य कर्म-निर्जरा है वहाँ यह भी विद्यमान है। अत वहाँ भी ध्यान माना गया है।

४ एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ "ध्यै" धातु जैसे चिन्तन अर्थ मे है वैसे काय योग के निरोध अर्थ मे भी है और अयोगित्व अर्थ मे भी है, अत अयोगित्व अर्थ के अनुसार अयोगी केवली मे ध्यान का सद्‌भाव मानना उपयुक्त ही है।

७१ ध्यानशतक –श्लो ८५-८६ पृ २९२
योगशास्त्र ११/१२ पृ २६६

४. आतरिक शोधन समत्व की प्रयोगात्मक विधि से

१ सम एक दृष्टि है रसायन परिवर्तन की,
२. विभिन्न शक्तियो का स्रोत – समत्व साधना,
३. प्रतिकूल परिस्थिति मे सतुलन का विवेक
विषमता मे स्थिरता,
विवशता मे स्वाधीनता,
भयभीत अवस्था मे धैर्यता,
ज्ञानी सम अज्ञानी विषम
वीतरागी सम सरागी विषम
संयमी सम भोगी विषम -------

समत्वयोग

समता शब्दार्थ–समता शब्द का सामान्य अर्थ तटस्थ, माध्यस्थ, उदासीन, राग-द्वेष से रहित इत्यादि होता है।[१] सत्वानुशासन मे समता शब्द के विविध पर्याय प्राप्त होते हैं। जैसे–माध्यस्थ, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, नि स्पृहता, परमशान्ति इत्यादि।[२] पद्मनदि पचविशतिका ग्रथ मे साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग चित्त निरोध और शुद्धोपयोग इत्यादि शब्द समता के अर्थ मे प्राप्त होते हैं।[३] द्रव्य सग्रह सटीक मे मोक्षमार्ग का अपरनाम परमसाम्य कहकर साम्य का वैशिष्ट्य स्थापित किया है।[४] प्रवचन सार ग्रथ मे चारित्र ही धर्म है और धर्म ही साम्य है। साम्य मोह रहित (राग, द्वेष तथा मन, वचन, काया के योगोरहित) आत्मा का परिणाम है।[५] नयचक्र ग्रथ मे समता के शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र, धर्म स्वभाव की आराधना इत्यादि पर्याय परिलक्षित होते हैं।[६]

---

१. पाइअसद्दमहण्णवो - पृ ८६४
२. तत्वानुशासन श्लो ४-५
३. पद्मनन्दि पचविशतिका श्लो ६४
४. द्रव्य सग्रह - श्लो ५६ की टीका
५. प्रवचन सार - श्लो ७
६ बृहत् नयचक्र श्लो ३५६

साम्य शुद्ध जहॉ न कोई आकार है, न अकारादि अक्षर है, न कृष्ण-नीलादि वर्ण है, और न कोई विकल्प ही है, किन्तु जहॉ केवल एक चैतन्य स्वरूप ही प्रतिभासित होता है उसी को साम्य कहा जाता है।[७] साम्य भाव में स्थित साधक को इष्ट-अनिष्ट पदार्थो के प्रति मोह उत्पन्न नहीं होता, क्योकि जिस साधक को समभाव की भावना है, उस साधक की समस्त आशाएँ तत्काल नाश हो जाती हैं, अविद्या क्षण भर मे क्षय हो जाती है। तथा वासनाएँ भव्य हो जाती हैं।

आत्मा का अपने समस्त पर द्रव्यो और उनकी पर्यायो से अभिन्न स्वरूप निश्चित होते ही उसी समय साम्य भाव उत्पन्न हो जाता है। इस साम्यभाव मे जब साधक स्थित हो जाता है। तब लाभ-अलाभ, सुख-दुख, जन्म-मृत्यु, निन्दा-प्रशसा, इष्ट-अनिष्ट, मान-सम्मान इत्यादि विषमताओ में राग-द्वेष न करना किन्तु माध्यस्थ भाव से ज्ञाता-दृष्टा बनकर समता साधना मे स्थित रहना समत्वयोग कहलाता है अथवा अविद्या द्वारा इष्ट-अनिष्ट वस्तु तत्व मे जो कल्पना जीवात्मा को होती है उस कल्पना को सम्यक्ज्ञान के बल से दूर कर समभाव से भावित होना समत्व योग है।[८]

समत्व योग का लक्षण

समत्वयोगी ही प्रतिकूल परिस्थितियो मे एव विभिन्न अवस्थाओ मे अपना सतुलन विवेकपूर्वक रख सकता है। यहॉ तक कि मन के विचारो मे, वचन के तरगो मे, काया की चेष्टाओ मे, प्रत्येक स्थानो मे, प्रति क्षणो मे, सुषुप्त अवस्था मे या जागृत अवस्था मे, रात्रि मे, या दिन मे, प्रत्येक प्रवृत्तियो मे मन, वचन और काया से समत्वयोगी समता रस मे सलीन रहता है।[९]

योगियो के अनुभव ने इस समता को विभिन्न स्वरूप मे परिलक्षित किया है। जैसे– जब साधक प्रतिद्वन्द्वात्मक अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थो या अवस्थाओ मे समभाव की मस्ती मे मस्त बनकर, रागद्वेष रहित होकर उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी पर आरूढ होता है, तब जो साधक को सहयोग देती है वह समता है।[१०] जब वह समता आत्मभाव मे स्थिर रहती है, स्वत मे सलीन हो जाती है, और समभाव मे भावित होकर आत्मा के मूल स्वभाव को अधिष्ठित करती है तब उसी समता को आत्मस्थिरता कहते हैं। समत्व के संहयोग से जब साधक सर्व सावद्य से विरत, तीन गुप्ति से युक्त, और इन्द्रिय विवशता से मुक्त रहता है, तब समता को सावद्ययोग की निवृत्ति कहते हैं। यही समता साधक के साथ सयम मे एकता लाती हुई सामायिक नाम को सार्थक करती है।

---

७ पदमनन्दि पचविशतिका श्लो ६४
८ योगबिन्दु श्लो ३६४
९ योगसार श्लो १७
१० योगदीपक श्लो १६

यहाँ समता अर्थ मे जो सामायिक शब्द का प्रयोग हुआ है वह भाव सामायिक के अर्थ मे विलक्षण होता है। व्याकरण की दृष्टि से इसके प्रत्येक शब्द का भाव समतारस मे परिपूर्ण होता है। सामायिक शब्द मे, सम आय इक, तीन शब्द का समन्वय होता है। सम् अर्थात् रागद्वेष का अभावरूप माध्यस्थ परिणाम। आय अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप लाभ। इक अर्थात् जो भाव होता है वह सामायिक कहलाता है।

भ्रदबाहु स्वामी के अनुसार जब साधक सावद्ययोग से निवृत्त होता है, छकाय जीवो के प्रति सयत होता है मन, वचन और काया से एकाग्र होता है, स्वस्वरूप मे उपयुक्त होता है, यत्नपूर्वक विचार करता है, तब उस आत्मा को सामायिक कहा जाता है।[११]

गोम्मटसार ग्रथ के अनुसार परद्रव्य से निवृत्त साधक की ज्ञान चेतना जब आत्म-स्वरूप मे प्रवृत्त होती है तब भाव सामायिक कही जाती है। रागद्वेष से रहित माध्यस्थ भावनायुक्त आत्मा सम कहलाता है। उस सम् मे गमन करना भाव सामायिक है।[१२]अणगार धर्मामृत ग्रथ के अनुसार ससार के प्रत्येक प्राणी के प्रति मैत्रीभाव रखना। अशुभ परिणति का त्याग करके शुभ परिणिति मे स्थित होना भाव सामायिक है।

विशेषावश्यक भाष्य मे भी सामायिक का प्रभुत्व परिलक्षित होता है। जैसे—

जिस साधक की आत्मा सयम मे, नियम मे तथा तप मे लीन है, उनको वास्तविक सामायिक व्रत होता है। जैसे कैवल्यज्ञानी भगवन्त आत्मस्वरूप का निरोध करने वाले रागादि अधकार का नाश सामायिकरूपी सूर्य से करते है। क्योकि प्रत्येक आत्मा मे स्वाभाविक रूप मे परमात्मस्वरूप निहित है।[१३]जिस स्वरूप को योगी पुरुष जानते और देखते रहते है। वास्तव मे सभी आत्मा परमात्मस्वरूप ही है। प्रत्येक आत्मा मे कैवल्यज्ञान का अश निहित है। आगम मे परम महर्षियो ने कहा है—

"सव्वजीवाण पि अणं अक्खरस्साणंतभागो निच्चुग्घाडियों चेवा।

अर्थात् सभी जीवो मे अक्षर का अतवॉ भाग नित्य अनावृत्त खुला रहता है। सिर्फ रागादि दोषो से कलुषित होने के कारण ही आत्मा मे साक्षात् परमात्मस्वरूप प्रगट नही होता। सामायिक रूपी सूर्य का प्रकाश होने से रागादि अधकार दूर हो जाता है और आत्मा मे परमात्म स्वरूप प्रगट हो जाता है।

यही भाव प्रवचनसार मे भी प्राप्त होते हैं, जैसे अज्ञानी साधक लाखो करोडो

---

११ आवश्यक निर्युक्ति अन्तर्गत मूलभाष्य गा १४९ पत्र ३२७/१
१२ गोम्मटसार जीवकाण्ड टीका गा ३६८
१३ प्रवचन सार -३-३१

जन्मो तक तप करके जितने कर्म खपाता है, सम्यक्ज्ञानी साधक मन, वचन और काया को सयत रखकर सास मात्र मे ही उतने कर्म खपा देता है।

इस प्रकार जो भी साधक अतीतकाल मे मोक्ष पधारे हैं, वर्तमान मे मोक्ष प्राप्त कर रहे है, अथवा भविष्य मे मोक्ष पधारेगे इत्यादि समस्त प्रभाव सामायिकादि हैं। क्योकि तीव्र जप, तीव्र तप या मुनिवेश को धारणकर स्थूल बाह्य क्रियाकाड रूप चारित्र की चाहे जितनी प्रतिपालना करे किन्तु समतारूप सामायिक के अभाव से उसे मोक्ष की प्राप्ति असभव है। सामायिक तो समता का सागर है। जो साधक समता सागर मे स्नान करता है वह सामान्य श्रावक होने पर भी साधु के समान कार्य कर सकता है। इस विषय मे आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यक निर्युक्ति मे अपना मतव्य स्पष्ट किया है कि—

सामाइयम्मि ड कए समणो इव सावओ हवई जम्हा।
पर्यण कारणेण बहुंसो सामाइय कुज्जा।[१४]

व्रत का पूर्णत प्रतिपालन करने से श्रावक भी साधु जैसे ही प्रक्रिया कर सकता है। अर्थात् वह भी आध्यात्मिक श्रेष्ठ स्थिति को प्राप्त कर सकता है। अत श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह अधिक से अधिक सामायिक करे और समता रस का आस्वादन ले।

चचल मन का नियन्त्रण करने के लिए समत्व योग रूप सामायिक व्रत की आराधना होती है जिससे अशुभ कर्मो का क्षय होता है। आचार्यो ने इस समत्वरूप सामायिक का यहाँ तक महत्त्व दिया है कि, देव भी अपने हृदय मे इस सामायिक व्रत स्वीकार करने की तीव्र अंभिलाषा रखते हैं और ऐसी भावना करते हैं कि इस समत्वरूप सामायिक का आचरण हो सके तो मेरा देव—जन्म सफल हो जाये। अत जैनशास्त्र के अनुसार देवो की अपेक्षा मानव आध्यात्मिक भावनाओ का प्रतिनिधि है। समत्व योग रूप सामायिक की प्राप्ति का श्रेय देवो को नही किन्तु मानवो को ही है। अत सामायिक की साधना का अधिकार साधक के लिए देशत या सर्वत विरति आवश्यक है। विरति अर्थात् ज्ञान, श्रद्धापूर्वक त्याग, मोहपाश मे आबद्ध आत्मा को पौद्गलिक वस्तुओ मे जो रति उत्पन्न होती है उसका मन, वचन, काया से निर्गमन करना विरति है। यह विरतिरूप साधना योग की साधना है।

समभाव के प्रभाव से वैर करने वाले क्रूर जीव भी अपने जन्मजात वैर को भूल जाते हैं। समवसरण मे स्थित सिह खरगोश भी उस समता मूर्ति के प्रभाव से विस्मरण कर वीतराग वाणी का पान करते हैं, हरिणी तो सिह के बालक को अपने पुत्र की बुद्धि से स्पर्श करती है और प्यार करती है। गाय व्याघ्र के बच्चो को स्नेह

---

१४ सामायिक सूत्र भा १ - पृ १२१

करती है, माजारी हस के बच्चे को स्नेह की दृष्टि से देखती है, तथा मोरनी सर्प के बच्चे से प्यार करती है। इसी प्रकार अन्य प्राणी भी परस्पर वैरभाव को भूल जाते हैं।

इस प्रकार समत्व से आत्मतत्व पर तथा राग-द्वेष रूपी शत्रु पर विजय प्राप्त होती है। इतना ही नही जटिल से जटिल कर्मों का क्षय भी हो जाता है।

समता की प्रयोगशाला मे जिन्होने सयम का सूत्र सिखाया, कर्मो के चित्र को ध्यान का प्रकरण बनाया और शाश्वत प्रसन्नता का वरदान दिया उनका इतिहास सदा के लिए अमर बन गया।

५. वृत्तियों के प्रभाव से आवेगों और शारीरिक प्रक्रियाओं में परिवर्तन

१ वृत्ति रूपान्तरण से रासायनिक परिवर्तन,

२ आवेगो के प्रभाव से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक परिवर्तन– स्नायुतन्त्र पर, ग्रथितन्त्र पर, नाडीतन्त्र पर वृत्तियो का प्रभाव

३. अत स्रावी ग्रंथियो पर होने से हृदय, गुर्दे, फेफडे, धमनी, कोशिकाएँ, नाडी आदि मे परिवर्तन।

४ योगियो की भाषा मे ग्रंथियो का स्थान ही चक्रों का स्थान है–

१. जपयोग

२ मन्त्रयोग

३ कुडलिनी योग

वृत्ति संक्षय योग

वृत्ति सक्षय योग मे वृत्ति-सक्षय-योग-प्रयोग, वृत्तियो को क्षय करने के अनेक प्रयोग विद्यमान है। इन प्रयोगो द्वारा विकास होने पर अनुभूति की पृष्ठभूमि पर अकित होना आसान हो जाता है। वृत्तियो को रूपान्तरित करने का सबसे बडा प्रयोग है अध्यात्म, भावना, ध्यान, समत्व आदि योग। इन योगो द्वारा अनन्त काल से आवर्त मे घिरा हुआ मानव वृत्तियो से मुक्त होने मे समर्थ होता है। अत वृत्ति क्या है उसे जानना भी आवश्यक है।

प्रत्येक प्राणियो को स्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म तीनो शरीर मे आवेगो के माध्यम से वृत्तियो का परिवर्तन होता रहता है। सूक्ष्म परमाणुओ से निर्मित सूक्ष्म शरीर के इलेक्ट्रॉन स्थूल शरीर के इलेक्ट्रॉन से अधिक तीव्र होते हैं, अत उसकी प्रवृत्ति अनिन्द्रिय होती है। सूक्ष्म शरीर की अनुभूति आवेगो के माध्यम से स्थूल शरीर मे वृत्तियो के रूप मे क्रियान्वित होती हैं जैसे–

प्यार-तिरस्कार–जहॉ प्यार होता है वहॉ तिरस्कार नही।

जहॉ तिरस्कार होता है वहॉ प्यार नही।

आनन्द-शोक–जहॉ आनन्द होता है वहॉ शोक नहीं।

शोक– जहॉ शोक होता है वहॉ आनन्द नही।

भय-वीरता—जहाँ भय होता है वहाँ वीरता नही ।

वीरता—जहाँ वीरता होती है वहाँ भय नही ।

इस प्रकार काम, क्रोध, मद, लोभ, क्षमा, प्रसन्नता, शान्ति, ईर्ष्या, अह इत्यादि अनेक वृत्तियो का आवेग योग के द्वारा रूपान्तरण होता है और उसी रूप मे शारीरिक और मानसिक अनुभूति पाई जाती है। प्यार, तिरस्कार आनन्द या शोक आदि आवेगो का प्रयोगात्मक सम्बन्ध स्व और पर से है। स्व की विमुखता पर का प्यार जागृत करना है और पर का तिरस्कार स्व के प्यार को सबल बनाना है। यहाँ पर का तिरस्कार निषेधात्मक रूप से स्व मे प्रतिष्ठित होना है, और स्व का प्यार विध्यात्मक रूप से पर मे तिरस्कार करने मे समर्थ है।

इस प्रकार इन प्रयोगात्मक आवेगो का प्रभाव स्नायु तन्त्र पर पडता है। जैसे—भय के आवेग से हृदय की धड़कन बढ जाना। शोक के आवेग से रक्त कणो का ह्रास होना। प्रसन्नता के आवेगो से वजन (वेट) बढना इत्यादि बाह्य परिवर्तन होते है। जैसे—

दो बच्चे है, एक के प्रति तिरस्कार बुद्धि है और दूसरे के प्रति प्यार। तिरस्कृत बच्चा अपने आप मे हीनता, निराशता, क्षुद्रता इत्यादि का अनुभव करता है। प्यार पाने वाला, प्रसन्नता, आनन्द, उत्साह और साहस आदि का अनुभव करता है।

वृत्तियों का प्रभाव आवेगों से

द्वेष के आवेग से—ईर्ष्या, यश की लालसा, सुख की तमन्ना, प्रतिशोध की भावना, वैर या बदला लेने की सजगता जागृत होती है।

भय के आवेग से—एड्रिनल ग्रथि के स्राव होने से—दु स्वप्न आना स्वप्न मे चिल्लाना, अंधकार से भागना, मृत्यु, अपराध, अपमान, इत्यादि होने पर भय का आवेग जागृत होता है।

शोक के आवेग से—रोना, पिटना, क्रोध करना, हिसा करना इत्यादि।

एक वैज्ञानिक ने फोटोग्राफी के माध्यम से आवेगो का विशेष प्रयोग किया है। उसने विद्युतीय गतिविधि द्वारा ग्राफ अकित किया है। माली पौधो को सवारता है तब फूल प्रसन्नता का या प्यार का आवेग अनुभव करता है जब फूल तोडने का भाव करता है तब भय का आवेग जागृत होता है, जब फूल तोडा जाता है तब शोक का आवेग उत्पन्न होता है और माली पुन प्यार करता है फिर भी तिरस्कार का आवेग उभरता रहता है।

जो फूल टूटा है उसमे भी आवेगो के अति तीव्रता के भाव प्रतीत होते हैं। फूल के टूटने के दस घटे के बाद आवेगो का मद भाव हो जाता है और उसके दस घटे के बाद आवेग समाप्त हो जाते हैं।

क्रेस्कोग्राम का आविष्कार हुआ और पौधों में सुख, दु:ख की सवेदना का सबूत विज्ञान युग मे जगदीशचन्द्र वसु ने दिया, सभी ने स्वीकार कर लिया किन्तु परमात्मा महावीर ने तो आचारांग सूत्र के प्रथम अध्याय मे ही पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति मे जीव विज्ञान को प्रस्थापित किया है।

इस प्रकार आवेगो का प्रभाव हमारी अत स्रावी ग्रंथियों पर पडता है क्योकि ग्रन्थियो का कार्य है हारमोन्स उत्पन्न करना, उत्पन्न रसो को रक्त मे मिश्रित करना तथा अपने शरीर तन्त्र पर नियन्त्रण बनाए रखना। इन ग्रन्थियों से उत्पन्न हारमोन्स जब रक्त मे मिश्रित हो जाते हैं तो हमारे विचार और आचार पर उसका प्रभाव गहरा होता है। आचार, विचार का सम्बन्ध श्वसन क्रिया से गहरा है। पहले वैज्ञानिक अपने प्रयोग मे सूक्ष्म दर्शक यन्त्र का प्रयोग करते थे अब इन यन्त्रो के साथ मन का भी प्रयोग हो रहा है। आचार-विचार श्वसन आदि सिद्धान्त के आधार पर मस्तिष्क की विभिन्न अवस्था का निर्देश पाया जाता है जैसे कार्डियोग्राम द्वारा हृदय की गति का मापदड निकाला जाता है वैसे ही चित्त की अवस्थाओ का निर्देश मिलता है कि व्यक्ति का मन शान्त है या विक्षिप्त है, वह भावी की कल्पना के लिए सोचता है या अतीत का रोना रोता है। वह ध्यान मे है या निद्रा मे, एकाग्रता मे है या विकल्पो की उधेडबुन मे इत्यादि मूर्च्छित और जागृत चित्त की अवस्था से काम, क्रोध, मद, लोभ, आनन्द, शान्ति, प्रेम आदि आवेगो का स्थूल शरीर पर प्रभाव अकित होता है। इन आवेगो का प्रथम प्रहार मस्तिष्क पर होता है, अनुकूल आवेग हो तो नाडीतन्त्र का शोधन होता है, प्रतिकूल आवेगो से नाडीतन्त्र मे गडबडी होती है। दूसरा प्रहार हृदय पर पडता है। अनुकूल आवेग से रक्त सचार का शोधन होता है प्रतिकूल आवेगो से रक्त सचार अस्तव्यस्त हो जाता है। तीसरा प्रहार एड्रिनल ग्रथि (स्वाधिष्ठान चक्र) पर पडता है जिससे वीर्य शक्ति का नाश होता है।

इन आवेगो का प्रभाव आहार, निद्रा, कामुकता, लोलुपता आदि पर त्वरित गति से होता है जिससे तीव्र और मद रूप मे स्थूल शरीर मे वृत्तियो का परिवर्तन पाया जाता है। आहार, निद्रा, कामुकता, लोलुपता, मे वृत्ति यदि तीव्र है तो ध्यान साधना के लिए बाधक तत्त्व है। ध्यानयोग मे आहार की मात्रा-अल्प, सात्त्विक, पथ्यकारी और अनुकूल आवश्यक है। गरिष्ठ और वरिष्ठ भोजन हो तथा असात्त्विक और प्रतिकूल भोजन हो, उसे पचाने मे हमारी ऊर्जा का विशेष ह्रास होता है। मन विक्षिप्त रहता है,

एकाग्रता का अभाव-सा हो जाता है, अत- यही ऊर्जा का उपयोग यदि मस्तिष्कीय विकास मे किया जाय तो हमें बहुत बडी उपलब्धि मिल सकती है।

मस्तिष्क शरीर का दो प्रतिशत भाग है, उसे बीस प्रतिशत ऊर्जा की आवश्यकता होती है। आवेगों का प्रतिकूल व्यवहार होने से ऊर्जा का ह्रास हो जाता है, फलत मस्तिष्क अपना विकास तो नही कर पाता किन्तु अपनी ऊर्जा भी उसी आवेगो मे समाप्त कर देता है। जिससे अच्छा मेधावी, प्रचारक और प्रतिष्ठित मानव भी क्रोध के आवेग मे आत्महत्या कर बैठता है। शेर का शिकार करने वाला योद्धा भी मच्छर से भयभीत हो जाता है। मच्छर काटने से होने वाला बुखार पूरे बदन को प्राय नष्ट कर देता है। अत्यधिक हर्ष के आवेग मे आकर हेमरेज या पागलपन का शिकारी बन जाता है। तीव्र शोक के आवेग से हार्टट्रबल हो जाता है इत्यादि।

आवेगो की ओर ध्यान केन्द्रित होगा तो हमारे स्थूल और सूक्ष्म शरीर मे परिवर्तन होगा, वृत्तियो मे परिवर्तन होगा। इस प्रकार आवेगो से लाभ भी होता है और हानि भी होती है अत आवेगो का रूपान्तरण समत्व योग की साधना है।

कोष्ठक नं. २५

वृत्तियों का आवेग

तिरस्कार			प्रेम		तीव्र मध्यम मद
भय		तीव्र, मध्यम मद	आनन्द		
शोक	वर्ण	कृष्ण नील कापोत	शान्ति	वर्ण	पीत्त रक्त श्वेत
द्वेष	रस	कडुआ कषेला तीष्ट	राग	रस	मीठा, खट्टा, स्वादिष्ट
क्रोध	गंध	दुर्गन्ध	क्षमा	गंध	सुगंध
मद	स्पर्श	कठोर भारी उष्ण रूक्ष	सरलता	स्पर्श	कोमल, हलका, शीत, स्निग्ध
लोभ			सन्तोष		

ग्रंथियों से वृत्ति संक्षय

वृत्तियो के माध्यम से तथा अत स्रावी ग्रथियो से शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक और भावनात्मक परिवर्तन विशेष रूप मे पाया जाता है। फिजियोलोजिस्ट, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, चिकित्सको आदि ने ग्रथियो को पाने के लिए शरीर के अनेक विभाग किए और उन-उन स्थानो पर रही हुई ग्रथियो का क्या कार्य है, उससे क्या लाभ होता है, नाडीतन्त्र, श्वसनतन्त्र, विचार, भाव आदि पर उसके प्रभाव से क्या परिवर्तन आता है इत्यादि खोजो का सशोधन किया है।

हमारे शरीर मे अनेक प्रकार की वृत्तियाँ हैं इन वृत्तियो से अनेक प्रकार की इच्छाएँ उद्‌भवित होती है। इच्छाएँ भोगने पर भी अतृप्त रहती हैं, और आदत या

सस्कार के रूप मे ग्रथियो मे जमा होतो जाती है। परिस्थिति और घटना के अनुरूप मानव घटित होता रहता है और उसी रूप मे विचार, भाव, स्मृति, कल्पना आदि रूप प्रवृत्तियो का सचालन इन ग्रन्थियो के द्वारा उत्पन्न स्रावो (हार्मोन्स) के माध्यम से होता है। जिससे मस्तिष्क विशेष रूप मे सक्रिय रहता है। फलत कभी वासनाएँ उत्तेजित होती है तो कभी कषाय जागृत होती है, कभी आनन्द की तरगे उठती हैं, तो कभी आखे आसू बहाती है। बिना आलवन उत्तेजना या वासना प्रकट नही हो सकती। कोशिकाएँ, नाडियाँ, धमनी, फेफडे, किडनी, हृदय आदि मे इन सारी ग्रथियो मे पडे हुए सस्कारो का प्रभाव होता है। जैसे—आमाशय, पक्वाशय, आते नलिकाएँ इत्यादि पर जो स्राव बहता है समूचे शरीर मे ऊर्जा का सचार करता है।

अत स्रावी ग्रथियाँ (endocrine glands) अनेक हैं, और भिन्न-भिन्न रूप मे शरीर, मन और भावो मे स्रवित होती हैं जैसे—

पिनियल ग्लैण्ड

यह ग्रथि मस्तिष्क के मध्य भाग मे है। साइस के पुरस्कर्ताओ ने उसकी ऊर्जा के व्यय को रोकने का उपक्रम सोचा है क्योकि मस्तिष्क ऊर्जा का दो प्रकार से व्यय होता है, १ कषाय, २ योग। कषाय से भावात्मक और योग से मानसिक ऊर्जाओ का ह्रास होता है। जैसे काम, क्रोध, मद, लोभ, ईर्ष्या, वैमनस्य आदि आवेगो से मस्तिष्क की ऊर्जा का विशेष ह्रास होता है। पिनियल ग्रथि के स्राव से शान्ति, आनद आदि की विद्युत ऊर्जा से इन आवेगो को मद किया जाता है।

पिच्यूटरी ग्लैण्ड

इस ग्रथि के स्रावित होने से मानसिक तनाव का अभाव होता है। शारीरिक स्वस्थता बनी रहती है। इसका स्थान भौवो के बीच मस्तिष्क के मध्य भाग मे है। इस पर हरे रग का प्रभाव होता है।

थॉयराइड ग्रंथि

यह ग्रथि स्वर यन्त्र के समीप श्वास नली के ऊपर होती है। इसके द्वारा जिन रसो का स्राव होता है उनसे तिरस्कार-प्यार मे, अशान्ति और तनाव, आनन्द मे, कमजोरी और उदासीनता-प्रसन्नता में, सक्रिय होती है। इस पर पीले रग का प्रभाव होता है। बुद्धि, स्मृति, कल्पना आदि इस ग्रथि से सवर्धित होते हैं।

थाइमुस ग्रथि

यह ग्रथि शारीरिक थकान को दूर करती है। अनुभव, आशा और बौद्धिक स्तर का सवर्धन करती है। यह ग्रथि हरा और पीला मिश्रित नीबू के रग की होती है।

एड्रेनल ग्रन्थि

बुरी आदते उत्पन्न होना जैसे—क्रूरता, आत्महत्या, धोका देना, विश्वासघात करना, मारना, पीटना, सम्पत्ति, सतान, सत्ता, सुन्दरी आदि मे लोलुपता इत्यादि ।

गोनाड्स ग्रंथि

यह भी इसी प्रकार अनेक स्थलो पर अनुसधान करती हैं । विशेष कामना प्रधान के रूप मे पायी जाती है ।

आकृति न १४

Cerebrum
Thalamus
पिनियल ग्रथि
Pineal gland
पिट्यूटरी ग्रथि
Pituitary gland
Cerebellum
मोडुला ऑवलोगेटा
Medulla oblongata
थाइरॉयड ग्रन्थि
(Thyroid gland)
पेराथाइरॉयड ग्रथि
(Parathyroid gland)
थाइमस ग्रथि
(Thymus glands)
मेरुरज्जु (Spinal Cord)
एड्रीनल ग्रथि
(Adrenal glands)
गोनाडस
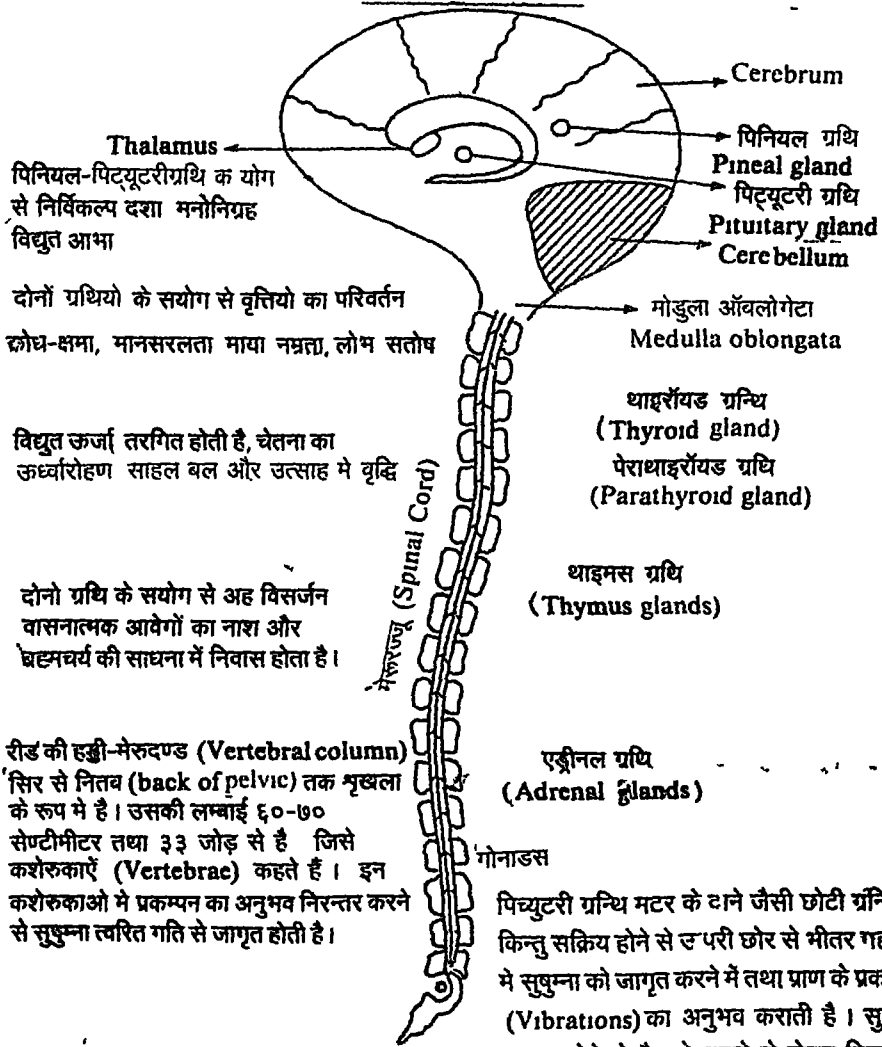
पिनियल-पिट्यूटरीग्रथि क योग से निर्विकल्प दशा मनोनिग्रह विद्युत आभा

दोनों ग्रथियो के सयोग से वृत्तियो का परिवर्तन

क्रोध-क्षमा, मानसरलता माया नम्रता, लोभ सतोष

विद्युत ऊर्जा तरगित होती है, चेतना का ऊर्ध्वारोहण साहल बल और उत्साह मे वृद्धि

दोनो ग्रथि के सयोग से अह विसर्जन वासनात्मक आवेगों का नाश और ब्रह्मचर्य की साधना में निवास होता है ।

रीड की हड्डी-मेरुदण्ड (Vertebral column) सिर से नितब (back of pelvic) तक शृखला के रूप मे है । उसकी लम्बाई ६०-७० सेण्टीमीटर तथा ३३ जोड़ से है जिसे कशेरुकाऐं (Vertebrae) कहते हैं । इन कशेरुकाओ मे प्रकम्पन का अनुभव निरन्तर करने से सुषुम्ना त्वरित गति से जागृत होती है ।

पिच्युटरी ग्रन्थि मटर के दाने जैसी छोटी ग्रन्थि है किन्तु सक्रिय होने से ऊपरी छोर से भीतर गहराई मे सुषुम्ना को जागृत करने में तथा प्राण के प्रकपनों (Vibrations) का अनुभव कराती है । सुषुम्ना जागृत होने से पैर के अगूठे से लेकर सिर तक सम्पूर्ण शरीर मे आन्तरिक परिवर्तन पाया जाता है। सम्पूर्ण स्थूल शरीर मे बिजली की धार की लकीरे अनुभूत होती हैं । सूक्ष्म शरीर में और अति सूक्ष्म शरीर मे दिव्य ज्योति शिखा के रूप मे प्रज्जवलित होती है ।

ये ग्रथियॉ योगियो की भाषा मे चक्र के रूप मे हजारो वर्ष पुरानी हैं। जिस प्रकार ग्रथियो का सम्बन्ध एक– एक-दूसरे से है वैसे ही चक्रो का सम्बन्ध भी सभी से है। अतर इतना ही है कि ग्रथि वृत्ति है और चक्र प्रकृति है। सहस्त्र चक्र से मूलाधार और मूलाधार से सहस्रसार के बीच मे रहे हुए चक्र सुषुम्ना नाडी से जुडे हैं। ग्रन्थियो के माध्यम से वृत्तियॉ भोगी जाती हैं और चक्रो के माध्यम से वृत्तियो का क्षय किया जाता है। योगियो ने अपनी ध्यान-दृष्टि से यह देखा है कि प्रत्येक चक्र का मूल, जड-बुनियाद तथा शक्ति का केन्द्र सुषुम्ना नाड़ी है।

१ **मूलाधार चक्र**—शरीर मे मेरुदण्ड के अतिम भाग पुच्छास्थि के समीप है। इस चक्र में रजोगुण के प्रभाव से पीला और सात्त्विक गुण के प्रभाव से श्वेत रग होता है अन्यथा इसमे लाली हमेशा झलकती रहती है। यह चक्र पृथ्वी तत्त्व प्रधान और दीपशिखावत नीली, लाल, पीली ज्योत् के रूप मे स्पष्ट होता है। सुषुम्ना यहॉ खुलती है और कुडलिनी का प्रवेश द्वार है।

२ **स्वाधिष्ठान चक्र**—यह चक्र मूलाधार से चार अगुल ऊपर गर्भाशय के मध्य मे जो शुक्रकोश नामक ग्रथि (Seminal Vesicle) होती है उसमे प्रतीत होती है। इसी स्थान पर Adrenal Gland भी होती है। इस ग्रथि से अनेक प्रकार के स्रावो का उत्पादन होता है, तथा मस्तिष्क और प्रजनन अवयव स्वस्थ, विकसित तथा सशक्त होते हैं। एड्रिनल ग्लैण्ड जब वृत्तियो से जुडी है तब गोनाड्स (कामग्रन्थि) का द्वार खुला होता है, कामुकता, वासना, विषय-कषाय मे अनुरक्तता विशेष होती है और जब यह ग्रथि प्रकृति से जुडती है तब निर्मलता, पवित्रता, क्षमता आदि गुण प्राप्त हो जाते हैं। इस चक्र का रग नारगी जैसा है और तत्त्व जल है। यह चक्र सूर्य की किरणो तथा अल्ट्रा-वायलेट का किरणो से ऑक्सीजन अर्थात् विशुद्ध प्राण-वायु ग्रहण करता है। यह तत्त्व जब शरीर से बाहर आता है उसे ओरा (Auro) कहते हैं। इस चक्र पर सयम करने से ब्रह्मचर्य मे सहायता मिलती है।

३. **मणिपुर चक्र**—यह चक्र नाभि प्रदेश मे मेरुदण्ड के सामने स्थित होता है। यहॉ से अनेकानेक नाडियॉ अग-प्रत्यगो तक जाती हैं। इस केन्द्र के माध्यम से सम्पूर्ण शरीर विज्ञान का दर्शन किया जाता है। यह चक्र अग्नि तत्त्व प्रधान है और लाल रग से सुशोभित है।

नाभि मडल के ठीक ऊपर दाहिनी ओर यकृत मे तैजस-सूक्ष्म विद्युत शरीर (Etheric body) सूर्य जैसा देदीप्यमान होता है। पाचन तन्त्र मे यह सहयोगी है। इस चक्र की बायी ओर प्लीहा (तिल्ली) मे इसका स्राव प्रवाहित होता है। हमारे शरीर मे पेंक्रियाज से इन्सुलिन रस निकलता है जो आमाशयिक रस तथा गाल-ब्लेडर से

निकलने वाले पित्तरस से मिलकर भोजन का परिपाक करता है तथा सर्करा को सतुलित रखता है। इस Etheric body से भी अतिसूक्ष्म Astrol body है जो सम्पूर्ण शरीर को रस प्रदान करता है। मणिपुर चक्र मे एकाग्र ध्यानस्थ साधक सपूर्ण देह की धडकन सुन सकता है,दिव्यनाद सुन सकता है और सूक्ष्म तैजस शरीर से स्रावित विद्युत तरगों का आनद लूट सकता है।

४. अनाहत चक्र—यह चक्र हृदय के भीतर होता है। यह चक्र वायु तत्त्व प्रधान है। इसका रग गुलाबी है किन्तु साधना काल मे इस चक्र के माध्यम से रगबिरगे अद्भुत आकार दृश्यमान होते हैं ; प्राण, प्रकृति, अहकार, चित्त आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वो के दर्शन भी होते हैं।

आकृति नं. १५
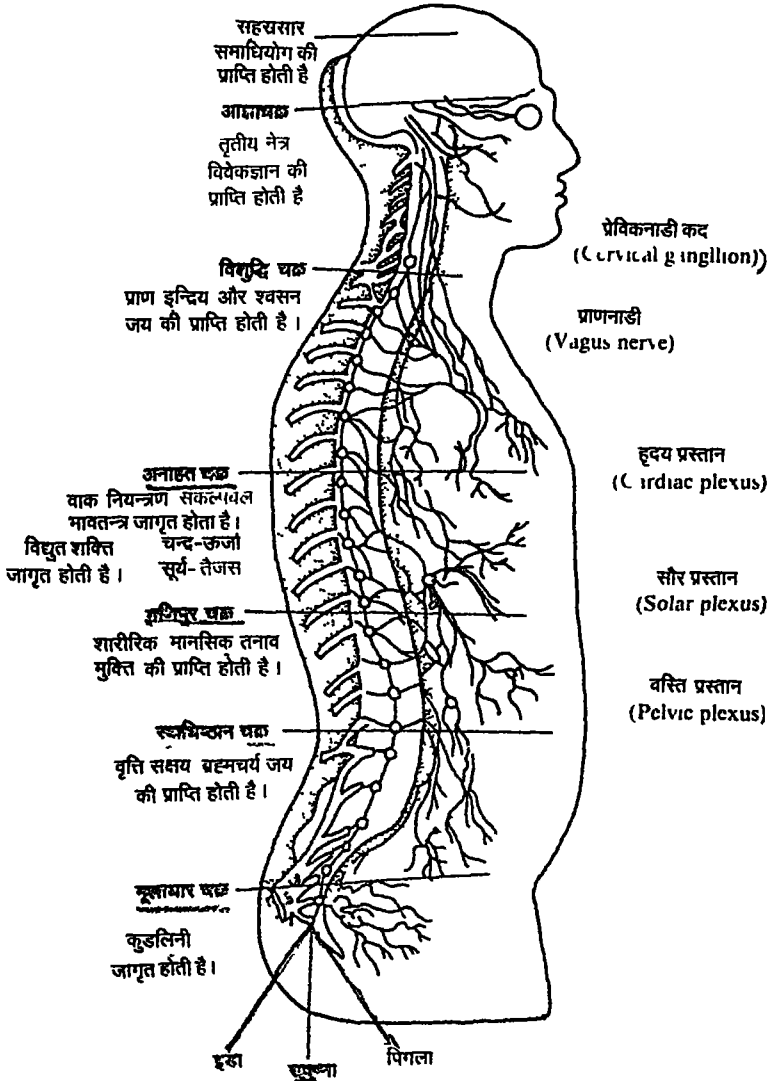
नाडितन्त्र भावतन्त्र को तथा विद्युत ऊर्जा को जागृत करता है तथा कोशिकाओ को बढाता है। विद्युत ऊर्जा से प्राप्त रक्त कोशिकाएँ अपने शरीर मे ६०० खरब से भी अधिक होती है सूक्ष्म वीक्षणयन्त्र तथा सूक्ष्मतम वीक्षण यन्त्र द्वारा ये कोशिकाए दृश्यमान होती है। छोटी कोशिकाऐ १/२०० मिलीमीटर लम्बी और चौडी होती हैं। बडी कोशिकाए १/४ मिलीमीटर लम्बी-चौडी होती है। जीवित कोशिकाओ मे अनेक प्रकार के रसायन विद्यमान होते है। उसे पोषक तत्त्व और प्राणवायु (ऑक्सीजन) की निरन्तर आवश्यकता होती है। इन कोशिकाओ से तैजस (कुडलिनी) शक्ति जागृत होती है। भावतन्त्र विशुद्ध होता है और वृत्तियो का क्षय होता है।

५ विशुद्धि चक्र—यह चक्र कठ क्षेत्र मे थॉयराइड ग्रथि के पास स्वरतत्र (tarynx) मे स्थित माना गया है। यह चक्र भी वायु प्रधान है तथा रग जामुनी है। स्वर, ध्वनि नाद यहॉ से प्रकट होते है। इस चक्र पर सयम होने से भूख प्यास की निवृत्ति, मन की स्थिरता और नाद की उपलब्धि होती है।

६ आज्ञाचक्र—यह चक्र दोनो भौहो के बीच बिन्दी के स्थान पर होता है। इस स्थान पर भूरे रग की राई जितनी मास की दो ग्रथियॉ होती हैं। ध्यानअवस्था मे ये ग्रथियॉ सक्रिय हो जाती हैं, जो एक ऋणात्मक (Negative) और दूसरी धनात्मक (Positive) विद्युत युक्त होती है। इससे दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है।

७ सहस्त्र चक्र—यह चक्र मस्तिष्क के मध्य भाग से सम्पूर्ण मस्तिष्क मे व्याप्त है। इसमे सभी वर्ण पाये जाते है। ये साधना का सर्वोत्तम स्थान है, समाधि और मुक्ति का राज है।

ग्रथि भेद

काम, क्रोध, मद, माया, लोभ, अह, भय आदि वृत्तियॉ हैं। ये वृत्तियॉ आत्मोन्नति के लिए बाधक होती हैं। अत आगम मे इन वृत्तियो के क्षय को ग्रथिभेद कहा जाता है। हमारे भीतर वृत्तियो के सचय से विषय, कषाय और भाव-लेश्या के शल्य यत्र-तत्र सर्वत्र पडे हैं। इन शल्य अर्थात् ग्रथियो का भाव द्वारा रूपान्तरण किया जाता है।

अनन्त काल से जीव अव्यवहार राशि मे जन्म-मृत्यु का दुख भोगता है। कभी अकाम निर्जरा करता हुआ जीव अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि मे आता है। पुण्य और पाप कर्म के बन्धन से अनन्त काल तक इस ससार मे परिभ्रमण करता है। इस परिभ्रमण से पर होने की प्रक्रिया को ग्रथि भेद कहा जाता है। कषाय आदि का आवेग तीव्रतम है तो ससार का परिभ्रमण अनन्त है। यदि मद है तो ससार का परिभ्रमण अल्प है। जिस जीव का परिभ्रमण अल्प है उसे उपशम सम्यकत्व की प्राप्ति होती है।

आकृति नं १६

ग्रंथिभेद की प्रक्रिया
यथाप्रवृत्तिकरण
व्यवहार राशि
अव्यवहार राशि
ग्रंथिभेद की प्राप्ति

उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति

उपशम श्रेणी
अनिवृत्तिकरण
कैवल्य
मोक्ष
क्षपक श्रेणी
८, ९, १०, १२, गुणस्थान

७० क्रोडा क्रोडी सागरोपम की स्थिति वाले मोहनीय कर्म की प्रगाढ मिथ्यात्व की स्थिति अधकार युक्त अनन्त अव्यवहार राशे से व्यवहार राशि	मद मिथ्यात्व तीनो करण के पूर्व की विशुद्धि १ अतर्मुहूर्त	मिथ्यात्व का अतिम चरण अतिम यथाप्रवृत्तिकरण	अपूर्व करण अपूर्व स्थितिघात रस घात गुण श्रेणी गुण सक्रमण स्थिति बन्ध	यथाप्रवृत्तिकरण से ग्रथिभेद होता है और सम्यकत्व की पाप्ति होती है। सम्यकत्व प्राप्त होने के पश्चात् प्रथम अपूर्व करण से श्रेणी पर आरूढ होता है और द्वितीय अपूर्वकरण से क्षपक श्रेणी से आयोज्यकरण समुद्घात् .कैवल्य की प्राप्ति शैलेशीकरण और अत मे मोक्ष की प्राप्ति करता है।

अनिवृत्तिकरण का यह असख्यातवॉ भाग है। यहॉ जीव अपूर्वकरण का आवेग होने से स्थिति और रस का घात करता है और गुण श्रेणी पर आरूढ होता है। यहॉ साधक का नया आयाम खुलता है और वीतराग अवस्था प्राप्त होती है।

इस प्रकार स्थूल शरीर के प्रभाव से स्थूल ग्रथियो और सूक्ष्म शरीर के प्रभाव से सूक्ष्म ग्रथियो का परिवर्तन शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्तर पर पाया जाता है।

आकृति नं. १७
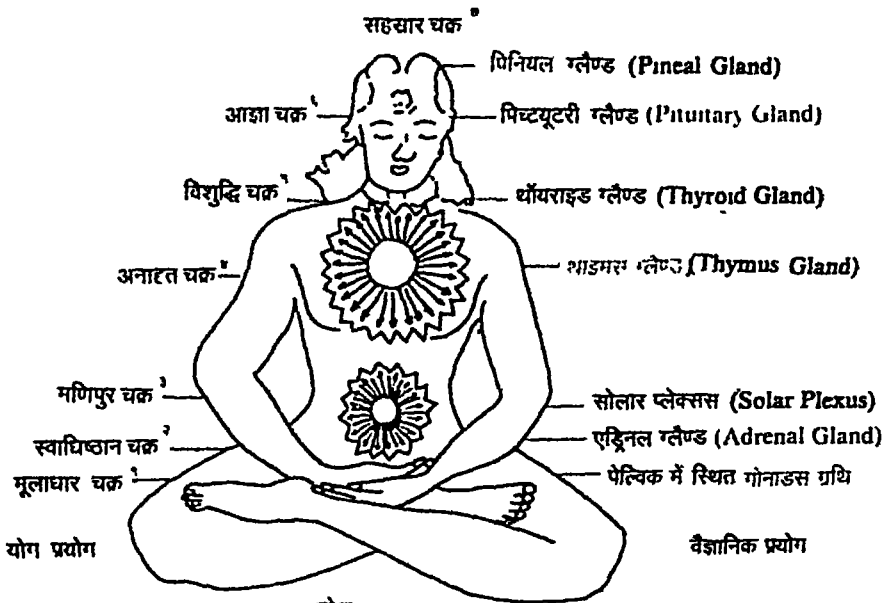
जपयोग और मंत्रयोग का शरीर, इन्द्रियवृत्ति और मन पर प्रभाव

जप और मन्त्र का शरीर के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन्त्रोच्चार की आवश्यकतानुसार यदि जप होवे तो विक्षिप्त मन सुलीन हो जाता है। शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण से ध्वनि तरगे उत्पन्न होती है और आकाशीय प्रकपनो मे तीव्रता लाती हैं अत प्राथमिक भूमिका पर जप ही करना आवश्यक है। जप के तीन आयाम है—

१. भाष्य जप—अन्य जिसे सुन सके न अतिशीघ्र न अति विलम्बित किन्तु मध्यस्थ स्वरोच्चारण का निरोध करके बाह्य या आभ्यंतर रूप से यह जप होता है।

२. उपांशु जप—उपांशु जप अन्तर्जल्प से होता है। इसे अन्य कोई सुन नहीं सकता। इस जप से आंतरिक क्रियाशीलता की स्थिति होती है। जैसे कपड़े का मैल घर्षण से दूर होता है, बर्तन राख से, कचरा झाड़ू से स्वच्छ होता है।

३. मानस जप—मानस जप केवल मनोवृत्ति से ही किया जाता है वह स्वसंवेद्य होता है। इसे अजपाजाप भी कहते हैं, चित्त को एकाग्र करने का यह सरल उपाय है। इस जप से वृत्तियों का निरोध होता है।

जप शास्त्रों का निर्देश मातृका न्यास से निष्पन्न होता है। मातृका स्वयं ज्ञानशक्ति वाहिनी है। ज्ञानशक्ति का उन्मीलन कराने वाली वैखरी मध्यमा, पश्यन्ती और परा ये चार वाणी हैं।

१ वैखरी—व्यक्त अकारादि वर्ण - समूह

२ मध्यमा—मंत्र रूप

३ पश्यन्ती- अव्यक्तवाणी

४ परा—परम अव्यक्तवाणी

लगता है। आधि, व्याधि और उपाधि से समाधि प्राप्त होने लगती है। तनाव से मुक्त होने का, भौतिक इच्छाओ को परास्त करने का सहज उपाय है मत्र की साधना। स्मृति, कल्पना और चिन्तन के द्वार पर यदि मन्त्र शक्ति का पहरा है तो बहिर्मुखता से अन्तर्मुखता मे प्रवेश सहज होता है। मन्त्र अचिन्त्य शक्ति है। शब्दात्मक शक्ति से अर्थात्मक, अर्थात्मक शक्ति से भावात्मक और भावात्मक शक्ति से अचिन्त्यात्मक शक्ति होती है।

मन्त्र का पिडस्थ, पदस्थ रूपस्थ के रूप मे ध्यान होता है, रूपातीत ध्यान मे मन्त्र और साधक दोनो का अभेदीकरण हो जाता है। शब्द, ध्वनि और विद्युत ऊर्जा तीनो एक हो जाते हैं, तब मन्त्र की शक्ति जागृत होती है और मन्त्र जब रूपस्थ ध्यान से रूपातीत हो जाता है तब साधक शरीर के बाह्य आवरण से पर होकर सूक्ष्म शरीर मे प्रवेश करता है। आत्मा और शरीर का भेद ज्ञान होने का प्राथमिक माध्यम मन्त्र है, मन्त्र शक्ति सूक्ष्म ध्वनि है। यदि इन सूक्ष्म ध्वनि से बिना शस्त्र ऑपरेशन हो सकते हैं, हीरे जैसा कठोर रत्न काटा जाता है, पारे और पानी का मिश्रण हो सकता है, इत्यादि अनेक कार्य ध्वनि से होते हैं तो मन्त्र शक्ति की ध्वनि से भेदज्ञान की प्राप्ति होना सहज है। मन्त्रो मे नमस्कार महामन्त्र आगम मे चौदह पूर्व का सार माना जाता है। इसी मन्त्र के प्रयोग से साधक अयोग साधना को सफल करने मे समर्थ होता है।

आकृति न. १८
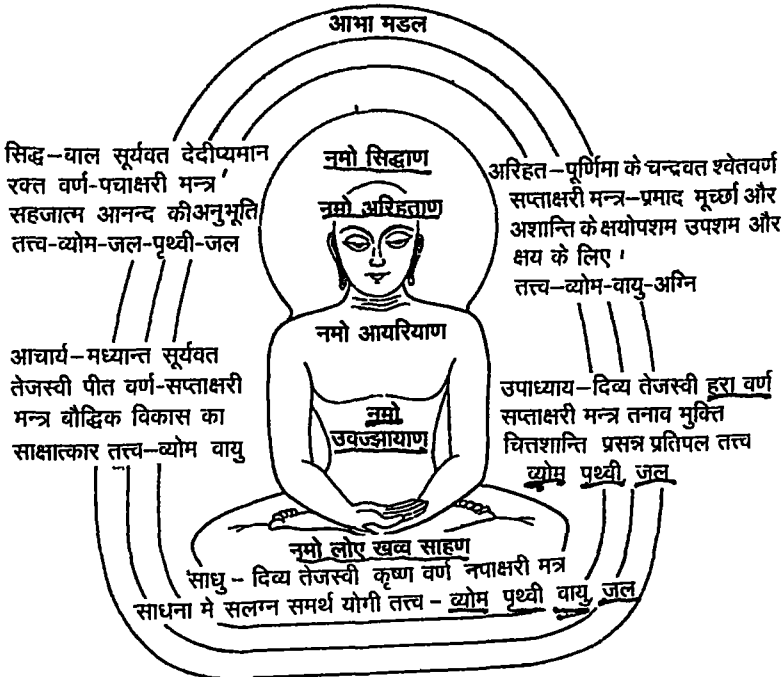
मंत्र जागृति

अर्हत–कर्ण से नमस्कार मन्त्र की ध्वनि सुनकर दिव्य श्रवण की जागृति।

सिद्ध–ऑखो से नमस्कार मन्त्र का पान कर दिव्य दर्शन की जागृति।

आचार्य–नाम से पचाचार की पवित्र सुगध फैलाकर दिव्य सुगध की जागृति।

उपाध्याय–जिह्वा से सत्य पीयूष रस पान कर दिव्य रस की जागृति।

साधु–स्पर्श से सम्पूर्ण जगत मे शुभ परमाणु का दिव्य भाव-स्पर्श की जागृति।

कुण्डलिनी योग

जैनागमो मे कुण्डली शब्द का प्रयोग तेजोलेश्या के नाम से प्रसिद्ध था। उत्तरवर्ती साहित्यो मे इसका प्रयोग भिन्न-भिन्न शब्दो मे पाया जाता है। जैसे सिद्धमातृकाभिधर्म प्रकरण मे इसे शक्ति, पराकुडलिनी तथा भक्ति कहा है।

अध्यात्म मातृका मे नागिणी, बहुरूपिणी, जोगिणी आदि शब्दो से भी प्रसिद्ध है। गुणस्थान क्रमारोह मे प्राणशक्ति, कला आदि और योगप्रदीपिका ग्रथ मे कुटिलोगी, भुजगी, ईश्वरी, अरुधती तथा कलावती अर्थ मे प्रयुक्त हुई है। सिद्ध सिद्धान्त पद्धति मे पवण, गुदनाला, नलिनी, सर्पिणी, बकनाली, क्षया सौरी, कुडला इत्यादि रूप मे मिलती है किन्तु भलि शब्द का प्रयोग सभी साहित्य मे मिलता है।

हमारे स्थूल शरीर मे सूक्ष्म शरीर सम्पूर्ण स्थान पर व्याप्त है। सूक्ष्म शरीर मे विद्युत, प्रकाश और ताप तीनो शक्तियॉ विद्यमान हैं। इसे तैजस शरीर कहते हैं। यह शरीर सूक्ष्म होने से अदृश्य होता है, ज्ञान, ध्यान, तप, सयम, वैराग्य आदि द्वारा इस शरीर का विकास होता है उसे तेजोलेश्या या तेजोलब्धि कहा जाता है। जो कार्य कुडलिनी जागृत होने पर होता है वही कार्य तैजसशरीर, तेजोलेश्या या तेजोलब्धि का होता है। तपोजनित तैजस शरीर मे अनुग्रह और निग्रह करने की शक्ति प्रकट होती है। इस शक्ति के प्रयोग को जैन दर्शन मे तैजस समुद्घात कहते हैं।

जब मन्त्र का ध्यान किया जाता है, तब गात्र मे कम्पन का अनुभव होना चाहिये। कपन शक्ति के सक्रिय होने पर हुआ करता है, और उस कपन मे "दिव्यानन्द की लहरे" पवाहित होती हुई अनुभव मे आती है जिससे सिर मे "आत्मानन्द की मस्ती प्रदान करने वाला नशा-सा चढ जाता है। मन्त्र चैतन्य का अर्थ मन्त्र प्रयोग द्वारा शक्ति का जागरण कही समझना चाहिये। कुण्डलिनी शक्ति के जागने पर शरीर की जडता, आलस्य, भारीपन इत्यादि दोप तत्क्षण दूर हो जाते हैं और वह परमात्मा के अनुग्रह का पात्र हो जाता है।

तेजोलेश्या (कुडलिनी) को प्राप्त करने वाला साधक शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक तीनो प्रकार से सहज आनन्द की अनुभूति पाता है। अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि होने का प्रमाण जब साधक भावात्मक रूप से जिस (मैगनेटिक फील्ड) क्षेत्र का निर्माण करता है वही क्षेत्र जागृत हो जाता है। उस क्षेत्र को ही चक्रस्थान कहा जाता है। इस प्रकार कुण्डलिनी कहो, तैजस शरीर कहो या तैजस लब्धि कहो एक ही है, भिन्न नहीं उसी से वृत्तियाँ शान्त होती हैं और ज्ञान जागृत होता है।

कोष्ठक नं. २६

विभिन्न दर्शनों में कुण्डलिनी शक्ति विभिन्न नाम से प्रसिद्ध है—

क्रमांक	दर्शन का नाम	कुण्डलिनी के पारिभाषिक शब्द
१.	शाक्त दर्शन	शक्ति
२.	शैव दर्शन	चिति
३.	योग दर्शन	कुण्डलिनी
४.	सांख्य	प्रकृति परा प्रकृति
५.	पाराशर	ब्रह्म
६.	बौद्ध	बुद्धि, तारा
७	जातिवादी	निरुपाधि महासत्ता
८.	द्रव्यवादी	उपाधिरहित केवल
९	सूर्यपूजक	महाराज्ञी
१०	चार्वाक	आज्ञा
११	पाशुपत	शान्ता
१२	ब्रह्म उपासक	श्रद्धा
१३	वेदान्ती	गायत्री
१४	वज्ञनन	मोहिनी

कोष्ठक नं. २७

मले कुडलिनी का प्रतीक जो जैन ग्रन्थो के प्रारम्भ मे प्रतीत होता है वह निम्नानुसार है—

अनु-क्रम सख्या	ग्रथ क्रमाक	ग्रथ का नाम	केटलोग, प्रतीक प्रयोग पृष्ठ का आलेखन
१	४४९	निशीथसूत्र चूर्णिविशोदेशक व्याख्या	२३

२	४३४	निशीथ सूत्र निसीह सुत	२
३	५१९	कल्पसूत्र कल्पमञ्जरी सहित	१२७
४	४३६	निशीथ सूत्र	४
५	४४३	निशीथसूत्र विशेष चूर्णि निसीह सुत्त विशेष चुण्णि	१६
६	४७९	दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र दसासुयव स्कन्धसुत्त	६१
७	४८१	दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र	६३
८	५०५	सन्देहविषौषधि कल्पसूत्र पजिका	९५
९	४९८	कल्पसूत्र	८३
१०	५१२	कल्पसूत्र कल्पकिरणावली सहित	१११
११	४६२	व्यवहार सूत्र ववहार सुत्त	३८
१२	५१६	कल्पसूत्र कल्पदीपिका सहित	११८

सहायक ग्रन्थों की सूची

अतकृतदशाग सूत्र — आगम प्रकाशक समिति, ब्यावर ।

अध्यात्मोपनिषद — उपा यशोविजय गणि प्रणीत
प्रका केशरबाई ज्ञान भण्डार
वि स १९४४

अध्यात्म मत परीक्षा — उपा यशोविजयजी कृत
श्री जैन आत्मानद सभा
भावनगर ।

अध्यात्म सार — मुनि चद्रशेखर विजयजी कृत
कमल प्रकाशन
अहमदाबाद-७

अनगार धर्मामृत — प सूबचन्द्र
सोलापुर
वि स १९२७

अनुयोगद्वार सूत्र — ब्यावर प्रकाशन

अनुयोगद्वार सूत्र
[हेमचन्द्रसूरि वृत्ति] — मणीलाल करमचद ज्ञान मदिर
वि स १९९५

अनुत्तरोपपातिक सूत्र — स्व पू घासीलालजी महाराज
श्री व स्था जैन शास्त्रोद्धारक समिति
राजकोट वि स १९४८

अभिधान चितामणि कोष — हेमचन्द्राचार्य विरचित
प्रका जशवतलाल गिरधरलाल शाह
अहमदाबाद-१
वि स २०१३

अभिधान राजेन्द्र कोष — विजयराजेन्द्रसूरि विरचित
अभिधान राजेन्द्र प्रचारक सभा
रतलाम ।
१९३४

अल्प परिचित सैद्धान्तिक शब्द-कोष	आचार्य श्री आनन्दसागरसूरि देवचन्द लालमानी पुस्तकोद्धारक वि स .२०१०
Dr. Albert Einsteinibid अष्ट पाहुड	आचार्य कुदकुदाचार्य विरचित - दिगम्बर जैन ग्रथमाला बम्बई-३ वि स २४९७
आचाराग सूत्र	
आचाराग सूत्र	प भद्रबाहु कृत निर्युक्ति शीलाकाचार्य वृत्ति सहित साहित्य प्रचारक समिति बम्बई वि स १९९१
आदि पुराण	स पडित पन्नालाल जैन साहित्याचार्य भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशक काशी वि स १९६३
आनन्दधन चौबीसी	
आवश्यक सूत्र निर्युवित-चूर्णि	हारेभद्रसूरि कृत वृत्ति भद्रबाहुस्वामी निर्युक्ति देवचद लालभाई पुस्तकोद्धार सूरत सन् १९६५
आवश्यक सूत्र	मलयगिरी कृत वृत्ति भद्रबाहु स्वामी निर्युक्ति आगमोदय समिति सन् १९२८
उत्तराध्ययन निर्युक्ति चूर्णि	श्री भद्रबाहुस्वामी सकलित देवचद लालभाई श्री जैन साहित्य· विकास मडल बम्बई ।
उत्तराध्ययन सूत्र	अनु आत्माराम जी महाराज लुधियाना प्रकाशन

उववाई सूत्र	अभयदेव कृत वृत्ति सहित आगम सग्रह कलकत्ता सन् १९८०
औपपातिक सूत्र	अभयदेवसूरि विहित द्रोणाचार्य वृत्ति निर्णयसागर प्रेस बम्बई वि स १९७२
कर्मग्रंथ	देवेन्द्रसूरि विरचित सपा श्रीचन्द सुराना 'सरस' मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति ब्यावर ई स १९७४
कर्म प्रकृति	शिवशर्मसूरि कृत अध्यात्म ज्ञान प्रसारक सभा ई सन् १९२०
कल्प सुबोधिका सटिक	उपा विनयविजयजी महाराज प्रकाशक मेधजी हीरजी जैन बुकसेलर
कार्तिकेयानुप्रेक्षा	श्रीमद् राजचद्र आश्रम आगास वि स २०१६
काललोक प्रकाश	उपा विनयविजयजी विरचित जैन प्रचारक सभा भावनगर ई स १९३४
गच्छाचार पयन्ना टीका	
गोम्मटसार जीवकाण्ड	अनु खूबचन्द्र शास्त्री परमश्रुत प्रभावक मडल बम्बई-१९२७
चन्द्र प्रज्ञप्ति सूत्र	आगम प्रकाशन समिति ब्यावर
चतुर्विंशति स्तुति	देवचदजी कृत प्रकाशक जिनदत्त सूरि सेवा सघ बम्बई ।

चारित्राचार	महावीरजी प्रसारक सस्था वि २४८८
चेइअ-वंदण-महाभास	
जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा	देवेन्द्रमुनि शास्त्री श्री तारक गुरु जैन ग्रथालय उदयपुर (राजस्थान)
जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका	डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रथमाला वाराणसी
तत्वानुशासन	सपा जुगलकिशोर मुख्तार. वीर सेवा मदिर ट्रस्ट ई स १९६३
तत्त्वार्थराजवार्तिकम	भद्रअकलकदेव विरचित भारतीय ज्ञानपीठ बनारस सन् १९४४
तत्त्वार्थ सूत्र	उमास्वाति प्रणीत विवेचक पडित सुखलालजी सानुवाद प्रकाशक गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद स १९८६
तप अने योग	नगीनदास गिरधरलाल सेठ जैन सिद्धान्त सभा बम्बई-७ सन्. १९६४
दशवैकालिक सूत्र	स मुनि पुण्यविजयजी दलसुख मालवणिया भारतीय सस्कृत विद्या मदिर अहमदाबाद-९
दशाश्रुत स्कध	पू आत्माराम जी महाराज लुधियाना प्रकाशन

द्रव्य सग्रह	देहली प्रचारक सस्था ई १९५३
द्रव्य सग्रह सटिक	जैन हितैषी पुस्तकालय बम्बई ई सन् १९१५
द्वात्रिशत-द्वात्रिशिका	सपादक—धुरधरविजयजी, जबुविजयजी एव तत्वानद विजयजी म सा जैन साहित्य विकास मडल बम्बई-५६ वि स २०१९
धर्म सग्रह टीका	उपा श्री विजय प्रणीत पन्यास श्री आनन्दसागर वि स १९७१
धवला पुस्तक	पुष्पदत भूतबलि डॉ हीरालाल जैन सपादित—अमरावती वि स १९९६
ध्यान विचार	जैन साहित्य विकास मडल विले पारले, बम्बई वि स २०१७
ध्यान शतक	सपा हरिभद्रसूरिकृत प्रकाशक—दिव्यदर्शन कार्यालय अहमदाबाद वि स २०२८
नमस्कार स्वाध्याय	जैन साहित्य विकास मडल बम्बई वि स २०१७
नदी सूत्र	श्री देववाचक श्रमाश्रमण [मलयगिरि वृत्ति] आगमोदय समिति सूरत वि स १९८०

नियमसार	आचार्य कुन्दकुन्द
	सोनगढ (गुजरात)
	वि स २५०३
निशीथ चूर्णि	सपा उपा अमरमुनि, मुनि कन्हैयालाल
	"कमलमुनि"
	सन् १९५७-६०
पचास्तिकाय	परमश्रुत प्रभावक मडल
	बम्बई
	वि १९७२
पचास्तिकाय वृत्ति	परमश्रुत प्रभावक मडल
	बम्बई
पच संग्रह (प्राकृत)	भारतीय ज्ञानपीठ काशी
	बनारस ई सन् १९६०
पच सग्रह (सस्कृत)	श्रीचन्द्रमहत्तराचार्य विरचित
	मलयगिरी वृत टीका सहित
	जैन श्रेयस्कर मडल
	महेसाणा
	सन् १९७१
पच स्त्रोत सग्रह	सपा प पन्नालाल शास्त्री
	प्रकाशक—वीरेन्द्रकुमार देवचन्द्र जैन
	सन्मति सागर कुटीर
	बम्बई
	वि १९७२
पद्मनदि पचविशतिका	जीवराज ग्रथमाला
	ई १९३२
परमात्म प्रकाश	योगीन्दु देव विरचित
	परमश्रुत प्रभावक मडल
	बम्बई
पंजीका टीका	दिव्यदर्शन साहित्य समिनि
	अहमदाबाद
पातजल योगदर्शन	जेठालाल जीवनलाल गॉधी
	अहमदाबाद- १

पातंजल योगदर्शन — उपा यशोविजयजी कृत

पाईअ-सद्-महण्णवो — प हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द सेठ
प्राकृत ग्रन्थ परिषद
वाराणसी-५
ई सन् १९६३

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय — अजितप्रसाद कृत
अजिताश्रम, लखनऊ
ई सन् १९२३

प्रशमरति प्रकरण — उमास्वाति विरचित
सपा —प राजकुमार साहित्याचार्य
परमश्रुत प्रभावक मडल
बम्बई-ई स १९५०

प्रवचन सार — कुदकुदाचार्य देव प्रणीत
अनु हिमतलाल जेठालाल शाह
प्रकाशक-जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट
सोनगढ ई स १९४८

प्रतिक्रमण सूत्र — जैन सिद्धान्त ग्रन्थमाला
ई सन् १९५२

प्राकृत व्याकरण सस्कृत — आचार्य हेमचन्द्र प्रणीत
सपा रतनलाल सघवी
वि स २०२०

बृहद कल्पभाष्य — सधदासमणि वाचक
जैन आत्मा सभा
भावनगर
सन् १९३४

बृहद नयचक्र — माणिकचन्द्र ग्रथमाला
ई स १९७७

भक्तामर स्तोत्र — सपा प पन्नालाल शास्त्री सागर
प्रका वीरेन्द्र कुमार देवेन्द्र कुमार जैन
१३८, सन्मति कुटीर
कादावाडी—बम्बई-४

भगवती आराधना — सखाराम दोशी
सोलापुर
ई १९३५

भगवती सूत्र — पू आत्मारामजी महाराज
लुधियाना प्रकाशन

भगवती सूत्र वृत्ति सहित — श्री अभयदेवसूरि विरचित
केशरीमलजी श्वे सस्था
रतलाम वि स १९६

भण्डारकर लेख संग्रह — डॉ आर जी भण्डारकर

भारतीय इतिहास एक दृष्टि — डॉ ज्योति प्रसाद जैन
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
काशी
वि स १९६६

भोज वृत्ति — अजमेर-१९३१

महानिशीथ सूत्र — हस्तलिखित प्रति
प्राच्य विद्या मन्दिर
बडोदरा

महापुराण — आचार्य जिनसेन कृत
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
१९५१

योगदिपक — बुद्धिसागर कृत
अध्यात्मज्ञान प्रसारक मडल
बम्बई
वि स १९६८

योगदृष्टि समुच्चय — हरिभद्रसूरि विरचित
मनसुखभाई ताराचद महता
बम्बई-१
वि स २००६

योगबिन्दु — हरिभद्रसूरीश्वर कृत
बुद्धिसागर सूरि ज्ञान मदिर
बिजापुर

योगविन्दु सटीक	हरिभद्रसूरि विरचित जैन प्रसारक सभा भावनगर वि स १९६७
योगविशिका	बुद्धिसागरसूरि ज्ञान मदिर बिजापुर
योगशतक	सपा इदुकला हीराचन्द झवेरी गुजरात विद्या सभा अहमदाबाद
योगशास्त्र	आचार्य श्री हेमचन्द्राचार्य जैन साहित्य विकास मडल बम्बई ई- स १९५९
योगशास्त्र वृत्ति	हेमचन्द्राचार्य प्रकाशक जैन प्रसारक सभा वि स १९८२
योगसार	ए के दोशी सपा जैन साहित्य विकास मडल बम्बई
योगसार सग्रह	विज्ञान भिक्षु थिओसोफिकल पब्लिक हाउस ई स १९३३
रत्नकरड श्रावकाचार	समतभद्र पका माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रथमाला बम्बई
राजवार्तिक	भारतीय ज्ञानपीठ बनारस वि स २००८
ललित विस्तरा	हरिभद्राचार्य प्रणीत जैन एसोसिएशन ऑफ इडिया अहमदाबाद स १९९०

लोगस्स सूत्र स्वाध्याय	जैन साहित्य विकास मडल बम्बई वि स १९६५
वीतराग स्तव	हेमचन्द्राचार्य विरचित श्री राजचन्द्र विद्याभ्यास मडल ई स १९६५
विशेषावश्यक भाषातर	हेमचन्द्राचार्य कृत आगमोदय समिति बम्बई सन् १९२७
श्लोक वार्तिक संस्कृत टीका	कुथुसागर ग्रंथमाला सोलापुर १९४९-१९५६
स्थानांग सूत्र	पू आत्मारामजी महाराज लुधियाना प्रकाशक वि स २०३२
स्थानांग सूत्र टीका	अभयदेवसूरि विरचित
स्थानांग सूत्र वृत्ति	सुधर्म स्वामी आगमोदय समिति वि स १९७६
समयसार	अहिसा मदिर प्रकाश देहली-१९५८
समयसार कलश	आचार्य अमृतचन्द्र सूरि विरचित प्रका—दिगबर जैन स्वाध्याय मदिर सोनगढ (सौराष्ट्र)
समवायांग सूत्र टीका	अभयदेवसूरि विरचित आगमोदय समिति वि स १९७४
समाधि तन्त्र	पूज्यपाद स्वामी विरचित दिगबर जैन स्वाध्याय मदिर सोनगढ वि स २०२२

सर्वार्थसिद्धि	भारतीय ज्ञानपीठ बनारस ई १९५५
सामायिक सूत्र	जैन सिद्धान्त सभा बम्बई-७
सिद्ध सिद्धान्त पद्धति	गोरक्षनाथ पूना ओरिएन्टल बुक हाउस वि स १९५४
सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन	आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि जैन ग्रथ प्रकाशक सभा अहमदाबाद वि स २००७
सूत्रकृताग सूत्र	शामजी वेलजी विराणी दीवानपरा, राजकोट
सूत्रकृताग सूत्र टीका	शीलाकाचार्य विरचित
षट्खण्डागम	सपा एच एल अमरावती
षोडशक प्रकरण टीका	हरिभद्रसूरिश्वर विरचित जैन उपाश्रय अहमदाबाद ई स १९५२
हेमचन्द्र धातुमाला	गुणविजय जैन ग्रथ प्रकाशक सभा अहमदाबाद १९३०
ज्ञानार्णव	श्री शुभचन्द्राचार्य परमश्रुत प्रभावक मडल बम्बई